CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हिन्दी साहित्य का इतिहास

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

CC-0. Dr. Urmila Sharma Collection, Jaipur. eGangotri

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दी साहित्य का इतिहास

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

© डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

चौदहवाँ संस्करण
१९८१

मूल्य : १६·५०

पियरलेस प्रिन्टर्स
१, बाई का बाग
इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वक्तव्य

इस पुस्तक के लिखे जाने का उद्देश्य बहुत सीधा-सादा है—हिन्दी साहित्य के पाठकों को इतिहास-सम्बन्धी अनेक प्रामाणिक, अर्द्ध-प्रामाणिक और अप्रामाणिक दुरूह समस्याओं से बचाकर उनके सम्मुख इतिहास की आदि से लेकर आधुनिक काल तक की प्रमुख-प्रमुख विशेषताएँ बोधगम्य रूप में रखना। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में प्रायः कवि-नामावलि, तिथियों, दुरूह समस्याओं आदि का इतना जमघट है कि सामान्य पाठक उनमें उलझकर न केवल अनेक सौन्दर्यपूर्ण और कलात्मक स्थानों को ही नहीं पहिचान पाते, वरन् उससे उनके दिमाग पर अनावश्यक बोझ पड़ता है और विषय नीरस हो जाता है। ये ऐसी बातें हुआ करती हैं जिनका एक सामान्य पाठक के लिए कोई महत्त्व नहीं। प्रस्तुत लेखक ने इतिहास-ग्रंथों में उपलब्ध ऐसी अनेक अनावश्यक बातें बचाने की भरसक चेष्टा की है। साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों से पाठकों को परिचित कराना उसका मुख्य उद्देश्य है। विषय को अधिक-से-अधिक रोचक और साथ ही पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। आशा है, हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक में तिथियाँ ईसवी सन् के अनुसार हैं। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है।

जिन विद्वानों की कृतियों से लेखक को सहायता प्राप्त हुई वह उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चौदहवें संस्करण के सम्बन्ध में वक्तव्य

प्रस्तुत इतिहास का हिन्दी साहित्य के पाठकों ने जिस रूप में स्वागत किया, उससे लेखक अपने को सम्मानित और साथ ही प्रोत्साहित हुआ समझता है, जिसके फलस्वरूप अब यह चौदहवाँ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मैं हिन्दी साहित्य के पाठकों का हृदय से आभारी हूँ।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

१. हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति

भूगोल का महत्त्व—हिन्दी प्रदेश की स्थिति—पर्वत-शृङ्खला—हिन्दी प्रदेश और समुद्र—विंध्य-मेखला—मरुभूमि—उपजाऊ मैदान—नदियाँ—जलवायु। ९-१४

२. साहित्य और भाषा की उत्पत्ति

साहित्य की उत्पत्ति—साहित्य की परिभाषा—भाषा की उत्पत्ति—भाषा की परिभाषा—बोली, विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा—ध्वनियाँ। १५-२६

३. हिन्दी भाषा और लिपि

'हिन्दी' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ—'हिन्दी' शब्द का प्रयोग तथा हिन्दी प्रदेश—संसार की भाषाओं में हिन्दी—भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास—आधुनिक आर्य-भाषाएँ और उनका वर्गीकरण—हिन्दी भाषा—हिन्दी की बोलियाँ—हिन्दी शब्द-समूह—लिपि—लिपि-सुधार—अङ्क। २७-४१

४. अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध

काव्य-रूप, शैली तथा छंद—विषय—विचार-धारा—निष्कर्ष। ४२-४९

५. हिन्दी साहित्य की सामग्री और काल-विभाजन

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन—अध्ययन करने के दो साधन : अन्तः साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य—काल-विभाजन और उसका आधार। ५०-६०

६. आदि काल (९४३-१३१८)

आदि काल की पीठिका : राजनीतिक—धार्मिक—सामाजिक—आदिकालीन सामग्री—धार्मिक साहित्य : (अ) जैन साहित्य—जैन साहित्य की विशेषताएँ—(आ) सिद्ध-साहित्य—(इ) नाथ-साहित्य—धार्मिक साहित्य की विशेषताएँ—लौकिक साहित्य : डिंगल या वीरगाथा साहित्य—वीरगाथा साहित्य के प्रमुख कवि : ब्रह्मभट्ट—नरपति—नाल्ह : 'वीसल देव रास'—चन्द बरदाई : 'पृथ्वीराज रासो'—जगनिक : 'आल्ह खण्ड'—अन्य कवि—वीरगाथा साहित्य की विशेषताएँ—आदि काल का महत्त्व—अमीर खुसरो—मुल्ला दाऊद। ६१-१०८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७. मध्य काल (१३१८-१८४३)

(१) पूर्व-मध्य काल या भक्ति काल (१३१८-१६४३)

मध्य काल की पीठिका : राजनीतिक—धार्मिक—सामाजिक—मध्ययुग का महत्त्व—भक्ति-आन्दोलन का जन्म : सगुण और निर्गुण—निर्गुण : सन्त-मत—सूफ़ी-मत—सन्त-काव्य—कबीर—अन्य सन्त कवि—सन्त साहित्य की विशेषताएँ—प्रेम-काव्य—सूफ़ी-काव्य-परम्परा—जायसी—'पद्मावत'—जायसी की विशेषताएँ—जायसी के बाद प्रेम-काव्य-परम्परा प्रेम—काव्य की सामान्य विशेषताएँ—राम-काव्य—तुलसीदास—तुलसीदास की जीवनी—तुलसीदास की रचनाएँ—तुकसीदास का महत्त्व—तुलसीदास के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार—केशवदास—राम-भक्ति में परिवर्तन—कृष्ण-काव्य—पुष्टिमार्ग और अष्टछाप—विद्यापति—सूरदास—सूर की रचनाएँ तथा विषय—सूर का साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व—नन्ददास—हितहरिवंश—मीराँ—रसखान—नरोत्तमदास—रहीम—सेनापति—कृष्ण-काव्य का महत्त्व। १०९-१८०

८. मध्य काल की पाँचवीं भक्ति-धारा : प्रणामी साहित्य (१७वीं-१८वीं शताब्दी)

उपास्य-कथा : नया स्वरूप—धर्मग्रन्थों में समन्वय—राजनीतिक-दर्शन—सामाजिक दर्शन—राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में योगदान—रस तथा अनुभूति—छन्द—प्रणामी गद्य-साहित्य—साहित्यिक निधि—महामति प्राणनाथ के पत्र—अन्य प्रणामी साहित्य। १८१-१९८

९. उत्तर-मध्य काल

(२) उत्तर-मध्य काल या रीति और शृङ्गार काल (१६४३-१८००)

रीति-काल की पीठिका—रीति-शृङ्गार साहित्य का जन्म—रीति काल के प्रमुख कवि : चिन्तामणि त्रिपाठी—महाराज जसवन्तसिंह—बिहारी—मतिराम—भूषण—देव—भिखारीदास—पद्माकर—अन्य कवि—आलम—घनानन्द—ठाकुर—बोधा—अन्य रचनाएँ—खड़ीबोली गद्य—रीति काल की विशेषताएँ। १९९-२२३

१०. ब्रिटिश काल (१८००-१९४७)

अँगरेजी राज्य की स्थापना और आधुनिक युग—शासन-सम्बन्धी तथा अन्य सुधार—धार्मिक एवं सामाजिक चेतना—नवीन शिक्षा—प्रेस तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कार—नवोत्थान—आर्य समाज—थियोसोफीकल सोसायटी—राजनीतिक चेतना—भाषा—बीसवीं शताब्दी—ब्रिटिशकालीन-साहित्य की रूपरेखा—उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध : गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक—गद्य और नवीन शिक्षा—गद्य और ईसाई पादरी—गद्य और पत्रकार-कला—उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध—नवीन साहित्यिक रूप और लेखक—उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रमुख शैलीकार : राजा लक्ष्मणसिंह—राजा शिव-प्रसाद—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—लाला श्रीनिवासदास—बालकृष्ण भट्ट—प्रतापनारायण मिश्र—राधाकृष्णदास—स्वामी दयानन्द सरस्वती—'प्रेमघन'—अन्य—बीसवीं शताब्दी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विवेदी युग—बीसवीं शताब्दी के कुछ प्रमुख शैलीकार—महावीरप्रसाद द्विवेदी—माधव मिश्र—गोविंदनारायण मिश्र—बालमुकुन्द गुप्त—पूर्णसिंह—पद्मसिंह शर्मा—गणेश-शंकर विद्यार्थी—चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'—अयोध्यासिंह उपाध्याय—प्रेमचन्द—सुदर्शन—श्यामसुन्दर दास—रामचन्द्र शुक्ल—वियोगी हरि—'प्रसाद'—महादेवी वर्मा—हजारी-प्रसाद द्विवेदी—राय कृष्णदास—आधुनिक गद्य साहित्य के विविध रूप : उपन्यास : उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी—कहानी : जन्म और परिभाषा—आख्यायिका, उपाख्यान, रेखाचित्र, 'रिपोर्ताज'—कहानी और उपन्यास—कहानी, एकांकी और नाटक—कहानी, कविता और निबन्ध—हिन्दी में कहानी—प्रमुख कहानीकार : प्रेम-चन्द—सुदर्शन—'प्रसाद'—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—'कौशिक'—'उग्र'—चतुरसेन शास्त्री—राय कृष्णदास—जैनेन्द्रकुमार—अन्य कहानी-लेखक—नाटक—समस्या नाटक—एकांकी नाटक : जन्म और विकास—एकांकी—एकांकी रचना-पद्धति—एकांकी, नाटक और फैंटेसी—निबन्ध—जीवनी-साहित्य—पत्र-पत्रिकाएँ—समालोचना—काव्य : उन्नीसवीं शताब्दी : प्राचीन परम्परा : ब्रजभाषा काव्य—नवीन परम्परा : ब्रजभाषा और खड़ीबोली—बीसवीं शताब्दी : खड़ीबोली काव्य और उसकी नवीनताएँ—नवीन काव्य की विशेषताएँ—मैथिलीशरण गुप्त—बीसवीं शताब्दी : ब्रजभाषा काव्य—नवीन काव्य की प्रवृत्तियाँ—छायावाद-रहस्यवाद—कुछ प्रमुख छायावादी-रहस्यवादी कवि : 'प्रसाद'—पंत—'निराला'—महादेवी—'दिनकर'—अन्य कवि—प्रगतिवाद।

२२४-३२६

११. स्वतन्त्रता काल (१९४७—)

नाटक—आलोचना—उपन्यास—कहानी—कविता—नवगीत—अगीत—अकविता। ३२७-३६१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक | हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति

भूगोल का महत्त्व

मानव-सभ्यता का इतिहास हमें यह बताता है कि भोगोलिक परिस्थितियों एवं वातावरण की क्रिया-प्रक्रिया से उत्पन्न शक्ति ने बहुत-कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ निर्धारित की हैं। यह शक्ति मनुष्य-जीवन की मूल प्रेरक शक्ति रही है। यह ठीक है कि मनुष्य ने अपने बुद्धि बल के आधार पर अनेक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की है अथवा वह उन्हें सीमित बनाने में सफल हुआ है, किन्तु अपने चारों ओर के भौगोलिक बन्धन से वह अपने को अब भी, आज के घोर वैज्ञानिक युग में भी सर्वथा मुक्त कर सका हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण मानव-जाति ने दुर्दिन और सुदिन दोनों ही देखे हैं। उनका मनुष्य के जीवन संग्राम, भावों और विचारों पर प्रभाव पड़ा है, और भारतीय इतिहास और संस्कृति ने जितना भौगोलिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं किया। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही बाहर से अनेक जातियाँ देश में आईं, अथवा भौगोलिक परिवर्तनों के कारण अन्य देशों से साम्य रखने वाली जातियाँ यहाँ पाई जाती हैं और उन सबकी विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ है। भारतीय संस्कृति कोल, द्रविड़, आर्य:आदि अनेक जातियों की देन है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं हैं कि भारतवर्ष में हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के कारण देश के इतिहास में उतार-चढ़ाव रहा है। हिन्दी प्रदेश एक प्रकार से भारतीय सभ्यता और संस्कृति की लीला-भूमि है। भाषा, साहित्य, इतिहास, राजनीति सभी दृष्टियों से उसका केन्द्र यहीं रहा और यहीं से सब बातें विभिन्न रूप धारण कर देश के कोने-कोने में फैलीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आधुनिक काल में भी उसके इस गौरवपूर्ण स्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

हिन्दी प्रदेश की स्थिति

भारतवर्ष एक विशाल महाद्वीप है, जिसके तीन बड़े-बड़े भाग किए जा सकते हैं। पहला भाग तो वह है जिसे हिमालय नाम से अभिहित किया जाता है और जो देश के उत्तर में एक छोर से दूसरे छोर तक फैला हुआ है। इसके दक्षिण में गंगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और सिंधु के मुहानों के बीच का विशाल उपजाऊ मैदान है। उसके नीचे दक्षिण भारत का पठार है (दक्खिन)। इन तीन प्रधान भागों में से हिन्दी प्रदेश विशाल उपजाऊ मैदान का एक बहुत बड़ा मध्य और प्रधान भाग है। 'हिन्दी' अपने व्यावहारिक अर्थ में इसी मध्य-भाग की वर्तमान साहित्यिक भाषा तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे सम्बन्धित प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में प्रयुक्त नाम है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी अर्थ में किया जाता है। इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिण भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती हैं।

पर्वत-शृंखला

हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पर सबसे अधिक प्रभाव उत्तर की पर्वत-मालाओं का पड़ा है, जो हिन्दी प्रदेश को एशिया के अन्य भागों से अलग करती हैं। प्राचीन काल में पर्वत-शृङ्खला लाँघी न जा सकने के कारण उसके दोनों ओर के निवासियों में पारस्परिक सम्पर्क बना रहना एक प्रकार से असंभव था। भारत के उत्तर की यह पर्वत-माला हर जगह से तो नहीं, किन्तु कई स्थानों से पार की जा सकती थी, उदाहरण के लिए, सुलेमान गिरि-शृङ्खला (अब पाकिस्तान में) से। भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश (अब पाकिस्तान में) यह गिरि शृङ्खला काफी ऊँची है, किन्तु इतनी ऊँची नहीं है कि पार न की जा सके। उसमें बोलन और खैबर के दो प्रसिद्ध दर्रे हैं जिनका भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बड़ा महत्त्व रहा है। इनमें से खैबर का दर्रा पार करना अधिक कठिन नहीं रहा। इसलिए अँगरेजों के भारतागमन से पूर्व यही दर्रा मध्य एशिया और भारत के बीच आने-जाने का सुगम मार्ग था। बाहरी प्रबल आक्रमणकारी के एक बार इन मार्गों से सीमांत पार कर लेने पर उसके लिए हिन्दी प्रदेश तक बढ़े चले आने में कोई बाधा नहीं रह जाती थी। विशाल उपजाऊ और हरे-भरे मैदानों में वैसे भी अधिक आकर्षण रहता है। प्राचीन आर्य, ग्रीक, हूण, मुसलमान आदि सभी बोलन या खैबर के दर्रों से होते हुए भारतवर्ष आए और उन्होंने भाषा, कला, साहित्य, आचार-विचार, राजनीति, धर्म, समाज, इतिहास आदि सभी दृष्टियों से यहाँ के जीवन की गतिविधि निर्धारित की। भौगोलिक परिस्थिति का केवल एक यही अपवाद स्वरूप तथ्य भारतीय इतिहास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। हिन्दी भाषा का स्वरूप, वीर-गाथा साहित्य और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर मुसलमानों के साथ संपर्क स्थापित होने के फलस्वरूप पड़े प्रभाव के ज्वलंत उदाहरण हैं। मुसलमानों के भारतागमन से राजनीतिक क्षेत्र में न मालूम कितनी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। इन बातों के अतिरिक्त हिमालय का आर्थिक महत्त्व भी है। उसी के पानी से हिन्दी प्रदेश के उपजाऊ मैदान की सिंचाई होती है। साथ ही अपने अद्भुत सौंदर्य के कारण हिमालय विश्व विख्यात है। उसकी हिममंडित चोटियों और रमणीक प्राकृतिक दृश्यों ने प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय तक बड़े-बड़े

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कवियों और कलाकारों की कल्पना मुखरित की है। देश के दार्शनिक और पौराणिक साहित्य से भी उसका सम्बन्ध है। गङ्गा-यमुना के मूल उद्गमों की भाँति भारतीय चिंतन-पद्धति का उज्ज्वल प्रवाह भी वहाँ से प्रवाहित होता है।

हिन्दी प्रदेश और समुद्र

अँगरेज़ तथा अन्य यूरोपीय जातियों के आने पर देश के साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी, आर्थिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में फिर परिवर्तन उपस्थित हुआ। किन्तु ये जातियाँ उत्तर-पश्चिम सीमान्त के स्थल-मार्ग से न आकर जल-मार्ग से आई थीं। खैरुद्दीन बारबैरोसा (Khairudin Barbarosa) ने सुलतान सुलेमान महान् (Sultan Suleiman the Magnificent) से कहा था : 'He who rules on the sea will shortly rule on the land also'. भारतवर्ष का आधुनिक इतिहास इस कथन की पूर्ण सत्यता प्रमाणित करता है। थल-मार्ग से आए हुए आक्रमणकारियों के फलस्वरूप देश में राजनीतिक परिवर्तन हुए, किन्तु वे यहीं बसकर देश के अंग बन गए। जल-मार्ग से आए हुए विजेताओं ने देश को जिस रूप में दासत्व की शृङ्खला में जकड़ा, वह रूप पहले कभी नहीं दिखाई देता। भारतवर्ष की जल-शक्ति मुसलमानों के आगमन के बाद क्षीण हुई, क्योंकि वे अपनी मध्य एशियाई रण-नीति ग्रहण किए रहे। फलतः ईसा की सोलहवीं शताब्दी में भारत की नाविक शक्ति क्षीण हो गई और हिन्द महासागर पर यूरोप-निवासियों (पुर्तगालियों) का अधिकार स्थापित होने लगा। कालान्तर में अनेक यूरोपीय जातियों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप अँगरेज यश के भागी हुए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक की उनकी भारत-विजय के पीछे नाविक शक्ति ही थी। यूरोप की उन जातियों में से अँगरेज़ अपनी उच्च कोटि की नाविक शक्ति और संलग्नता एवं अनुशासन के माध्यम द्वारा बङ्गाल के निचले हिस्से पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए। हिन्दी प्रदेश की पश्चिमी भौगोलिक परिस्थिति जिस प्रकार आक्रमणकारियों के मार्ग में कोई बड़ी रुकावट नहीं थी, उसी प्रकार उसका पूर्वी द्वार भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता था। मैसूर, मराठों और सिक्खों के विरुद्ध युद्धों में भी प्रकृति ने अँगरेज़ों के मार्ग में कोई रुकावट न डाली। अन्त में वे गङ्गा और सिन्धु घाटियों के कोने-कोने तक फैल गए। इस प्रकार हिन्दी प्रदेश सर्वप्रथम सुदूर-स्थित नाविक शक्ति द्वारा विजित हुआ। स्वेज नहर के खुल जाने के बाद और विविध वैज्ञानिक साधनों के माध्यम द्वारा विजेताओं को अपना शासन अधिकाधिक दृढ़ बनाने में बड़ी सहायता मिली। पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा कितने महान् राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए और उनके द्वारा यूरोपीय संस्कृति के साथ सम्पर्क स्थापित होने से हिन्दी प्रदेश का अलसाया हुआ जीवन जोर का धक्का खाकर एकदम उठ खड़ा हुआ और उसमें अनेक क्रान्तिकारी अच्छे या बुरे परिवर्तन हुए। जहाँ तक साहित्य से सम्बन्ध है परम्परागत, रूढ़िग्रस्त और शक्तिहीन एवं निष्प्राण काव्य-साहित्य के स्थान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर नए साहित्यिक रूपों और भावों तथा विचारों का प्रचार हुआ। भाषा ने अनेक यूरोपीय शब्द और अभिव्यंजनाएँ ग्रहण कर अपनी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया।

विन्ध्य-मेखला

हिन्दी प्रदेश के दक्षिण में विन्ध्य-मेखला है। प्राचीन काल से उसके बीच के रास्तों का बड़ा सामरिक और व्यावहारिक महत्त्व रहा है। जङ्गलों और बीहड़ स्थल मार्ग के कारण यह मेखला अलंघ्य नहीं रही। प्राचीन आर्यों ने इसे लाँघकर ही दक्षिण से सांस्कृतिक संपर्क स्थापित किया। भारतीय इतिहास के मध्य काल में गुजरात तथा दक्षिण के प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आक्रमणकारी सिन्ध प्रदेश के रास्ते से जाने के बजाय राजपूताना और मालवा होकर यह मेखला पार कर जाते थे। अठारहवीं शताब्दी में अनेक युद्ध विन्ध्य मेखला के अलंघ्य न होने के कारण हुए और हिन्दी प्रदेश के जीवन में अव्यवस्था और अराजकता का प्रचार हुआ। हिन्दी साहित्य में मध्युगीन वैष्णव आन्दोलन का जन्म विन्ध्य-मेखला के अलंघ्य न होने के कारण ही हो सका था। भूषण ने अपने चरित्र-नायक शिवाजी को लेकर जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं, वे हिन्दी के वीर साहित्य के इतिहास में एक सुन्दर विकास उपस्थित करती हैं। इसी प्रकार कवि लाल की रचनाएँ भी विन्ध्य-मेखला की भौगोलिक परिस्थिति के कारण सम्भव हो सकीं। साथ ही हिन्दी-भाषी मराठी भाषाभाषियों के संपर्क में आए और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा। हिन्दी प्रदेश में मराठों का शासन-काल बहुत दीर्घ और स्थायी न हो सकने के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य पर मराठी भाषा और साहित्य का जितना अधिक प्रभाव पड़ना चाहिए था, उतना न पड़ सका।

मरुभूमि

हिन्दी प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना की थर मरुभूमि है। प्राचीन काल से यह मरुभूमि सिन्ध प्रदेश पार कर आनेवाली आक्रमणकारी सेनाओं के रोकने में एक सफल साधन रही है। यदि यह मरुभूमि न होती तो संभवतः सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हिन्दी प्रदेश सिन्ध-विजेता मुसलमान आक्रमणकारियों के हाथ में चला गया होता। उस समय हिन्दी भाषा एवं साहित्य की प्राचीन गतिविधि क्या होती, इस सम्बन्ध में केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

उपजाऊ मैदान

उत्तर भारत का विशाल मैदान, जिसमें हिन्दी प्रदेश स्थित है, उत्तर में पहाड़ी शृङ्खला को छोड़कर, और सब तरफ से खुला हुआ, समतल और विस्तृत है। इस मैदान के एक छोर से दूसरे छोर तक लगातार लहलहाते खेतों की हरियाली है। जमीन इतनी उपजाऊ है कि 'कहीं एक छोटा-सा कंकड़ भी उसे कंटकित नहीं करता'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नदियों के बहुत बड़े जाल से उसकी सिंचाई होती है। इस मैदान की उपजाऊ भूमि और फलतः उसकी समृद्धि और घनी आबादी संस्कृत से लेकर हिन्दी तक के साहित्य को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकी। यह पहले कहा जा चुका है कि अपनी उर्वरता के कारण ही वह विदेशी आक्रमणकारियों का लक्ष्य बना। इसी मैदान के तपोवनों में वेदोच्चार हुआ। इस विशाल मैदान के रहनेवाले लोगों का जीवन संघर्ष की कठोरताओं और विषमताओं से मुक्त रहा। कृषि यहाँ की प्रधान संपत्ति रही। अधिकांश जनसंख्या चारों ओर बिखरे हुए गाँवों में रहती थी। इसकी सबसे प्रिय वस्तु, भूमि-प्रेम, के कारण ही जनता में परम्परा-प्रियता और सामंतवादी प्रथा तथा अन्य तत्सम्बन्धी संस्थाओं का प्रचार रहा। उसकी सीमाओं ने युद्धों का स्वरूप निर्धारित किया। चारों तरफ से बन्द न होने के कारण सभी प्रकार के बाहर से आये विचार उसका मानसिक जीवन उद्वेलित करते रहे। इसीलिये सैनिक शक्ति के संगठित होने या न होने के साथ-साथ उसका भी उत्थान या पतन होना इतिहास के साधारण ज्ञान की बात है। इस विशाल उपजाऊ मैदान की विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रभावित हुए बिना न रह सका।

नदियाँ

पृथ्वी की उर्वरा शक्ति और मैदान की विशालता का घनिष्ठ सम्बन्ध उसकी नदियों से है। हिन्दी प्रदेश का यह विशाल मैदान नदियों के जल से सिंचित होने के कारण धनधान्यपूर्ण है। गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ हिमालय या दक्षिण में विन्ध्य पर्वतमाला का जल इकट्ठा कर मैदानों की पैदावार बढ़ाती हैं। उन्हीं की शक्ति से हिन्दी प्रदेश की घनी आबादी पालित-पोषित होती है। इन नदियों के किनारे-किनारे हिन्दी प्रदेश में असंख्य गाँव अब भी बसे हुए हैं। नदियों का आर्थिक और सामरिक दोनों प्रकार का महत्त्व था। गङ्गा, यमुना आदि बड़ी-बड़ी नदियों के प्रति आदर और श्रद्धा का जो भाव पाया जाता है, वह उनके भौतिक दृष्टि से काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान धारण करने के कारण ही है। हिन्दी साहित्य में गंगा, यमुना, त्रिवेणी आदि से सम्बन्धित न मालूम कितनी रचनाएँ हैं। यह दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति के आदिकाल से ही पाया जाता है।

जलवायु

जलवायु भी उन अनेक भौगोलिक कारणों में से एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जो सभ्यता और संस्कृति द्वारा अभिव्यंजित मानव-चरित्र और जाति, धर्म, जातीय संस्थाओं और प्रतिभा आदि पर प्रभाव डालती है। जलवायु में परिवर्तन होने के कारण जातियों का उत्थान या पतन देखा गया है। हिन्दी प्रदेश उष्ण कटिबन्ध में है, अर्थात् वह पृथ्वी की कर्क और मकर रेखाओं के बीच में पड़ता है। इस प्रकार की जलवायु में रहनेवालों के जीवन में प्रायः तेजी नहीं रहती और जीवन में कामुकता होती है। घने-घने जंगलों और रंग-बिरंगे फूलों से भरे वातावरण में रहने और सरलतापूर्वक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्न उत्पन्न हो जाने के कारण लोगों के जीवन में व्यवहारिकता के स्थान पर चिन्तन और कलात्मकता के साथ-साथ भड़कीले रंग पसंद करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वेदकालीन आर्यों और उनके बाद के आर्यों के जीवन की तुलना करने पर हम इन बातों के स्पष्ट उदाहरण पा सकते हैं। भूगोल-विद्या-विशारदों ने भौगोलिक और जलवायु-सम्बन्धी परिस्थितियों और सभ्यता तथा संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करते हुए उनके क्रमशः महत्त्व की दृष्टि से भारत का भौगोलिक विभाजन किया है। उनके मतानुसार हिन्दी प्रदेश का महत्त्व देश के अन्य भूमि-भागों की अपेक्षा सबसे अधिक है। यही कारण है कि देश के सांस्कृतिक जीवन में उसका सर्वोच्च स्थान रहा है। हिन्दी प्रदेश का पिछली कई शताब्दियों का इतिहास बहुत उत्साहवर्धक नहीं रहा। इसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तन पर था। इसका यह अर्थ नहीं कि जलवायु ही एक कारण था। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, भूगोल-विद्या-विशारदों के मतानुसार, जलवायु में सदैव, अपवाद रूप में नहीं नियमित रूप से, परिवर्तित होता रहना है। जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तन फिर हिन्दी प्रदेश के जीवन को उत्तेजित करेगा, उसमें स्फूर्ति, गति और शक्ति उत्पन्न करेगा, ऐसा विद्वानों का मत है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भौगोलिक शक्तियों और कारणों ने हिन्दी प्रदेश की संस्कृति और उसके इतिहास की गतिविधि निर्धारित करने में बहुत हाथ बँटाया। उसकी शान्ति, सुरक्षा, कृषि, वेशभूषा, रीति-रस्म, आचार-विचार, वाणिज्य-व्यवसाय, धर्म, समाज, साहित्य, भाषा, राजनीति आदि सभी बातें भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती रही हैं। किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भौगोलिक परिस्थितियों के अतिरिक्त मानव-जाति के भाग्य-निर्णायक अन्य अनेक कारणों और प्रभावों से भी कोई इनकार नहीं कर सकता। भौगोलिक अवस्थाएँ देश-काल के अनुसार बदलती भी रहती हैं : विवेक-बुद्धि के आधार पर भूगोल का सदुपयोग करना चाहिए, विशेष रूप से आधुनिक समय में जब कि वैज्ञानिक आविष्कार भौगोलिक कारणों का प्रतिकार भी करने लगे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो | साहित्य और भाषा की उत्पत्ति

5/2/82

साहित्य की उत्पत्ति

आज हम मुद्रित ग्रन्थों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर अपना जीवन सुखी और समृद्ध बनाते अथवा बनाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु जिस मुद्रण-कला की सहायता से हम किसी ग्रंथ का अवलोकन करने में सफल होते हैं, उसके जन्म और विकास की लम्बी कहानी है। इस कला का जन्म और विकास कब और किस प्रकार हुआ, यह तो निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह एक अत्यन्त प्राचीन कला है, और उसका जन्म और विकास किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुआ, वरन् समस्त मानव-जाति ने उसमें अपना योग दिया है। मुद्रण-कला के लाभ सर्वविदित हैं। मुद्रण-कला से परिचित होने के कारण हम आज साहित्य को छपी हुई चीज समझने लगे हैं, क्योंकि आज जितना प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य हम देखते हैं, वह सब मुद्रित रूप में है। मुद्रण-कला के विकास की कहानी तो दिलचस्प है ही, किन्तु उसके पहले के साहित्य की कहानी और भी रोचक है।

यदि हम अतीत में अपना ध्यान दौड़ाते जाएँ तो हमें एक ऐसा समय मिलेगा जब कि संसार में काग़ज ही नहीं था। काग़ज के आविष्कार का श्रेय चीनी जाति को है। चीनियों से अरबों ने और अरबों से यूरोप के ईसाई जगत् ने काग़ज-निर्माण की कला सीखी। आधुनिक युग में साहित्य और संस्कृति के लिए काग़ज का कितना महत्त्व है, यह किसी से छिपा नहीं है। ईसा की १४वीं शताब्दी के लगभग यूरोप में काग़ज का प्रचार हो गया था।

काग़ज के प्रचार से पहले लिखने के लिए ताम्रपत्र और भोजपत्र इत्यादि का प्रयोग होता था। यूरोप में चमड़े से बने पत्रों का प्रयोग भी होता था। उनमें से बहुत-से अब तब सुरक्षित हैं। आगे चलकर अन्य अनेक वस्तुओं, जैसे पैपीरस, पर भी लिखा जाने लगा। लोग मिस्र के पिरैमिडों को सभ्यता की बड़ी महत्त्वपूर्ण निधि मानते हैं। किन्तु इस विशालकाय चीज़ से अधिक महत्त्व की वह पतली और मुलायम चीज़ थी, जिस पर मानव-जाति ने अपने भाव और विचार सुरक्षित रखना सीखा। विभिन्न जातियों ने विभिन्न समयों पर अपनी-अपनी लिपियों का विकास भी कर लिया था। इसकी तुलना उस समय से कीजिए जब कि साहित्य का पाषाण-काल था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् जब मानव-जाति किसी हलकी और पतली चीज़ पर अपने विचार लिपिबद्ध न कर, पर्वत-कन्दराओं, शिलाओं, दीवारों आदि पर चित्र अंकित करती, अथवा अपने विचार खोदकर उन्हें अमर बनाती थी। संसार में इस प्रकार के न मालूम कितने पत्थर, मन्दिर, गिरजे, शिलाएँ, स्तम्भ आदि भरे पड़े हैं। उनसे हम प्राचीन जातियों के सम्बन्ध में अनेक बातें मालूम कर सकते हैं। किन्तु हम उन्हें काग़ज पर उतारे बिना घर ले जाकर पढ़ नहीं सकते।

वास्तव में हमारे जीवन, हमारे ज्ञान का इतिहास बड़ा ही अजीब और रोचक है। उसकी तह तक किस प्रकार पहुँचा जाय, यह समझ में नहीं आता। किन्तु इतना निश्चित है कि जिस दिन मनुष्य ने लिखना और लिखी हुई चीज़ को सुरक्षित रखना सीखा होगा, वह दिन वास्तव में मानव-जाति के इतिहास में महान् दिवस रहा होगा।

मानव-जाति के इतिहास में न तो यह बता पाना सरल है कि मनुष्य ने लिखना कब सीखा, और न यह सरल है कि किस जगह सीखा। लेखन-कला और वर्णमाला के विकास का इतिहास जटिल है। इस इतिहास का विकास प्रदर्शित करने के लिए विद्वानों ने मानव-जाति द्वारा समय-समय पर गृहीत उपकरणों, साधनों, घटनाओं, ध्वनि-संकेतों, भावात्मक आवश्यकताओं, शब्दों को सीमित करने के तरीक़ों आदि का अध्ययन किया है। वास्तव में भौगोलिकता, विभिन्न प्रयोजनों, व्यापार और धर्म के साथ सम्बन्ध, लेखन सामग्री की आवश्यकताओं के फलस्वरूप लेखन-प्रणाली की रूप-रेखाओं में परिवर्तन, सुलेख और अन्य कलाओं के साथ सम्बन्ध के अनुरूप लेखन-कला में परिवर्तन होते-होते उसका आधुनिकतम रूप विकसित हो पाया है। यह कहानी बड़ी लम्बी, रहस्यमय और रोचक है। मानव-जाति के लगभग चालीस हजार वर्ष के इतिहास में जब सुरुचि तथा उपयोगिता का समावेश हुआ तो गुफाओं में बैठकर वह अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनाने और उनका आनन्द लेने लगा। उसके शिकारी जीवन और तंत्र-मंत्र का उसमें यथेष्ट हाथ था। अपनी वाणी को निश्चित माध्यम देने और उसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से मनुष्य ने भाव संकेतों या वस्तु-संकेतों का उपयोग करना प्रारम्भ किया होगा। अफ्रीका, अमरीका, एशिया, प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों में इन वस्तु-संकेतों के प्रमाण मिलते हैं, जो मोटे तौर पर छः हजार वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। इन संकेत-चिह्नों के बाद चित्रलिपि-प्रणाली का आविष्कार हुआ और मनुष्य संकेतों द्वारा व्यक्त किये गए प्रत्येक शब्द को पहचानने लगा। तत्पश्चात् ध्वनि-चित्रण ने जन्म लिया अर्थात् ध्वनियों को संकेतों का रूप दिया जाने लगा। मय और एज्टेक लोगों ने जहाँ वास्तु-कला और चर्म-पत्र तथा काग़ज के निर्माण में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया, वहाँ लिपि के विकास में भी उनका योगदान सराहनीय रहा। चीनी लिपि यद्यपि ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के मध्य से अधिक पुरानी नहीं है, तो भी उसे चित्रलेखन-प्रणाली का आदर्श उदाहरण माना जा सकता है। इस प्रणाली में भाव-संकेत और ध्वनि-संकेत दोनों आ जाते हैं। ईसा से लगभग तीन हज़ार वर्ष पूर्व मिस्र में भी चित्राक्षर-लिपि का प्रचार था। स्मारक-भवनों और समाधियों पर ये चित्र तराशकर या रंगों से बनाए जाते थे। लिखने की यह प्रणाली बहुत जटिल थी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फलतः पढ़ने की सुविधा की दृष्टि से कुछ अतिरिक्त संकेत-चिह्न भी बनाए गए, जो उच्चरित नहीं होते थे किन्तु उनके प्रयोग से विशिष्ट अर्थ का बोध होता था। एक प्रकार से ये ध्वनिग्राम एवं ध्वनिपूरक चिह्न थे। संसार के विभिन्न भागों में नगर-सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता गया, त्यों-त्यों मुहरों और मणियों पर लेखन-प्रणाली का उपयोग होने लगा। मिस्र और सिंधु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं और उन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका।

सिन्धु घाटी में चार हजार वर्ष से अधिक प्राचीन जो अनेक मोहरें मिलती हैं उनमें मछली, भारवाह और हाथों के लिपि-चिह्न अंकित मिलते हैं जिनकी गुत्थी सुलझाने के लिए आधुनिक मानवविज्ञानी और नृवंशशास्त्री कार्यरत हैं और आशा की जाती है कि मोहरों पर अंकित पाठों की गुत्थी शीघ्र ही सुलझ जाएगी। इस कार्य में इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटरों से भी सहायता ली जा रही है। रूसी विद्वान् एम० श्चेतन्को (पुरातत्त्वविद्), टी० ग्रेक (कला के विद्वान्) और भाषाविद् एम्० अन्द्रोनोव, टी० कातेनिना और एस० रुदिन ने भारतीय पुरातत्त्वविद् श्री लाल, श्री गुप्त, श्री थापर और श्री राव के सहयोग से इस संबंध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं और निकालते रहेंगे। वे धीरे-धीरे भाषा का स्वरूप निर्धारित करने की स्थिति पार कर द्रविड़ भाषा की अवधारणा के आधार पर सिंधु घाटी के अभिलेखों का स्वरूप स्पष्ट करने की स्थिति तक पहुँचते जा रहे हैं। मिस्र और सुमेर से लेकर रूपड़ लोथल तक फैले विशाल क्षेत्र में प्राप्त विभिन्न वस्तुओं पर अंकित भाषा की तुलना इंडो-यूरोपीय और हुर्री तथा मुण्डा भाषाओं से करने के उपरान्त ये विद्वान् शब्द-रूपों और उनके अन्तस्सम्बन्धों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन भारतीय अभिलेखों की भाषा उपसर्गहीन भाषा-समूह की है जिनकी संख्या संसार में बहुत कम है। भौगोलिक दृष्टि से वे द्रविड़ भाषा को ही सर्वाधिक संभव भाषा मानते हैं। मोहरों पर अंकित 'मछली', 'भारवाह' आदि का मूल संबंध उन्होंने प्राचीन तमिल पुराण में प्राप्त पदों से स्थापित करने की चेष्टा की है। सिन्धु घाटी के पाठों का ठीक-ठीक अर्थ निकालने के लिए शोध-कार्य जारी है। ई० पू० २५०० के लगभग सुमेरियन और असीरियो-बेबीलोनियन अथवा पूर्व सेमिटिक भाषाओं के लिए कीलाक्षर लिपि का प्रयोग एक नया विकास था, जिसके आविष्कारक दक्षिणी मेसोपोटामिया के सुमेरी लोग थे और जो मिस्र, क्रीट और चीन के लोगों के साथ सफल लेखन-शैली के आविष्कारक माने जाते हैं। उसे गीली मिट्टी की टिकियों पर या मुद्राओं पर अनी से, प्रायः नरकुल की नोंक से, लिखा जाता था। सुमेरी लोगों ने चित्रलेखों या भाव-व्यंजक चिह्नों का सम्बन्ध ध्वनि से जोड़कर समस्त बोले जानेवाले शब्दों का लेखन संभव बनाया। इसी लिपि को बेबीलोनी, असीरी, हिताइत और ईरानी लोगों ने अपनी-अपनी भाषों के अनुकूल बनाकर ग्रहण कर लिया। मेसोपोटामिया में इससे अध्ययन और लेखन का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ और लेखन-कला सभ्यता के बौद्धिक पक्ष के विकास का प्रबल माध्यम बनी। भूमध्य सागर के पूर्वी किनारों पर लेखन-कला का प्रचार कब से प्रारंभ हुआ, इस संबंध में विद्वान् अभी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच पाए। शायद यहाँ भी प्रारंभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में चित्रलिपि रही होगी। वर्णमाला के उपयोग का पहला पुष्ट प्रमाण उगारेत (उत्तरी फ़िनीशिया) में पाई गई पट्टिकाओं में मिला बताया जाता है, जिन पर कीलाक्षर लिपि बाएँ से दाएँ अंकित है और जिनका समय ई० पू० १६०० से १२०० वर्ष माना जाता है। यह वर्णमाला पूर्व-विकसित वर्णमाला के विकास की मध्य स्थिति की सूचना देती है। उसमें व्यंजन तथा स्वरों का बोध कराने वाले अक्षर भी मिलते हैं।

भारत में लेखन का प्रारंभिक रूप ई० पू० लगभग पाँचवीं शताब्दी में माना जाता है। विद्वानों का मत है कि यह लिपि व्यंजनों वाली सेमिटिक लिपि से ली गई थी। किन्तु साथ ही इस मत के सम्बन्ध में सन्देह भी प्रकट किया जाता है, क्योंकि इनके अधिकांश अक्षरों के आकारों में बहुत भिन्नता है। भारतीय लिपि में स्वर-संकेत लिखने की शैली का विशेष विकास हो गया था और उसमें अक्षरों के ह्रस्व और दीर्घ बनाने की प्रणाली भी थी।

सेमिटिक लिपि से अरब के लेखों की शाखा फूटी। यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। यहीं से इथियोपिया की लेखन-शैली चली, जो दाएँ से बाएँ लिखी जाने लगी। सेमिटिक लिपि की एक अन्य महत्त्वपूर्ण शाखा आरामी अक्षरों की थी, जो दाएँ से बाएँ लिखे जाते थे। इसी का एक रूप हेब्रू के लिए प्रयुक्त हुआ। आरामी के विभिन्न रूप ईरानी, तुर्की और मंगोली बोलने वाले लोगों में फैले। दक्षिण अरब के बद्दुओं ने अपनी लेखन-शैली नबातियों से प्राप्त की, जिसका प्रयोग कुरान और शिक्षण के लिए हुआ। इस्लाम के प्रचार के साथ-साथ यह लिपि निकट पूर्व, मध्य एशिया, भारत, मलय द्वीप-समूह, अफ्रीका आदि में भी प्रचलित हो गई। भारतीय लिपियाँ भी बौद्ध धर्म के साथ-साथ तिब्बत, हिन्द-चीन, दक्षिण-पूर्व व मलय द्वीप-समूह आदि में पहुँचीं।

यूनान में सिरिलिक वर्णमाला का प्रचार था जो धार्मिक तथा सांस्कृतिक काल से इटली तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों में प्रचलित हुई। लैटिन की बड़े अक्षरों वाली लिपि पहले यूनानी प्रशासन के साथ और फिर रोमन चर्च के क्रमिक विस्तार के साथ सारे यूरोप में सिरिलिक लिपि की सीमाओं, अमरीका तथा शेष संसार में फैली। इस लिपि का प्रचार आज दुनिया में सबसे अधिक है। इंडोनेशिया और फ़िलीपीन, अफ्रीका और चीन तक में अब इसका प्रचार होने लगा है।

सच तो यह है कि लेखन-कला का विकास शिल्प-उपकरणों (लिखने के साधनों) और कारीगरों के हस्त-कौशल पर भी निर्भर रहा है और एक समय वह भी आया जब मुद्रण की प्रक्रिया और काग़ज़ के प्रयोग से फिर परिवर्तन हुआ और हो रहा है। आज की औद्योगिक सभ्यता के अन्य साधन तैयार हो गए हैं, जैसे, रेडियो, टेलिविज़न, रेकॉर्डिंग, टेपरेकॉर्डर, फ़िल्म आदि। इन सबका लिखने के उपयोग पर क्या और कितना प्रभाव पड़ेगा, यह तो भविष्य ही बताएगा। किन्तु अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लेखन-कला जीवित रहेगी, यह निश्चित है।[1]

---

१. मॉसल कोहेन : 'ले लांग दु मोंद', पेरिस।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक विद्वान् लेखक के मतानुसार, कल्पना कीजिए कि इस दुनिया में केवल किताबों की एक बहुत बड़ी मीनार खड़ी की जाय। इस मीनार की सबसे ऊँची पुस्तक, जो बहुत छोटी दिखाई देगी, आजकल के हमारे सामने के छपे हुए साहित्य अर्थात् मुद्रण-कला के जन्म के बाद के साहित्य का प्रतीक होगी। उससे नीचे की तीन-चार पुस्तकें मुद्रण-यन्त्र के जन्म से पहले के हस्तलिखित साहित्य का प्रतिनिधित्व करेंगी। उनसे नीचे की लगभग आधी दर्जन पुस्तकें शिलाओं, स्तम्भों आदि पर लिखे गए साहित्य का अनुमान करा सकेंगी। उससे कुछ नीचे तक की पुस्तकें उस समय के साहित्य की परिचायक होंगी जिन्हें कोई पढ़ नहीं सकता। उनसे नीचे के अवशिष्ट बड़े भाग के लिए कोई कुछ नहीं कह सकता। उस समय पुस्तकें तो थीं ही नहीं। यदि कुछ साहित्य रहा भी तो उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु उस समय मनुष्य शब्दों द्वारा कुछ तो अवश्य व्यक्त करता रहा होगा, लिखने से पूर्व वह बोलता रहा होगा, अर्थात् किसी-न-किसी रूप में अंकित या लिखित साहित्य से पहिले भी किसी प्रकार का साहित्य अवश्य रहा होगा। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि लिखने की कला के पूर्व साहित्य की कुछ सामग्री या विचारों का अस्तित्व रहा होगा। हमारे पूर्वज आखेट, युद्ध आदि के बाद जब अपनी गुफाओं में आते होंगे तो गाने गाते होंगे, अपने बच्चों को शौर्य की कहानियाँ सुनाते होंगे। आधुनिक काल में जो जंगली जातियाँ मिलती हैं उनमें भी विचारों, भावुक गीतों, परम्पराओं, नियमों आदि का प्रचार प्रधानतः मौखिक रूप में ही रहता है। यही प्रथा आदि मानव-जातियों में रही होगी। हमारा पोषण भी मौखिक साहित्य के आधार पर ही हुआ था। अब भी होता रहता है। बचपन में हम दादी-नानी के मुख से गीत, लोरियाँ, कहानियाँ आदि सुनकर आनन्द का अनुभव करते हैं। बाद में मौखिक भाषा ही लिखित भाषा का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य के पास वाणी है। उसके द्वारा हम अपने भाव व्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से हम अन्य पशुओं से श्रेष्ठ हैं। किन्तु बिना लिखे, बिना लिपि-बद्ध किए किसी भी जाति का साहित्य सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। लिपिबद्ध किए बिना प्रत्येक पीढ़ी को फिर से पुरानी बातें दुहरानी पड़ेंगी। विचारों को लिपिबद्ध करने पर भी हम देखते हैं कि हमारे विचार कितनी तीव्र गति से बदलते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए हमें विशेष प्रकार की तैयारियाँ करनी पड़ेंगी।

किन्तु मौखिक भाषा कितनी ही अस्थायी और परिवर्तनशील क्यों न हो; मानव-जाति में विचारों का श्रीगणेश उसी से होता है। ये विचार जीवित भी रह सकते हैं। अनेक गीत सैकड़ों वर्ष से मौखिक रूप में ही चले आ रहे हैं। उनका अब संकलन हो रहा है; वे अब लिपिबद्ध हो रहे हैं। हमारे आदि पूर्वज यदि लिखना नहीं जानते थे तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे अज्ञानी तथा मूर्ख थे। वे स्वयं कुछ कहते थे, दूसरों की सुनते थे, और इनसे वे ज्ञान और अनुभव प्राप्त करते थे—आज हम भले ही न लिख सकने के कारण असुविधा का अनुभव करें।

आज हम गूंगे बच्चों को लिखना और पढ़ना ही नहीं सिखाते, वरन् उन्हें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोलना भी सिखाते हैं। उनके लिए शिक्षाविदों ने विशेष प्रकार की भाषा का आविष्कार किया है।

साहित्य की कहानी में हम गूंगे को इसलिये लाए हैं ताकि हम जान लें कि लिखित भाषा से पहले मौखिक भाषा ही आती है।

मनुष्य लिखना सीखने पर बोलना नहीं छोड़ देता। उसके मौखिक और लिखित विचार एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह कह सकना कठिन है कि एक शिक्षित व्यक्ति के जीवन में किसका श्रेय अधिक रहता है। इसका अन्त पाना कुछ मुश्किल है।

हम अपने दैनिक जीवन में जो बोलते या लिखते रहते हैं—बिना कौशल प्रकट किए, वह सभी 'साहित्य' के व्यापक अर्थ में साहित्य है। यूरोप के प्रसिद्ध साहित्यकार मौलियर ने अपने एक नाटक में एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति का उल्लेख किया है, जो एक सीधा-सच्चा नागरिक है और जो अपने को शिक्षित बनाने के प्रयत्न में संलग्न है। उसे एक दिन उसके गुरु ने गद्य और पद्य में भेद बताया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जीवन भर वह गद्य का प्रयोग करता रहा, किन्तु उसे कुछ मालूम ही न था।

इसी प्रकार हम सब अपने जीवन में 'साहित्य' का प्रयोग करते रहते हैं। इस बात का अनुभव हम उसी समय कर सकते हैं जबकि हम अपने को समग्र मानव-जाति के रूप में देखें, न कि व्यक्ति के रूप में। गद्य लिखना सीखने से बहुत पहले ही मानव-जाति गीतों का सृजन और उन्हें कण्ठस्थ करती आई है। कविता भावनाओं का माध्यम है और गद्य बुद्धि का। मनुष्य में बुद्धि से पूर्व भावनाओं का आधिपत्य रहता है। सर्वप्रथम लेखक अथवा गीत-निर्माता युद्ध-क्षेत्र में उत्साहित करने वाले गायक रहे होंगे। वे चाहते रहे होंगे कि जो कुछ हम कहें, उसे अन्य लोग याद रखें। पद्य को याद रखना गद्य से सरल है। इसीलिए प्रत्येक जाति का साहित्य काव्य के रूप में जन्म लेता है।

बच्चे की भाँति कवि में जिज्ञासु भाव प्रधान रहता है। यही कारण है कि अनेक प्राचीन कविताएँ हमें आज भी सुन्दर लगती हैं। काव्य कानों की चीज़ है, आँखों की नहीं। गद्यात्मक साहित्य का जन्म भी पहले-पहल सुनने में ही हुआ था—वार्तालाप, भाषण आदि का सुनने से सम्बन्ध है। प्रत्येक मनुष्य पढ़ने से पहले सुनता है, लिखने से पहले बोलता है। बाइबिल में कहा गया है, 'In the beginning was the Word'। यही बात हम विचारक और लेखक के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं।

साहित्य की परिभाषा

साहित्य के जन्म की कहानी पर विचार कर लेने के बाद इस बात पर विचार करना उपयुक्त होगा कि साहित्य किसे कहते हैं। समय की गति के अनुसार साहित्य भी विकसित और परिवर्तित होता रहता है। इसलिए साहित्य क्या है, इसका यथार्थ बोध हो जाने पर ही उसकी प्रगति अथवा अवनति भली-भाँति समझी जा सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विविध प्रकार के साहित्य की परिभाषा देने की चेष्टा की है। सामान्यतः 'साहित्य' शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग होता है। प्रथम अर्थ के अन्तर्गत मानव-जति के संचित ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित समस्त ग्रन्थ-समूह को ही 'साहित्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह 'साहित्य' शब्द का शिथिल प्रयोग है। द्वितीय अर्थ के अनुसार रस, अलंकार आदि से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थ ही 'साहित्य' की उपाधि से विभूषित कर दिये जाते हैं। संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते समय अनेक विद्वानों ने ऐसे ग्रन्थों को 'साहित्य' विषय से 'सम्बन्धित ग्रन्थ' कह कर पुकारा है। 'साहित्य' शब्द का यह सीमित अर्थ में प्रयोग है। सामान्यतः हम 'साहित्य' शब्द का प्रयोग शब्दार्थ और शब्द-गौरव से युक्त ललित साहित्य, अर्थात् काव्य, नाटक, कहानी, निबन्ध आदि के लिये ही करते हैं—यद्यपि प्राचीन काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में ही हुआ करता था। काव्य को ज्ञान के विपुल भण्डार का ही एक प्रधान रूप माना जाता था। भर्तृहरि की प्रसिद्ध पंक्तियों 'साहित्य-संगीत-कलाविहीन····' में 'साहित्य' का 'काव्य' के पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुआ है, क्योंकि शब्द और अर्थ की परस्पर सामंजस्यपूर्ण स्थिति काव्य में ही सम्भव है। किन्तु 'साहित्य' के धातुगत अर्थ पर विचार करने से उसका स्वरूप बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। धातुगत अर्थ ऐसा है जिसके सम्बन्ध में कहीं भी बहुत अधिक मतभेद नहीं हो सकता। 'सहित' में आकारत्व आदि के साथ 'य' प्रत्यय के योग से साहित्य' शब्द बना है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में कहा है : सहितस्य भावः साहित्यम्', अर्थात् जिसमें सहित का, मिलने का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। 'सहित' का भाव स्पष्ट करते हुए भामह ने लिखा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य हो। इसी को राजशेखर (१०वीं शताब्दी) ने 'काव्य-मीमांसा' में इस प्रकार कहा है—'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में 'साहित्यमनयोःशोभाशालितां प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः (शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त, आपस में स्पर्द्धा सहित, मनोहर रूप में श्लाघनीय स्थिति को साहित्य कहते हैं) कहा है। साहित्य के माध्यम द्वारा केवल भाव का भाव के साथ, तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता, वरन् मानव का मानव के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ, बाह्य का अन्तर के साथ मिलन होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के सार्थक एवं सर्वोत्तम विचारों की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। जातीय विशेषताओं, व्यक्तियों और सामाजिक वर्ग के कारण उसके विचित्र रूप हो जाया करते हैं। प्रत्येक काल के साहित्य में उस काल का जीवन छिपा रहता है। क्योंकि साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए वह राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। वह जीवन-दर्पण है। साहित्य की कसौटी ही किसी जाति की सभ्यता की कसौटी है। असभ्य जातियों में लिखित साहित्य का अभाव रहता है। सभ्य जातियाँ प्रगति करती हैं। कालानुसार उनका साहित्य भी प्रगति करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिये हम उन्हें सभ्य कहते हैं। काल के अनुसार यदि साहित्य न बदला तो वह जाति के पतन का प्रतीक बन जाता है, क्योंकि उसका मनुष्य के संस्कारों और विचार-परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वास्तव में जीवन से साहित्य की उत्पत्ति होती है और अन्त में साहित्य से जीवन प्रभावित होता है। देश या जाति के जीवन और साहित्य में सामंजस्य रखना ही साहित्य और जीवन दोनों के विकास का राज-मार्ग है।

भारतीय आचार्यों ने साहित्य को रसमूलक और लोकोत्तर आनन्द प्रदान करनेवाला माना है। साथ ही उन्होंने उसके बाह्य रूप या उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली पर बल दिया है। समाज में साहित्य और साहित्यकार की स्थिति की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया। पश्चिम के आचार्यों और विचारकों ने साहित्य को समाज-सापेक्ष्य रूप में देखकर रस सृष्टि तक को व्यक्ति तक ही सीमित न रखकर समष्टि-मूलक आधार प्रदान किया। तुलसी जैसे लोकधर्मी कवि ने साहित्य को सर्वजनहितकारी रूप प्रदान किया अवश्य है, किन्तु प्राचीन भारत में साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रधानतः व्यक्ति-परक ही रहा। आधुनिक काल में उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों और आत्मनिष्ठा को मान्यता प्रदान तो की ही जाती है, साथ ही उसकी समाज-सापेक्षता भी सर्वमान्य है। इसलिए आज साहित्य का सम्बन्ध श्रेय और प्रेय दोनों के साथ स्थापित किया जाता है। वास्तव में समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध है और दोनों परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कोई भी कवि या साहित्यकार अपने युग के व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता, और, यदि वह प्रतिभाशाली है तो, युग-जीवन की विविधता और अनेकरूपता को प्रभावित किए बिना भी नहीं रह सकता। साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय अथवा किसी विशेष कवि या लेखक का आलोचनात्मक अध्ययन करते समय दोनों के परस्पर प्रभाव का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यह मूल्यांकन सरल कार्य नहीं है। इसके लिए साहित्यगत आन्तरिक गतिविधियों और अभिव्यंजना-शैलियों एवं कला-कौशल, जीवन के ताने-बाने (Pattern), सामाजिक आकांक्षाओं, भावनाओं, परम्पराओं, निष्ठाओं आदि और स्वयं व्यक्ति (कवि या लेखक) की निष्ठाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। साहित्य और समाज के परस्पर प्रभाव का मूल्यांकन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि यह कार्य सीधी लकीर की भाँति या २ + २ = ४ के नियम द्वारा सम्पन्न नहीं होता। समृद्धि और वैभवपूर्ण युगों में ह्रासोन्मुखी रचनाएँ पायी जाती हैं, और पतित काल में उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसलिए साहित्य और समाज की अंतःप्रक्रिया को विवेक के साथ भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए; साहित्य के उचित संदर्भों को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। उसके लिए कोई एक निश्चित मापदण्ड स्थापित करना अनुचित ही नहीं, असम्भव भी है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि साहित्य मौखिक और लिखित दोनों ही रूपों में हो सकता है—यह दूसरी बात है कि आज हम केवल लिखित साहित्य पर ही विचार करते हैं किन्तु साहित्य लिखित हो या मौखिक, उसका और भाषा का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा जब सर्वसाधारण में प्रचलित और शब्द-सम्पत्ति-सम्पन्न बन कर पुष्टता लाभ करती है तभी साहित्य का सर्जन होता है।

भाषा की उत्पत्ति

साहित्य की भाँति भाषा की उत्पत्ति भी अत्यन्त रोचक है। कुछ विद्वान् उसे ईश्वरीय कृति मानते हैं। प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति के लोग अपनी-अपनी भाषाओं की उत्पत्ति दैवी बताते हैं। कुछ विद्वान् भाषा को ध्वनि संकेत मात्र मानते हैं जो विकसित होते-होते, पारस्परिक भाव-विनिमय के लिए, भाषा का रूप धारण कर लेते हैं। इन दोनों मतों का खंडन भाषा को मनुष्य के प्रारम्भिक अनुकरणात्मक शब्दों का समूह मात्र बताकर किया जाता है। किन्तु भाषा में अनुकरणात्मक शब्द बहुत कम होते हैं। फलतः इस मत को असंगत समझकर कुछ विद्वानों ने विस्मयादि मनोभावों के बोधक शब्दों को भाषा के मूल में मानकर मनोभावाभिव्यंजकतावाद की स्थापना की। किन्तु इस मत में भी सत्य का आंशिक अंश ही है। इसी प्रकार यो-हे-हो-वाद और डिंग-डैङ्ग-वाद के अनुसार भी भाषा का विकास बताया जाता है। शारीरिक परिश्रम के कारण श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाने से कुछ ध्वनियाँ स्वतः निकल पड़ती हैं। यही यो-हे-हो-वाद है। अन्तिम मत का प्रतिपादन करते हुए मैक्स-मूलर ने कहा कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। आघात से झंकार पैदा होती है। इसी प्रकार मनुष्य में एक स्वाभाविक विभाविका शक्ति होती है जो बाह्य अनुभावों के लिये वाचक शब्द बनाया करती है। डिंग-डैङ्ग-वाद भी सदोष सिद्ध हुआ। वास्तव में इन सब मतों में कुछ-न-कुछ आंशिक सत्य अवश्य है। और, हो सकता है आरम्भिक शब्दकोष इन्हीं सब सिद्धान्तों के सम्मिलित रूप के अनुसार बना हो किन्तु भाषा तो मानव-समाज के सङ्गठन और उसकी परिस्थिति के अनुकूल विकासावस्था को प्राप्त होती गई है। प्रारम्भ में ही वह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापित कर सांकेतिक और पारंपरिक हो गई थी। ध्वनियों के रूप में भाषा के बीज व्यक्ति में पहले से ही विद्यमान थे। समाज में रहकर उन्हीं ध्वनियों का विकास हुआ। समाज और भाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है। भाषा की आदिम अवस्था जानने के लिए विद्वानों ने भाषा के विकास के रूप के अध्ययन से उसके मूल की कल्पना की है। ओटो जैस्पर्सन ने इसी पद्धति का अनुसरण किया। उसने बच्चों, आदिम अवस्था में रहनेवाली जातियों की भाषा और उपलब्ध भाषा-इतिहासों का अध्ययन कर भाषा की उत्पत्ति बताने का प्रयास किया है। अस्तु, भाषा का आविर्भाव कब, किस प्रकार और क्यों हुआ इन सब बातों पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढङ्ग से विचार किया है। उनकी मीमांसा के आधार पर कुछ सर्वमान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में मनुष्य के पास वाणी नहीं थी और वह संकेत तथा भ्रू-क्षेपों से काम चलाता था। किन्तु धीरे-धीरे वह ध्वन्यात्मक शब्दों और पशुओं की बोली के समान शब्द प्रकट करने लगा होगा। सम्भवतः उसने प्रकृति की ध्वनियों का भी अनुकरण किया हो। इस प्रकार के आधार पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके पास कुछ मूल ध्वनियों का समूह इकट्ठा हो गया। हो सकता है, भावावेग के समय भी उसके मनोरागों की व्यंजक कुछ ध्वनियाँ सहसा निकल पड़ी हों। इस प्रकार धीरे-धीरे भाषा का निर्माण हो गया होगा। यद्यपि अभी तक विद्वान् इस सम्बन्ध में किसी एक अन्तिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि भाषा मनुष्यकृत और क्रमशः विकास का परिणाम है—जिस प्रकार मनुष्य स्वयं विकास का परिणाम है। देश, काल और आवश्यकताओं के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता रहता है। उसके लिए मनुष्य का सहयोग अनिवार्य है। भाषा ही मनुष्य के अन्तर्मन को बाह्य अभिव्यक्ति प्रदान करती है। मनुष्य का विचार ही शब्द है जो बाहर प्रकट होता है। शब्द से ही भाषा बनती है। शब्द व्यापक और अनन्त है। इसीलिए सब देशों ने शब्द की महिमा का गान किया है।

भाषा की परिभाषा

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि भाषा एक सामाजिक क्रिया है। वह किसी व्यक्ति की कृति नहीं। समाज में वह विचार-विनिमय का साधन है। 'भाषा' को अर्थमय जगत् का अभिव्यंजक समझना चाहिए। इन सबको स्पष्ट करने के लिए भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी यह भी कह सकता है कि 'मनुष्य और मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।' 'विचार' के अन्तर्गत भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा सबका समावेश हो जाता है। भाषा किसी-न-किसी वस्तु के बारे में कहती है। वह समाज-सापेक्ष्य होती है। उसका कोई प्रयोजन होता है और विकसित होते-होते वह मनुष्य के विचार और आत्माभिव्यक्ति का साधन बन जाती है। मानव-जाति की प्रत्येक पीढ़ी नई भाषा उत्पन्न नहीं करती। वह अपने पूर्वजों से उसे सीखती है और इस प्रकार भाषा परंपरागत सम्पत्ति है। उसकी धारा अविच्छिन्न चलती रहती है। साथ-ही यह अर्जित सम्पत्ति है, अर्थात् आपस के या सामाजिक साहचर्य द्वारा वह सीखनी पड़ती है। वह सामाजिक और सांकेतिक संस्था है। ध्वनियों, स्वर-विकार, मुख-विकृति, बल-प्रयोग, उच्चारण का वेग आदि भाषा के आवश्यक गौण अङ्ग माने जाते हैं—विशेषतः अविकसित जातियों की भाषाओं में। साहित्यिक पद पर आसीन होने के लिए प्रत्येक भाषा को इन अंगों का बहुत-कुछ त्याग करना पड़ता है। उस समय भाषा के चार अंग ही प्रधान हो जाते हैं—शब्द, वाक्य, ध्वनि और अर्थ। शब्दों के अर्थ शाश्वत नहीं होते। स्थान, समाज, व्यक्ति आदि के भेद से उनमें परिवर्तन होता रहता है। सभ्यता के विकास, मानसिक और भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ फलतः जटिलताओं और दुरूहताओं के विकास के साथ-साथ, अथवा एक जाति के दूसरी जाति के सम्पर्क में आने से भाषा का विकास भी होता है। भाषा का परिवर्तन थोड़ी-थोड़ी दूर के बाद होता रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बोली, विभाषा, भाषा, राष्ट्रभाषा

भाषा के एक-एक परिवार में कुछ भाषा-वर्ग होते हैं और एक-एक वर्ग में अनेक सजातीय भाषाएँ रहती हैं। एक-एक भाषा के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ और विभाषाओं के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती हैं। 'बोली' से अभिप्राय स्थानीय घरेलू बोली (patois) से है, जिसका प्रयोग साहित्य में नहीं होता। 'विभाषा' का क्षेत्र बोली से व्यापक होता है। एक प्रान्त अथवा उपप्रांत की बोली को हम विभाषा या उप-भाषा कह सकते हैं और जिसे अँगरेजी में 'डायलेक्ट' कहते हैं। उनमें आपस में काफ़ी साम्य होता है और कोई-न-कोई एकसूत्रता होती है। कई विभाषाओं में से एक विभाषा ही 'भाषा' (Standard Language) का रूप धारण कर लेती है। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित किया करती हैं। 'भाषा' शिष्ट समुदाय में व्यवहृत होती है और उसी में साहित्यिक रचनाएँ होती हैं। हिन्दी में व्रजभाषा और अवधी के बाद आज खड़ीबोली को यह गौरवपूर्ण पद प्राप्त है। ये तीनों विभाषाएँ भी हैं। साहित्यिक खड़ीबोली को ही हिन्दी और उर्दू या हिन्दुस्तानी कहते हैं और उनके अन्तर्गत व्रज, अवधी आदि विभाषाएँ मानी जाती हैं। विभाषा को भाषा का रूप धारण करने में धार्मिक अथवा ऐतिहासिक-राजनीतिक कारणों से प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इन्हीं कारणों से जब भाषा का क्षेत्र अधिक-से-अधिक व्यापक और विस्तृत बन सारा राष्ट्र हो जाता है तो उसे 'राष्ट्रभाषा' (Lingua Franca या National Language) कहते हैं। उसी का प्रयोग जब सरकारी कामों में होता है तो उसे 'राज्य भाषा या राज भाषा' (State Language) कहते हैं।

ध्वनियाँ

सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। ध्वनि के व्यापक अर्थ में वर्ण, शब्द, भाषा सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्यतः वर्ण के लिए ही ध्वनि का प्रयोग किया जाता है। वर्ण का सामान्य अर्थ वही है, जो 'वर्णमाला' शब्द में 'वर्ण' का अर्थ समझा जाता है। वर्ण का सच्चा स्वभाव उच्चरित ध्वनि है, लिपि नहीं; तो भी शास्त्रीय व्यवहार के लिए लिखित संकेतों का होना आवश्यक होता है। उन्हीं संकेतों को 'लिपि' कहा जाता है। ध्वनि के अनुरूप संकेतों को ही वैज्ञानिक लिपि कहते हैं। वैज्ञानिक लिपि में, जैसा उच्चारण होता है वैसा ही लिखा जाता है। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि सर्वश्रेष्ठ लिपि मानी जाती है। हिन्दी में कंठ, तालु, जिह्वा, मूर्धा, ओष्ठ आदि उच्चारणावयवों के आधार पर ध्वनियों का भाषा-विज्ञान में वर्गीकरण किया जाता है। स्वरों के अतिरिक्त सब ध्वनियाँ व्यंजन कहलाती हैं। स्वरों में न किसी प्रकार का 'स्पर्श' होता है और न 'घर्षण'। किन्तु व्यंजनों के उच्चारण में थोड़ा-बहुत स्पर्श अथवा घर्षण अवश्य होता है। इसी से स्वर-तन्त्रियों से उत्पन्न शुद्ध नाद स्वर कहे जाते हैं। उच्चारण-अवयवों की दृष्टि से व्यंजन काकल्य, कंठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, दंत्य, ओष्ठ्य और जिह्वामूलीय माने जाते हैं। उच्चारण की प्रकृति के अनुसार वे स्पर्श, घर्ष, स्पर्श-घर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लुण्ठित, उत्क्षिप्त और य तथा व जैसे अर्द्ध-स्वर माने जाते हैं। भाषा-विज्ञानियों ने स्वरों और व्यंजनों पर बड़े विस्तार से विचार किया है, जो प्रस्तुत विषय की दृष्टि से भिन्न विषय है। वैदिक भाषा में ५२ मूल ध्वनियाँ थीं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन। वैदिक उच्चारण में केवल १० ही स्वर रह गए थे। अनेक ध्वनियों का प्रयोग पाली में नहीं होता था। प्राकृत भाषाओं और पाली के ध्वनि-समूह में विशेष अन्तर नहीं है। हिन्दी में अधिकांश ध्वनियाँ (स्वर ११, व्यंजन ३३) तो परम्परागत ही हैं, किन्तु कुछ ध्वनियाँ अरबी-फ़ारसी और अँगरेज़ी के सम्पर्क से आ गई हैं—क़्, ख़्, ग़्, ज़्, फ़्, ऑ। हिन्दी में कुछ ध्वनियाँ अपने मूल रूप में उच्चरित नहीं होतीं, जैसे ऋ, ऌ, ऎ आदि। हिन्दी की बोलियों में भी कुछ अपनी निजी ध्वनियाँ हैं जिनका प्रयोग साहित्यिक भाषा में नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीन | हिन्दी भाषा और लिपि

'हिन्दी' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

संसार की अनेक भाषाओं में से एक भाषा हिन्दी है। 'हिन्दी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भाषा-विज्ञान से सहायता प्राप्त होती है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फ़ारसी में 'ह' हो जाती है। अतः जब फ़ारसी भाषा-भाषियों का भारत के सिंधु' प्रदेश से सम्पर्क स्थापित हुआ तो 'सिंधु' और 'सिन्धी' फ़ारसी में 'हिन्दु' और 'हिन्दी' हो गए। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिन्दवी' या हिन्द' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। संस्कृत, प्राकृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। 'हिन्दी' शब्द का अर्थ है—'हिन्द से सम्बन्ध रखनेवाला', किन्तु उसका प्रयोग 'हिन्द के रहनेवाले' या 'हिन्दी की भाषा' के अर्थ में भी होता रहा है। 'हिन्दवी', 'हिन्दुई' जैसे शब्दों का प्रयोग दक्खिनी और उर्दू के कवियों की रचनाओं में मिलता है। इन शब्दों के साथ-साथ 'हिन्दी' भाषा के अर्थ में प्रयोग अँगरेज़ी शासन के प्रारम्भिक काल में होता रहा, किन्तु अन्त में 'हिन्दी' शब्द ही प्रचलित रह गया।

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग तथा हिन्दी प्रदेश

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य अथवा द्रविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किन्तु प्रचलित या साहित्यिक अर्थ में आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्य देश के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमि-भाग में हिन्दुओं में आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र खड़ीबोली हिन्दी है। साधारणतया 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी अर्थ में किया जाता है, किन्तु साथ ही इस भूमि-भाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे, मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैथिली आदि को तथा प्राचीन व्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिन्दी भाषा ही के अन्तर्गत माना जाता है। वैसे तो हिन्दी सम्पूर्ण भारत में समझी जाती है, किन्तु इस समय हिन्दी बोलने और प्रयोग की दृष्टि से राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश मुख्य राज्य हैं।

संसार की भाषाओं में हिन्दी

आदि में संसार में एक भाषा थी अथवा कई, आदि-भाषा कौन-सी थी, सब भाषाओं का मूल स्रोत क्या था, आज तक इसकी पूर्ण-मीमांसा नहीं हो सकी। किन्तु इस समय संसार में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, उन्हें अध्ययन की दृष्टि से, विद्वानों ने कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं और समुदायों में विभक्त किया है। उन समस्त भाषाओं की गणना एक कुल में की जाती है, जिनके सम्बन्ध में यह प्रमाणित हो चुका है कि वे सब किसी मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। नए प्रमाण मिलने पर परिवर्तन सम्भव है। आज तक की खोज के आधार पर संसार की सब भाषाएँ बारह प्रधान कुलों में विभक्त की जाती हैं। उनमें से सर्वप्रथम और महत्त्वपूर्ण कुल है 'भारत-यूरोपीय कुल'। इस कुल में रखी जानेवाली भाषाएँ ईरान, यूरोप, अफ़गानिस्तान तथा उत्तर भारत में बोली जाती हैं। इन भाषाओं को प्रायः दो समूहों में विभक्त किया जाता है—(१) 'केन्टम् और (२) 'शतम्'। केन्टम् समूह बिलकुल यूरोपीय है और उसके अन्तर्गत ग्रीक, इटैलिक या लेटिन, केल्टिक और जर्मनिक या ट्यूटॉनिक भाषाएँ रखी जाती हैं। 'शतम्' समूह में ईरानी और भारतीय भाषाएँ सम्मिलित हैं, जिनमें आर्य या भारत-ईरानी, आरमेनियन, बाल्टोस्लेवोनिक, अलबेनियन भाषाओं की गणना की जाती है। आर्य या भारत-ईरानी उपकुल में ईरानी और आर्यावर्ती भाषाएँ मुख्य हैं। इन्हीं आर्यावर्ती या आर्य भाषाओं में उत्तर भारत की अन्य अनेक आधुनिक भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी भी एक प्रधान भाषा है। अस्तु, संसार की भाषाओं में हम हिन्दी का स्थान इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं :

[संसार के बारह कुलों में से एक है]

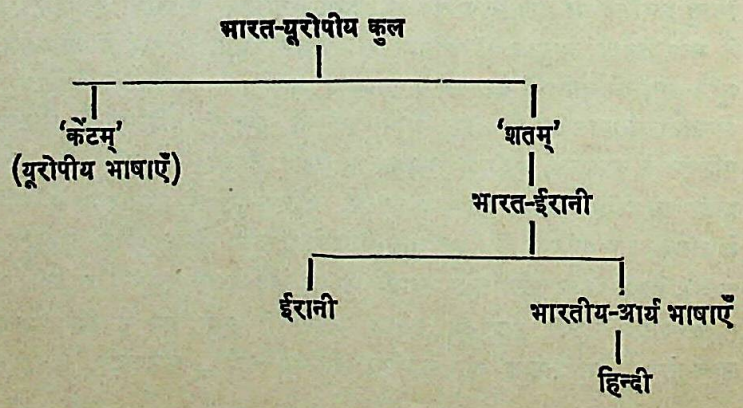

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत की अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं, जैसे बँगला, मराठी, गुजराती आदि की भाँति हिन्दी का जन्म भी आर्यों की प्राचीन भाषा से ही माना जाता है। कालान्तर में आर्यों की भाषा ही हिन्दी में परिवर्तित हो गई है। पूर्वी पंजाब में सरस्वती (अब लुप्त नदी) और प्रयाग के बीच का प्रदेश उत्तम आर्यों का निवास-स्थान माना गया है। प्राचीन साहित्य में यह भूमि-भाग मध्य-देश के नाम से प्रसिद्ध रहा है। हिन्दी इसी मध्य-देश की आधुनिक भाषा है।

भारतीय आर्य भाषाओं का विकास

प्राचीन आर्य भाषा काल १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। उस समय की भाषा का थोड़ा बहुत रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है। किन्तु ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्यों की अपनी ठेठ बोली भी रही होगी, जिसके उदाहरण भी हमें ऋग्वेद में ही मिल जाते हैं। किन्तु भाषा कभी स्थिर नहीं रहती। उसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। भाषा विज्ञान के इस सिद्धान्तानुसार आर्यों की साहित्यिक भाषा में भी परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के उदाहरण ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में मिलते हैं। ३०० ई० पू० में पाणिनि नामक प्रसिद्ध वैयाकरण ने सूत्र-काल के इस साहित्यिक रूप को व्याकरण के नियमों में बाँध दिया जिससे उसके रूप में परिवर्तन होना रुक गया। आर्यों की इस साहित्यिक भाषा का रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ जो अब तक चला आ रहा है। किन्तु आर्यों की बोलचाल की भाषा में बराबर परिवर्तन होता रहा। और, इस प्रकार आर्य भाषाओं का दूसरा काल आरंभ हुआ जो ३०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है। जिस समय संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त कर रही थी, उस समय की जनता की बोली के सब उदाहरण तो नहीं मिलते, किन्तु बुद्ध के धर्म प्रचार के कारण पाली में उसके पूर्वी रूप के उदाहरण मिल जाते हैं। वास्तव में पाली जनता की और साहित्यिक भाषा का मिश्रण है। अशोक की धर्म-लिपियों से भी तत्कालीन बोलियों का रूप जाना जा सकता है। पाली और अशोक की धर्म-लिपियों का समय ५०० ई० पू० से १ ई० पू० तक माना जाता है। किन्तु आगे १ ई० से ५०० ई० के काल में भी लोगों की बोलियों में बराबर परिवर्तन होते रहे और अशोक की धर्म-लिपियों की भाषाएं ही बाद को 'प्राकृत' नाम से प्रसिद्ध हुईं। उस समय संस्कृत के साथ-साथ साहित्य में इन प्राकृतों का व्यवहार होने लगा। बाद को उनमें साहित्यिक रचनाएँ होने लगीं। धीरे धीरे वैयाकरणों ने इन प्राकृत भाषाओं के भी व्याकरण रच डाले। फलतः मूल रूप और साहित्यिक रूप में अन्तर हो गया। आगे चलकर प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के नियमों में बंध जाने के कारण उनकी स्वाभाविक गति रुक गई। व्याकरण के नियमों से बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सामने वैयाकरणों ने जन-साधारण की नवीन बोलियों को अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा का नाम दिया, यद्यपि भाषा विज्ञानियों की दृष्टि से यह एक विकास था। कालान्तर में अपभ्रंशों में भी साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं। कुछ लोग तो साहित्यिक प्राकृतों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही अपभ्रंश बना डालते थे और असली अपभ्रंश में नहीं लिखते थे। प्रत्येक प्राकृत का अपना एक अपभ्रंश था, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश आदि। किन्तु वैयाकरणों ने केवल नागर, व्राचड और उपनागर ये ही तीन भेद अपभ्रंशों के साहित्यिक रूपों के माने थे। उनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात में बोली जाती थी। नागर अपभ्रंश के लेखक हेमचन्द्र (१२वीं शताब्दी) गुजराती ही थे। अपभ्रंश भाषाओं का काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जा सकता है।

१००० ई० से अब तक भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं का समय माना जाता है। आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई थी, जैसे शौरसेनी (शूरसेन प्रदेश—मथुरा—से सम्बन्धित) अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ; मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बँगला, असमिया और उड़िया; अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी; महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी, आदि। विद्वानों का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का तेरहवीं शताब्दी के लगभग से साहित्य में प्रयोग होने लगा था। वैसे भी किसी भाषा का साहित्य में प्रयोग होने में समय लगता है। अतः हिन्दी तथा आधुनिक आर्य भाषाओं का आविर्भाव-काल ईसा की दसवीं शताब्दी माना जाता है, यद्यपि आधुनिकतम खोजों के आधार पर वह और पीछे हटता जा रहा है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जिसे 'पुरानी हिन्दी' के नाम से पुकारा है, वह एक प्रकार से साहित्यिक (न कि प्रादेशिक) अपभ्रंश का ही एक रूप था। यह साहित्यिक अपभ्रंश समस्त उत्तरी भारत में प्रचलित थी। इस अपभ्रंश और हिन्दी में घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिस पर आगे विचार किया जायगा।

आधुनिक आर्य भाषाएँ और उनका वर्गीकरण

भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में बोली जानेवाली सिंधी, लहन्दा गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बँगला, असमिया और मराठी भाषाएँ आर्य भाषाएँ हैं। इनमें से पहली तीन उत्तरी; गुजराती पश्चिमी, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी बीच की; उड़िया, बँगला और असमिया पूर्वी और मराठी दक्षिणी है। सिन्धी सिन्ध नदी के किनारों वाले प्रदेशों में बोली जाती है। सिन्धी भाषा के लिए फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता है। लहन्दा या लहन्दी पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। हिन्दी प्रान्त की पश्चिमोत्तर सीमा पर पंजाबी या गुरुमुखी लिपि का प्रयोग होता है। इन तीनों में साहित्य लगभग नहीं के बराबर है। गुजरात, बड़ौदा आदि में गुजराती भाषा और कैथी से मिली-जुली देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है। गुजराती में उत्तम साहित्य की सृष्टि हुई है। राजस्थानी राजस्थान में, पंजाब के ठीक दक्षिण में, बोली जाती है। जिस प्रकार हिन्दी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिन्दी का दक्षिण-पश्चिम की ओर का विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अन्तिम रूप गुजराती है। उसके लिए महाजनी तथा देवनागरी लिपियों का प्रयोग होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थान में मेवाती (अलवर और गुड़गाँव), मालवी (इन्दौर), जयपुरी (जयपुर; कोटा और बूंदी) और मारवाड़ी (जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर और उदयपुर) मुख्य बोलियाँ हैं, किन्तु साहित्य की भाषा हिन्दी ही है। दिल्ली, मेरठ और बिजनौर के आसपास खड़ीबोली का प्रयोग होता है। हिन्दी और उर्दू इसी खड़ीबोली के दो साहित्यिक रूप हैं। हिन्दी में देवनागरी लिपि का उर्दू में फ़ारसी लिपि का प्रयोग होता है। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ीबोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली ये पाँच बोलियाँ हैं, जिनमें साहित्य की दृष्टि से खड़ीबोली और ब्रज ही महत्त्व-पूर्ण हैं। आधुनिक काल में खड़ीबोली साहित्यिक पद पर आसीन है। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी की गणना की जाती है। साहित्य की दृष्टि से अवधी उल्लेखनीय है। बिहारी बँगला की बहिन समझी जा सकती है, किन्तु बिहार का हिन्दी प्रदेश से ही अधिक सम्बन्ध रहा है। बिहारी की तीन मुख्य बोलियाँ हैं—मैथिली (गंगा के उत्तर दरभंगा जिले के आसपास), मगही (पटना और गया) और भोजपुरी (गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर बिहार प्रान्त के आरा, चंपारन और सारन जिले) जिनके लिए मैथिली, कैथी और देवनागरी लिपियों का प्रयोग होता है। उड़िया भी बहुत कुछ बँगला के अनुरूप है। मराठी और तेलुगु का उस पर प्रभाव पड़ता है। उड़िया में कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य अच्छा मिलता है। बंगाल में बँगला भाषा और लिपि का प्रयोग होता है। बँगला लिपि देवनागरी लिपि का रूपान्तर है। बँगला में उत्तम कोटि का साहित्य उपलब्ध है। अन्त में बम्बई; पुणे, बरार, दक्षिण मध्यप्रदेश आदि में मराठी भाषा और लिपि का प्रयोग होता है।

पहाड़ी भाषाएँ बहुत कुछ मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती-जुलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रमुख भाषा है जिसे नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली और खसकुरा भी कहते हैं। आधुनिक काल में इसमें कुछ साहित्यिक रचनाओं की सृष्टि भी हुई है। नेपाल के राज-दरबार में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का बहुत आदर है। मध्य पहाड़ी गढ़वाल रियासत और कुमायूँ तथा गढ़वाल ज़िलों में बोली जाती है। अल्मोड़ा-नैनीताल प्रदेश की बोली को कुमायूँनी और गढ़वाल के राज्य तथा मसूरी के आसपास के प्रदेश की बोली को गढ़वाली कहते हैं। कुछ दिन से इन दोनों बोलियों में भी पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं। वैसे यहाँ के निवासियों ने साहित्य के लिए हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को अपना रक्खा है। पश्चिमी पहाड़ी बहुत-सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम है, जो उत्तरप्रदेश के जौनसार-बावर से लेकर कश्मीर के भदरवार प्रदेश तक फैली हुई हैं। ये बोलियाँ टकरी या तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं। उनका न तो कोई सर्वमान्य रूप है, और न उनमें साहित्य ही प्राप्त है।

दक्षिणी की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाएँ आर्य भाषाएँ न होकर द्रविड़ भाषाएँ हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दी भाषा

इस प्रकार हिन्दी भाषा का स्थान, भारतीय आर्य भाषाओं में, बीच में पड़ता है और भाषाशास्त्र की दृष्टि से मध्य-देश की आठ बोलियों को ही हिन्दी कहा जाता है :

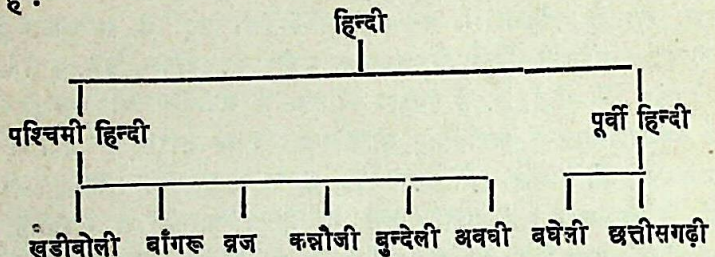

इन आठ बोलियों को ही ग्रामीण बोलियों के नाम से पुकारा जाता है। इस दृष्टि से (अर्थात् भाषाशास्त्र की दृष्टि से) हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत उत्तर में तराई, पश्चिम में अम्बाला और हिसार के ज़िले, पूर्व में फैज़ाबाद, प्रतापगढ़ और इलाहाबाद के जिले, और दक्षिण में रायपुर और खंडवा तक का भूमि-भाग आता है। हिन्दी के शास्त्रीय अर्थ की दृष्टि से काशी हिन्दी प्रदेश में नहीं है। साधारण प्रचलित अर्थ में हिन्दी प्रदेश की सीमाएँ विस्तृत हैं, जिनकी ओर पीछे संकेत किया जा चुका है। १००० ई० के लगभग गंगा की घाटी में प्रयाग तथा काशी तक बोली जानेवाली शौरसेनी और मागधी अपभ्रंशों ने हिन्दी भाषा के समस्त प्रधान रूपों का जन्म दिया। प्रारम्भ में प्राकृत और अपभ्रंशों का प्रभाव स्पष्ट रूप से हिन्दी पर पाया जाता है। उस समय हिन्दी की बोलियों के निश्चित रूप भी विकसित न हो पाए थे। किन्तु जिस समय उसका रूप विकसित हो रहा था, उसी समय उसका मुसलमानों से संपर्क स्थापित हुआ, जिसका भाषा और साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव मिट गया था और हिन्दी की बोलियाँ विशेषतः ब्रज और अवधी, समर्थ हो गई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के शासनान्तर्गत खड़ीबोली को प्राधान्य मिला, यद्यपि स्फुट रूप में उसका प्रयोग अँगरेज़ों से पहले भी मिलता।

हिन्दी की बोलियाँ

ऊपर यह बताया जा चुका है कि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से आठ मुख्य बोलियों के समुदाय को 'हिन्दी' नाम से पुकारा जाता है, जिनमें पाँच पश्चिमी हिन्दी के और तीन पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं। इन आठ बोलियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :

खड़ीबोली : अपने मूल रूप में खड़ीबोली रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला, कलसिया तथा पटियाला रियासतों के पूर्वी भागों में बोली जाती है। मुसलमानी प्रभाव के निकट रहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से ग्रामीण खड़ीबोली में अरबी-फ़ारसी के तद्भव और अर्द्ध-तत्सम शब्दों का प्रयोग अन्य बोलियों की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। खड़ी बोली बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख से अधिक है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक भाषाओं—हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी—का मूलाधार है। जब उसमें संस्कृत तत्त्व प्रधान रहता है, तो वह खड़ी-बोली हिन्दी या केवल हिन्दी या खड़ीबोली कही जाती है। इस अर्थ में लल्लूलाल ने अपने 'प्रेमसागर' की भूमिका में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया है। इसी हिन्दी या देवनागरी लिपि में आधुनिक साहित्य का निर्माण हो रहा है, और यही राष्ट्रीय भाषा के पद पर आसीन हुई है। जब यही खड़ीबोली अरबी-फ़ारसी के अत्यधिक तत्सम और अर्द्ध-तत्सम शब्दों से समन्वित हो जाती है, फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है, विदेशी वातावरण में रंग जाती है, तो उसे उर्दू कहते हैं। उर्दू का शब्दार्थ है 'बाज़ार'। आरम्भ में उर्दू भाषा बाज़ारू भाषा ही थी। उसका प्रयोग दिल्ली या शाहजहाँबाद के महलों से बाहर शाही फ़ौजी बाज़ारों में होता था। विदेशी राज्य से होने के कारण अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार तो हो ही गया था। विदेशियों से बातचीत करने के लिए जब देशी बोली में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग होने लगा तो उर्दू का जन्म हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक उर्दू, आधुनिक साहित्यिक हिन्दी से कुछ पुरानी है। उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण हैदराबाद के मुसलमानी दरबार से आरम्भ हुआ और औरंगाबाद के वली साहब उर्दू साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस प्रकार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू खड़ीबोली के दो साहित्यिक रूप मात्र हैं।

खड़ीबोली का एक और रूप है जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। यह नाम सर्व-प्रथम स्वामी प्राणनाथ (अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में) और फिर यूरोपियनों द्वारा प्रयुक्त हुआ। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी या उर्दू भाषा का परिमार्जित बोलचाल का रूप 'हिन्दुस्तानी' कहा जाता है। उसमें देशी-विदेशी सभी प्रकार के प्रचलित शब्द काम में आते हैं। किन्तु व्यवहार में हिन्दुस्तानी का झुकाव उर्दू की ओर अधिक रहता है। यदि उसे उत्तर भारत के कुछ शिक्षित लोगों की बोलचाल की उर्दू कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। जनसाधारण में हिन्दुस्तानी का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है। साधारण अशिक्षित लोग अपनी-अपनी बोलियों का व्यवहार करते हैं, जैसे ब्रज, अवधी, कन्नौजी आदि। दक्षिण के ठेठ द्रविड़-प्रदेशों के साथ-साथ, खड़ीबोली का यह व्यावहारिक रूप समस्त भारत में समझ लिया जाता है। हिन्दु-स्तानी का कोई साहित्य नहीं है और वह देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है।

अमीर खुसरो की रचनाओं में दिल्ली के आसपास की खड़ीबोली का प्राचीन-तम रूप मिलता है। तत्पश्चात् उसका रूप दक्खिनी हिन्दी के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। उत्तर भारत के मुसलमान जब दक्षिण गए (ईसा की १३वीं-१४वीं शताब्दियों में) तो वे खड़ीबोली को भी अपने साथ लेते गए और कालान्तर में उसमें साहित्य-रचना भी प्रारम्भ हो गई। व्याकरण और शब्द-कोष तथा शब्द-रूपों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्टि से दक्खिनी हिन्दी उत्तर भारत की हिन्दी से अधिक भिन्न नहीं है। उसमें अरबी-फ़ारसी शब्द भी तद्भव रूप में प्रयुक्त हुए हैं। मुसलमानों के कारण उसके लिए फ़ारसी लिपि का प्रयोग अवश्य हुआ है। खड़ीबोली के राष्ट्रीय स्तर की ओर वह संकेत करती है, उसमें गद्य भी उपलब्ध होता है और उसके लगभग सभी लेखक मुसलमान हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार उर्दू तो हिन्दी के बाद की चीज़ है। दक्खिनी हिन्दी के सर्वप्रथम लेखक ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज़ सैयद मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) माने जाते हैं। उनके बाद कवि निज़ामी (१४६० ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दक्खिनी हिन्दी के साहित्य में सूफ़ी मत की प्रधानता है। फ़ारसी लिपि और शैली (मसनवी) का व्यवहार करते हुए भी दक्खिनी हिन्दी के कवियों तथा लेखकों ने भारतीयता सुरक्षित रखी है।

बाँगरू : यह बोली पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग या बाँगर प्रदेश में बोली जाती है। उसे जाटू या हरयाणी भी कहते हैं। यह यदि हिन्दी की सीमान्त बोली मान ली जाय तो अनुचित न होगा। दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा, झींद आदि की ग्रामीण बोलियाँ बाँगरू कही जाती हैं। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ीबोली तीनों का मिश्रण है। बाँगरू बोलने वालों की संख्या २२ लाख के लगभग है। कुरुक्षेत्र और पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध-क्षेत्र इसी बोली की सीमा में पड़ते हैं।

ब्रजभाषा : ब्रजमंडल में ब्रजभाषा बोली जाती है। मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और धौलपुर में इसका विशुद्ध रूप मिलता है। खड़ीबोली के साहित्यिक पद पर आसीन होने (१९वीं शताब्दी) से पूर्व ब्रजभाषा ही प्रधान साहित्यिक भाषा थी। गोकुल में वल्लभ संप्रदाय की स्थापना से ब्रजभाषा साहित्य का सूत्रपात माना जाता है। ब्रजभाषा में इतना बड़ा और सुन्दर साहित्य निर्मित हुआ है कि उसकी तुलना संसार के किसी भी उच्च कोटि के साहित्य से की जा सकती है। प्रसिद्ध कवि सूरदास ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की। आज भी अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य रचना करते हैं। ब्रजभाषा बोलने वालों की संख्या ७९ लाख के लगभग है।

कन्नौजी : यह बोली ब्रजभाषा से बहुत मिलती-जुलती है और ब्रजभाषा और अवधी के बीच के क्षेत्र में बोली जाती है। कन्नौजी का केन्द्र फ़र्रुखाबाद है, किन्तु हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, इटावा और कानपुर के आस-पास तक इसका प्रयोग मिलता है, कन्नौज के निवासी अनेक प्रसिद्ध कवियों ने ब्रजभाषा में रचनाएँ कीं। कन्नौजी बोलने वालों की संख्या ४५ लाख के लगभग है।

बुन्देली : यह बोली बुन्देलखण्ड में ब्रजभाषा क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी और होशंगाबाद में इसका शुद्ध रूप से प्रयोग होता है। मिश्रित रूप में यह दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाई जाती है। बुन्देलखंड मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का प्रधान केन्द्र रहा, किन्तु कवियों ने रचनाएँ ब्रजभाषा में ही कीं। बुन्देली बोलने वालों की संख्या ६९ लाख के लाख के लगभग है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवधी : अवधी को कोशली और बैसवाडी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी है। अवधी में जायसी कृत 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' जैसे ग्रन्थ-रत्न उपलब्ध हैं। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी के अतिरिक्त इलाहाबाद, फ़तेहपुर, कानपुर और जौनपुर जिलों के कुछ भागों में भी बोली जाती है। अवधी बोलनेवालों की संख्या १ करोड़ ४२ लाख के लगभग है।

बघेली : इस बोली का केन्द्र रीवा है, किन्तु किसी-न-किसी रूप में यह मध्य-प्रदेश के दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट जिलों तक प्रचलित है। बघेली बोलने-वालों की संख्या ४६ लाख के लगभग है।

छत्तीसगढ़ी : यह बोली मध्यप्रदेश में रायपुर और बिलासपुर के जिलों तथा कांकेर, राजनांदगांव, खैरागढ़, रायपुर, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर आदि में प्रचलित है। बघेली और छत्तीसगढ़ी का अपना कोई साहित्य नहीं है। किन्तु ये प्रदेश साहित्य रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या ३८ लाख के लगभग है।

हिन्दी की इन आठ बोलियों के अतिरिक्त हिन्दी के साथ विशेष सम्बन्ध तथा उत्तरप्रदेश की एक मुख्य बोली होने के कारण भोजपुरी भी उल्लेखनीय है। यह बना-रस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटानागपुर तक बोली जाती है। किन्तु इसमें कोई विशेष साहित्यकार नहीं मिलता। भोजपुरी प्रदेश के साहित्यकार भी ब्रजभाषा, अवधी या आधुनिक काल में खड़ीबोली में रचना करते हैं।

हिन्दी प्रदेश में साहित्य-रचना की दृष्टि से ब्रज, अवधी और खड़ीबोली मुख्य बोलियाँ है। गत एक हज़ार से कुछ अधिक वर्षों में हिन्दी भाषा का यथेष्ट विकास हुआ है। ईसा की दसवीं शताब्दी से लेकर लगभग सोलहवीं शताब्दी तक हिन्दी की बोलियों पर प्राकृत और अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उस समय हिन्दी बोलियों के निश्चित रूप विकसित नहीं हो पाए थे। १६वीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश का प्रभाव बिल्कुल हट गया और हिन्दी बोलियाँ, विशेषतः ब्रज और अवधी, स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पैरों पर खड़ी होने योग्य बनीं। यह विकास काल ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी १८०० ई०) तक चलता रहा। तत्पश्चात् अँगरेजी शासन काल में ब्रजभाषा और अवधी का ह्रास हो गया और उसके स्थान पर खड़ीबोली का प्रयोग हुआ—पहले गद्य-क्षेत्र में, फिर काव्य-क्षेत्र में। प्रेस तथा अन्य आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के कारण खड़ीबोली का प्रसार अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। बीसवीं शताब्दी में यह पूर्ण रूप से साहित्यिक भाषा हो गई है। १९वीं शताब्दी के अन्त तक काव्य के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा। किन्तु ब्रजभाषा पूर्णतया साहित्यिक क्षेत्र से लुप्त नहीं हुई।

साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय इन बोलियों में उपलब्ध साहित्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर ही विचार किया जाता है, जिसे सामूहिक रूप से 'हिन्दी साहित्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

हिन्दी शब्द-समूह

हिन्दी में अनेक शब्द तो सीधे संस्कृत से आये हैं, जिन्हें तत्सम कहते हैं। आधुनिक हिन्दी में ऐसे शब्दों का भी समावेश अनुदिन बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में ऐसे शब्दों की भी बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं, अथवा प्राकृत में होते हुए संस्कृत से निकले हैं। ऐसे शब्द तद्भव कहे जाते हैं। अनेक शब्द ऐसे भी हैं, जो संस्कृत के होते हुए भी प्राकृतभाषियों के प्रयोगों द्वारा भिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार के शब्दों को अर्द्ध-तत्सम कहते हैं। आधुनिक आर्य भाषा-समुदाय से आए शब्द हिन्दी में कम हैं। तत्सम और तद्भव शब्द-समूह के अतिरिक्त अनेक शब्द ऐसे हैं जिन्हें देशज कहते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं, अथवा जो भारत में आर्यागमन से पूर्व यहाँ के मूल निवासियों में प्रचलित थे, किन्तु बहुत पहले ही जिनमें अर्थ-विपर्यय हो गया था। सैकड़ों वर्षों तक विदेशी जातियों के शासन में रहने के कारण हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का काफी अधिक प्रभाव पाया जाता है। मुसलमानी शासन-काल में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, पश्तो आदि के अनेक शब्द हिन्दी भाषा के अंग बन गए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अँगरेजी तथा अँगरेजी के माध्यम द्वारा अन्य यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं। ऐसी भाषाओं में अँगरेजी, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली भाषाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी प्रकार के विदेशी शब्दों का सम्बन्ध या तो बाहर से आई हुई चीजों से है, अथवा विदेशियों द्वारा स्थापित संस्थाओं से है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी शब्दों का ध्वन्यात्मक विकास होकर हिन्दी में आगमन हुआ। अरबी, फ़ारसी ध्वनियों जैसे, क़, ख, ग़, ज़, फ़, आदि का प्रयोग होता भी है, नहीं भी होता। वैसे भाषा की ध्वनियों, रूपों और अर्थों के शास्त्रीय विकास की दृष्टि से हिन्दी प्राचीन आर्य भाषाओं की ही ऋणी है।

लिपि

भारतवर्ष में लिखने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। कुछ समय पूर्व विदेशी लेखकों जैसे बूहलर, वेबर, डीके, कुमेरी, सेनार्ट, विल्सन आदि का यह मत था कि भारतवर्ष में विचारों को लिपि-बद्ध करने की रीति बाहर (सेमेटिक पश्चिम एशिया) से आई। किन्तु अब यह मत मान्य नहीं है। कोलब्रुक, कनिंघम, जायसवाल, ओझा आदि विद्वानों ने उसकी आर्य-उत्पत्ति बताई है, यद्यपि उन्होंने फ़िनीशिअन से उसका कुछ सम्बन्ध माना है। अशोक-काल के अभिलेख तो प्राप्त हैं ही, किन्तु हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसे अभिलेख-खंड प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में लिखने की प्रथा बहुत प्राचीन है। पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' में लिपि का उल्लेख मिलता है। जैन सूत्रों के अनुसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारत में १८ लिपियाँ प्रचलित थीं। वैदिक साहित्य और बौद्ध महावग्ग के अनुसार भी भारतवर्ष में ईसा की ५वीं या ६वीं शताब्दी में लिखने की प्रथा विद्यमान थी। मेगस्थनीज़, सिकन्दर आदि के समय में भी लेखन-कला काफी उन्नत थी। इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत 'भारतीय लिपिमाला' (१८९४), बूहलर कृत 'ऑन दि ओरिजन ऑव दि इण्डियन ब्राह्म अलफ़ावेट' (१८९५, १८९८), और श्री राजवली पांडे कृत 'इंडियन पैलोग्रेफ़ी' से यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है।

भारतीय लिपि का प्राचीनतम उदाहरण सिन्धु घाटी (हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो) की लिपि में माना जाता है। वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी। यद्यपि कुछ विद्वान् उसमें और ब्राह्मी लिपि में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु अभी उन्हें इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। हमारी देवनागरी लिपि का अन्तिम सम्बन्ध ब्राह्मी लिपि से है। प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियों का प्रचार था। ब्राह्मी राष्ट्रीय लिपि थी, जो बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी और पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर शेष देश में उसका प्रचार था। 'खरोष्ठी' का शब्दार्थ है 'गधे के होंठवाली' और यह फ़ारसी लिपि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश में था। उसका प्रचार ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा। यह लिपि आर्य लिपि नहीं थी और इसका सम्बन्ध विदेशी सेमेटिक अरमइक् लिपि से था। उर्दू लिपि का विकास खरोष्ठी के आधार पर नहीं हुआ। वह अरबी-फ़ारसी लिपि पर आधारित है।

ब्राह्मी लिपि का मूल प्राचीनता के कारण ब्राह्म से या ब्राह्मणों से जोड़ा जाता है। मौर्य-काल में समस्त उत्तर भारत में उसका प्रचार था। पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में उसके प्रमाण पाये जाते हैं। अशोक के प्रसिद्ध शिलालेख तथा अन्य अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी है। इस लिपि का प्रचार ३५० ई० तक रहा। दक्षिण की लिपियों का सम्बन्ध ब्राह्मी की दक्षिण शैली से है।

ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग ब्राह्मी लिपि का नाम, गुप्त साम्राज्य के प्रभाव के कारण, गुप्त लिपि भी रख लिया गया था जिसमें गुप्तकालीन शिलालेख, ताम्रपत्रादि मिलते हैं।

ईसा की छठीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक गुप्त लिपि का विकसित रूप कुटिल लिपि का प्रचार रहा। अक्षरों तथा स्वरों की कुटिल आकृतियों के कारण ही उसे यह नाम दिया गया। इस काल के लेख इसी लिपि में मिलते हैं।

ईसा की दसवीं शताब्दी में प्राचीन देवनागरी और प्राचीन कश्मीरी शारदा लिपि का विकास कुटिल लिपि से हुआ। वर्तमान कश्मीरी और गुरुमुखी लिपियाँ शारदा लिपि से निकली हैं। प्राचीन नागरी की एक पूर्वी शाखा थी जिससे आधुनिक बँगला, मैथिली, उड़िया, नेपाली आदि लिपियों का विकास हुआ और उसी से गुजराती, कैथी, महाजनी आदि का सम्बन्ध है। 'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति कुछ लोग 'नागर ब्राह्मण' से मानते हैं, कुछ लोग 'नगर' शब्द से, और कुछ लोग अंतिम यंत्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'देवनगर' से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी अंतिम निर्णय नहीं हो पाया। दक्षिण में संस्कृत पुस्तकें इसी लिपि में लिखी जाती हैं जो 'नन्दिनागरी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ईसा की ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी में नागरी ने वर्तमान रूप धारण कर लिया था। उसका वर्तमान रूप तभी से चला आ रहा है।

लिपि सुधार

संसार में जितनी लिपियाँ प्रचलित हैं उनमें नागरी लिपि सबसे अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण है। किन्तु कालांतर में उसमें भी कुछ दोष उत्पन्न हो गए हैं। उसमें स्वरों और व्यंजनों की दृष्टि से त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—विशेषतः स्वर-विषयक अपूर्णताएँ उसमें बहुत हैं। मात्राओं की दृष्टि से भी कई व्यतिक्रम उत्पन्न हो गए हैं। ह्रस्व 'इ' की मात्रा 'ि' वास्तव में व्यंजन के बाद लगाई जानी चाहिये, क्योंकि हम पहले व्यञ्जन का उच्चारण करते हैं। इसीलिए उत्तर प्रदेशीय सरकार के लिपि-सुधार मे ह्रस्व 'इ' की मात्रा को आधी पाई के रूप में दीर्घ 'ई' की मात्रा की तरह आगे लगाए जाने का विधान रखा गया था। विदेशी, विशेषतः अनेक अँगरेजी, शब्दों के उच्चारण के लिए स्वरों का अभाव है। बोलियों की दृष्टि से दीर्घ और ह्रस्व मात्राओं के भेद-विभेद की आवश्यकता है। फिर कई अक्षरों के एक से अधिक रूप प्रचलित हैं (अ, अ ; ल, ल आदि)। र के प्रयोग में भी यही दशा है, कहीं 'र' आधा समझा जाता है, किन्तु है पूर्ण। संयुक्ताक्षरों के लिखने में भी 'र' सम्बन्धी अव्यवस्था है—प्रतीत होता है 'र' आधा है, किन्तु है पूर्ण। कुछ व्यंजन ऐसे हैं जिनमें दूसरे का भ्रम-सा हो जाता है—ख—र व आदि। कुछ अक्षर ऐसे हैं जिनका अब हम ठीक-ठीक उच्चारण नहीं करते—ऋ, ष, या ङ, अ, ण व्यर्थ हैं। इसी प्रकार के और छोटे-बड़े दोष हैं। उन्हें दूर करने की आवश्यकता है। फिर राष्ट्र-लिपि हो जाने से उसे भारत की अन्य ध्वनियाँ भी प्रकट करनी होंगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जाने से इस बात की और भी अधिक आवश्यकता होगी। आधुनिक वैज्ञानिक युग में प्रेस, टेलीप्रिंटर, टाइप-राइटर आदि की दृष्टि से भी उसमें सुधार की आवश्यकता है। परिवर्तन के इन आधारों के अतिरिक्त राष्ट्र की अखंडता, शासन-व्यवस्था की सुविधाओं, शिक्षा-प्रसार-योजनाओं, समाचार-पत्रों की बढ़ती हुई संख्या आदि कारणों का लिपि-सुधार से सीधा सम्बन्ध है।

इन सब उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए बहुत पहले वर्धा की राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति की ओर से सुधार का प्रयत्न किया गया था। इस सुधार को महात्मा गाँधी का आशीर्वाद भी प्राप्त था। यह सुधार 'अ' की बारहखड़ी या 'स्वरखड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुसार स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामंजस्य रखने के लिए, 'इ ई उ ऊ' के वर्तमान रूप को छोड़कर केवल 'अ' मे ही इन स्वरों की मात्राएँ लगाकर इन स्वरों के मूल स्वरूप का बोध कराना प्रधान सुधार था अर्थात् 'अ' की बारहखड़ी कराना अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै अो, अौ, अं अः। १९४५ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रति-संस्कृत देवनागरी लिपि का प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसमें अनेक नवीन कल्पनाएँ और चित्य बातें थीं—जैसे 'अ् (अ), अ (आ) आदि और प्राचीन रूप से बहुत पार्थक्य था। तो भी टाइप-राइटर, प्रेस आदि की दृष्टि से उसमें काफी सुविधाएँ थीं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने भी सुधार सम्बन्धी चौदह सुझाव रखे जिनमें शिरोरेखा की अनावश्यकता, प्रत्येक वर्ण का ध्वनि के उच्चारण-क्रम से लिखना, जैसे 'ए' 'ऐ' की मात्राएँ वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर जरा हटकर लगाना, 'उ' 'ऊ' 'ऋ' की मात्राएँ और अनुस्वार तथा अनुनासिक के चिह्न अक्षर के बाद लगाना, रेफ से व्यक्त होनेवाले अर्द्ध 'र' को उच्चारण क्रम से योग्य स्थान पर लिखना, संयुक्ताक्षरों में उच्चारण-क्रम का निर्वाह करना आदि, वर्धा की 'अ' की बारहखड़ी, वर्तमान 'ख' के रूप में परिवर्तन आदि प्रधान थे। उसमें भारत की अन्य ध्वनियों का भी ध्यान रखा गया था और वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ नए रूप सम्मिलित कर लिए गए थे। संस्थागत प्रयासों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत प्रयासों में नागरी लिपि-सम्बन्धी सुधार पर विचार किया गया है। टेलीप्रिंटर और टाइप-राइटर की दृष्टि से भी अनेक व्यक्तियों ने यांत्रिक परिवर्तन उपस्थित करने की कोशिश की है। इन सब प्रयासों में गुण-दोष दोनों हैं।

अन्त में १९४७ ई० में उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक देवनागरी लिपि सुधार समिति का संगठन किया। कुछ अड़चनों के कारण पाँच-छः महीने कार्य रुका रहने के बाद १९४७ ई० में समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस समिति में आचार्य नरेन्द्र देव (अध्यक्ष), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० मंगलदेव शास्त्री आदि विद्वान् थे। सुधार-सम्बन्धी जितने भी संस्थागत और व्यक्तिगत सुझाव थे, उन सब पर समिति ने विस्तार-पूर्वक विचार किया और रूपों तथा सिद्धान्तों की दृष्टि से उसे वर्धा, नागरी-प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रस्ताव पूर्णतः स्वीकृत न हुए। 'अ' की बारहखड़ी तो उसे बिल्कुल स्वीकृत न हुई। सम्मेलन के कुछ प्रस्ताव उसने अवश्य माने। यह समिति आमूल परिवर्तन या केवल मशीन की सुविधा के लिए ही कोई परिवर्तन करना न चाहती थी। नागरी लिपि के मूल रूप को बनाए रखते हुए अथवा उसमें न्यूनतम परिवर्तन से समस्त आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त करना उसका उद्देश्य था। इस दृष्टि से उसने जो सुझाव दिए, उनमें से प्रमुख-प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे :

१. मुद्रण और टाइप-राइटिंग की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओं को थोड़ा हटाकर केवल दाहिनी ओर बगल में, ऊपर और नीचे लगाया जाय—गांधी, कुंडल आदि।

२. शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर '०' शून्य लगाया जाय। व्यंजन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा वाङ्मय, तन्मय) शून्य लिखा जाय। अनुनासिक स्वर के लिए '' बिन्दी का प्रयोग हो।

३. शिरोरेखा लगाई जाय।

४. ऋ, लृ की मात्राएँ भी अन्य मात्राओं के सदृश थोड़ी हटाकर दाहिनी ओर नीचे लगाई जायँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५. जिन वर्णों का उत्तरार्ध खड़ी पाई-युक्त है, उनका आधा रूप खड़ी पाई निकालकर बनाया जाय, यथा ग पूर्ण रूप, ग् अर्ध रूप । उदाहरण : (वग्ग)

६. जिन वर्णों का उत्तरार्ध खड़ी पाई-युक्त नहीं है, उनका आधा रूप 'क' और 'फ' को छोड़कर हल-चिह्न '्' मात्राओं के ही समान बगल में नीचे की ओर लगाकर बनाया जाय, यथा ङ का आधा रूप ङ्। उदाहरण : राष्ट्र (राष्ट्र), विद्या (विद्या) ।

७. ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी और लगाई जाय ।

इन सिद्धान्तगत प्रधान सुझावों के अतिरिक्त समिति ने कुछ रूपगत सुझाव भी दिए । रूपगत सुझावों के अनुसार निम्नलिखित परिवर्तन प्रमुख थे :

१. 'अ' का रूप अब केवल 'अ' रहे ।

२. 'छ', 'झ', 'ण', 'घ', 'भ', 'र, 'ल' और 'ह' के रूपों में भी परिवर्तन स्वीकार किए जायँ ।

३. मात्राओं में ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप आगे की ओर भिन्न रूप में हो ।

४. 'क्ष' और 'त्र' के स्थान पर 'क्ष' और 'त्र' से काम लिया जाय ।

५. केवल पूर्ण विराम को छोड़कर अँगरेज़ी के विराम-चिह्न स्वीकार किए जायँ ।

संग्रथन (कम्पोजिंग), टाइप-राइटर आदि की दृष्टि से भी समिति के अपने कुछ सुझाव थे । समिति के सुझाव अभी कार्य-रूप में परिणत नहीं हुए थे कि इस सम्बन्ध में १९५३ ई० में उत्तरप्रदेश सरकार ने लखनऊ में एक सम्मेलन किया जिसमें उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्यों के प्रतिनिधि और शिक्षाविद् भी आए थे । इस सभा के प्रमुख निर्णय इस प्रकार थे :

१. छोटी 'इ' की मात्रा बाईं तरफ़ न लगाकर दाईं तरफ लगाई जाय और उसकी खड़ी पाई आधी कर दी जाय (ि) ।

२. 'र' के मेल से बने शब्दों में रेफ (र्) लगाने के बजाय या तो उसमें जुड़े हुए अक्षर को आधा कर दिया जाय अथवा हलन्त का प्रयोग किया जाय (प्रोतम, श्री आदि) ।

३. ग्र अ, झ झ, ण ण, ल ल, और श, ष में से केवल 'अ, झ, ण, ल, श' रूप रखे जायँ ।

४. संयुक्ताक्षर लिखते समय खड़ी पाई युक्त वर्ण में से खड़ी पाई हटा दी जाय और जिसमें खड़ी पाई नहीं है उसमें हलन्त लगाया जाय (ग्लानि, छप्पर आदि) । किन्तु 'क', 'फ' और 'ह' के चल रहे संयुक्त रूपों को बनाए रखा जाय ।

५. 'त्र' को निकाल दिया जाय ।

१९५५ ई० में उस समय उप-राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् के सभापतित्व में भी एक सभा लिपि-सुधार के उद्देश्य से हुई थी । १९५५ ई० में केन्द्रीय सरकार ने भी ये सुझाव स्वीकार कर लिये । किन्तु उत्तरप्रदेशीय सरकार के इन लिपि-संबंधी सुधारों का अच्छा स्वागत न हुआ—विशेषतः पहले और दूसरे सुधारों का । इसलिए १९५७ ई० में उत्तरप्रदेश सरकार ने फिर लखनऊ में एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें केवल उत्तर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रदेश के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में छोटी 'इ' और रेफ के सम्बन्ध में १९५३ ई० के निर्णय को रद्द कर परम्परा से चल रही पद्धति को मान लिया गया। शेष निर्णय ज्यों-के-त्यों बनाए रखे गए। १९५७ ई० के निर्णय के प्रकाश में अन्तर्राजकीय सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के ८, ९ अगस्त १९५९ के शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में लिपि-सुधार की समस्या प्रस्तुत की गई। काफ़ी विचार विनिमय के पश्चात् सम्मेलन ने उत्तरप्रदेश के १९५३ और १९५७ के निर्णय स्वीकार किए। 'इ' की मात्रा और रेफ के सम्बन्ध में १९५७ का निर्णय ही मान्य सिद्ध हुआ। साथ ही ऋ, लृ के रखने की कोई आवश्यकता न समझी गई। ड़, ढ़ जो १९५३ और १९५७ के सम्मेलनों में स्वीकृत नहीं हुए थे, रख लिये गये और 'श्री' का 'श्री' रूप अस्वीकृत ठहराया गया। संयुक्ताक्षरों की दृष्टि से १९५३ और १९५७ के सम्मेलनों के निर्णय ही स्वीकृत हुए। लिपि-सम्बन्धी अन्तिम स्थिति अब इस प्रकार है :

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ

ा ि ी ु ू े ै ो ौ ं :

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण (ड़, ढ़), त थ द ध न

प फ ब भ म य र ल व श ष

स ह क्ष ज्ञ त्र

उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग से प्रकाशित पुस्तकों में संयुक्ताक्षरों के स्थान पर हलन्त का और ह्रस्व 'इ' का प्रयोग दाईं ओर, किन्तु 'ि' रूप में होने लगा था। किन्तु अब इनका प्रचार बन्द कर दिया गया है। उपर्युक्त अन्तिम सुधारों के बाद अब लिपि-सुधार-सम्बन्धी माँग मन्द पड़ गई है और एक प्रकार से परम्परा का पालन हो रहा है।

अङ्क

नागरी अङ्कों का जन्म बहुत प्राचीन काल में हो गया था, यद्यपि उनकी व्युत्पत्ति अभी अनिश्चित है। वैसे वे भी ब्राह्मी अङ्क से विकसित हुए हैं। अशोक के लेखों में उनके कुछ चिह्न मिलते हैं। प्राचीन अंकों की उत्पत्ति कुछ विद्वान् विदेशी अंकों से प्रभावित मानते हैं। किन्तु यह मत मान्य नहीं है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में नागरी अंक-क्रम काफ़ी विकसित था। उसका वही रूप वर्तमान समय में है। 'शून्य' का आविष्कार भारतीय प्रतिभा की अमूल्य देन है। नागरी अंकों का क्रम अरबों ने सीखा और वहीं से फिर उनका यूरोप में प्रचार हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चार | अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध

शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' (१८७७) की भूमिका में लिखा है—'महाराजा विक्रमादित्य के समय तक भाषा-काव्य का प्रचार किसी प्रबन्ध और तवारीख से नहीं पाया जाता। राजा भोज की सभा में ये नव महान् कवि थे धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, बेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि। वे भी संस्कृत के कवि थे, और कोई ग्रन्थ भी उस समय का बनाया हुआ भाषा में नहीं देखा गया। भाषा-काव्य का मूल खोजने के लिए मैंने बड़े-बड़े ग्रन्थ यथावत् विधिपूर्वक बहुत उल्टे-पुलटे पर कुछ भी पता नहीं चला। मैंने विचारा, कदाचित् भाषा का प्रथम आचार्य चन्द कवीश्वर न हो, जिसने संवत् ११२५ में नाना छन्दों में पृथ्वीराज-रासो रचा है। जब पृथ्वीराज रासो के पत्र उलटे तो विदित हुआ कि चन्द कवि से पहले भी बहुतेरे अच्छे-अच्छे कवीश्वर हो गुज़रे हैं। तब मैंने टॉड साहब की किताब राजस्थान और राजतरंगिणी इत्यादि हिन्दू राज्यों के प्राचीन इतिहासों को देखना-भालना शुरू किया। किताब राजस्थान में मुझको अवंतीपुरी के एक प्राचीन इतिहास में लिखा मिला कि 'संवत् सात सौ सत्तर में अवंतीपुरी के राजा भोज के पिता मान काव्यशास्त्र में महा निपुण थे। उन्होंने संस्कृत अलंकार-विद्या पूषी नामक एक बन्दीजन को पढ़ाई। पूषी कवि ने संस्कृत अलंकारों का भाषा दोहरों में वर्णन किया। उस समय से भाषा-काव्य की जड़ पड़ी।' संभवतः यह पूषी कवि अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत हैं। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने शिवसिंह सेंगर का कथन उद्धृत करते हुए लिखा है कि इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि कवि का नाम पुष्य, पुष्प या पुण्ड था। स्वयं ग्रियर्सन को "राजस्थान' में किसी पुष्य का उल्लेख मिला, जो एक शिलालेख का रचयिता बताया गया है। यह लेख उसने किस भाषा में लिखा, इस बात का उल्लेख ग्रियर्सन को नहीं मिला। मिश्रबन्धुओं ने भी 'विनोद' के आदि प्रकरण में 'शिवसिंह 'सरोज' को उद्धृत करते हुए लिखा है—'आज सिवा नाम के पुंड की कोई रचना नहीं मिलती। आज-कल २४ नाथ कवियों का विवरण त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन नामक लेखक महाशय ने, १९८९ की 'गङ्गा' पत्रिका में निकाला है, जिसके आधार पर उनके कथन यहाँ दिये जाते हैं, इनमें से बहुतेरे आठवीं, नवीं, दसवीं आदि परम प्राचीन शताब्दियों के हिन्दी कवि कहे गए हैं। उनके ग्रन्थ बहुधा तंजौर में कहे जाते हैं। कवियों की प्राचीनता बहुत महत्ता-युक्त है, और दृढ़ आधारों पर अवलंबित जान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ती है।' मिश्रबन्धुओं का संकेत स्पष्टतः राहुलजी द्वारा बताए गए अपभ्रंश कवियों की ओर है। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपभ्रंश को ही 'पुरानी हिन्दी' के नाम से पुकारा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—'प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।' और, आगे चलकर उन्होंने जनश्रुति के रूप में शिवसिंह सेंगर के कथन की ओर संकेत किया है। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' (१९५४) में अपभ्रंश काव्य का संग्रह प्रकाशित करते हुए उसकी भाषा को हिन्दी का प्राचीन रूप कहा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की परम्परा 'प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था' से ही मानी जाती है। वास्तव में विक्रम की आठवीं; नवीं और दसवीं शताब्दियों में अपभ्रंश साहित्य का उत्कर्ष-युग माना जाता है, और चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, पुष्पदन्त, योगीन्द्र तथा बौद्ध सिद्ध इसी युग के प्रतिभाशाली कवि थे। इधर डॉ० रिचर्ड पिशेल[१] (१८७७), जाकोबी[२], म० म० हरप्रसाद शास्त्री,[३] चि० डॉ० दलाल[४], डॉ० हीरालाल जैन[५], डॉ० पी० एल० वैद्य[६], डॉ० बाबूराम सक्सेना[७], डॉ० शहीदुल्ला[८], डॉ० बागची[९], डॉ० लुद्विग अल्सडोफ[१०], डॉ० उपाध्ये[११], ह० भयाणी[१२], राहुलजी[१३], नाथूराम प्रेमी[१४], डॉ० सुकुमार सेन[१५] आदि विद्वानों के प्रयासों के फलस्वरूप अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन आगे बढ़ा है

---

१. 'हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण'; 'आइन नाख् टागत्सुर ग्रामैटीक डिया प्राकृत श्प्राखेन', 'माटेरिआलिएन त्सूर केण्टनिस डेस अपभ्रंश'।
२. 'प्राकृत कथाओं का संग्रह', 'कालकाचार्य कथानक', 'पउम चरिउ' आदि प्राकृत कृतियाँ, अपभ्रंश 'भाविसयत्त कहा' और सनत्कुमार चरित'।
३. बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ—'बौद्ध गान ओ दोहा।
४. पारण के भण्डारों से अपभ्रंश कृतियाँ।
५. कारंजा जैन-ग्रन्थ-भंडार से अपभ्रंश ग्रंथ, और 'सावयधम्म दोहा'. 'पाहुड दोहा', 'करकंडु चरित', 'नागकुमार चरित' का संपादन।
६. पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' और 'जसहर चरिउ'।
७. विद्यापति कृत 'कीर्तिलता'।
८. चर्यापदों का अध्ययन।
९. चर्यापद और दोहाकोष।
१०. पुष्पदन्त कृत महापुराण का एक अंश हरिवंश पुराण, 'कुमारपाल प्रतिबोध' का अपभ्रंश अंश तथा अपभ्रंश स्टुडिएन।
११. 'परमात्म प्रकाश'।
१२. 'संदेश रासक'।
१३. स्वयंभू कृत रामायण तथा सिद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ।
१४. 'जसहर चरिउ', 'नायकुमार चरिउ'।
१५. चर्यागीत, ब्रजगीत बँगलाक्षरों में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और पहले की अपेक्षा अधिक सामग्री भी प्रकाश में आई है। आमेर-शास्त्र भण्डार (जयपुर), भारतीय विद्या भवन, भारतीय ज्ञान-पीठ जैसी संस्थाओं ने भी काफी अपभ्रंश साहित्य प्रकाशित किया। अनेक ग्रंथ जैन-ग्रंथ-भाण्डारों से भी उपलब्ध हुए हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी खोज की आवश्यकता है, जिससे हिन्दी साहित्य के आविर्भाव-काल पर प्रकाश पड़ेगा। श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तम स्वामी, श्री मोतीलाल मैनारिया आदि विद्वानों ने राजस्थानी से सम्बन्धित आदि काव्य-रचनाओं का पता लगाया है, जो साहित्यिक अपभ्रंश में लिखी हुई हैं, जिनका कुछ-कुछ सम्बन्ध गुजराती से भी है, और जिनसे हिन्दी साहित्य की आदि-कालीन परम्परा समझने में बहुत सहायता मिलती है। इन सब प्रकार की खोजों के फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पुरानी हिन्दी का अपभ्रंश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, विभिन्न अपभ्रंशों से ही आधुनिक आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ। अपभ्रंश की ये रचनाएँ हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग के चारों ओर निर्मित हुईं। मध्य में किस प्रकार की रचनाएँ हो रही थीं, यह बात जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं हो सका। जो सामग्री मिलती भी है, उससे उस आदिकाल की प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता और उसके सम्बन्ध में प्रामाणिकता का अभाव भी है।

काव्य-रूप, शैली तथा छन्द

हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए पूर्वोल्लिखित अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का अत्यन्त महत्त्व है। विषय, छन्द, शैली आदि की दृष्टि के अपभ्रंश साहित्य की अनेक बातें आदि तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में सुरक्षित पाई जाती हैं। जैन रचनाएँ यद्यपि अधिकतर धार्मिक हैं, किन्तु उनका भाषा-सम्बन्धी और साहित्यिक महत्त्व भी किसी प्रकार कम नहीं है। इस विशाल साहित्य की रचना विदर्भ, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मिथिला और मगध में हुई थी। सम्प्रदायों के आधार पर जैन, ब्राह्मण, और शैव रचनाएँ मिलती हैं। जैन और ब्राह्मण ग्रन्थों में साहित्यिकता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। अपभ्रंश में पुष्पदन्त कृत 'महापुराण', पौराणिक ग्रंथों, लौकिक व्यक्तियों के प्रेम-प्रधान चरित्रों ('भविष्यदत्त कथा'), 'संदेश रासक' जैसी कल्पना-प्रधान काव्य-कृतियों के रूप में खंड-काव्यों, 'कीर्तिलता' जैसे ऐतिहासिक खण्ड-काव्यों, या चरित्र-काव्यों, व्रतादि से सम्बन्धित छोटी-छोटी पद्यबद्ध रचनाओं के रूप में प्रबन्धात्मक साहित्य मिलता है। दोहाबद्ध वैराग्य-उपदेश-प्रधान और शृङ्गार-प्रधान (हेमचन्द्रादि के दोहे) रचनाओं और पद-शैली के गीतों के रूप में मुक्तक साहित्य के उदाहरण मिलते हैं। मध्ययुगीन (१४वीं-१५वीं शताब्दी) साहित्य के रूप, शैली आदि की दृष्टि से हिन्दी का जो रूप है, वह इन्हीं अपभ्रंश काव्यधाराओं का विकसित और पुष्ट रूप है। वास्तव में मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने भावधारा से लिए संस्कृत से और बाह्य रूपों के लिए अपभ्रंश से प्रेरणा ग्रहण की,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि अपभ्रंश के कुछ काव्य-रूपों का सम्बन्ध सीधा जनता से था। उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य के आधार पर हिन्दी काव्य की कई धाराओं का आरम्भ कम-से-कम ईसा की ८वीं शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार कर लेना असंगत न होगा।

हिन्दी चारण (रासो) साहित्य या तो ब्रजभाषा पिंगल-प्रधान है या डिंगल भाषा-प्रधान। भावधारा की दृष्टि से ब्रजभाषा पिंगल-प्रधान चारण साहित्य अजैन और जैन दोनों तरह का है। अजैन ग्रंथों में प्रबंधात्मक रूप ऐतिहासिक वीर पुरुषों का पराक्रमपूर्ण वर्णन मिलता है और जैन रचनाओं में धार्मिक व्यक्तियों तथा व्रतादि की कथाएँ मिलती हैं। काव्यत्व की दृष्टि से जैन रचनाएँ हीन कोटि की हैं। अजैन ग्रंथों में चन्द कृत 'पृथ्वीराजरासो', ब्रह्मभट्ट या दलपति (दौलत) विजय कृत 'खुमाण-रासो', जगनिक कृत 'आल्हखण्ड', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' केशव कृत 'वीरसिंहदेव चरित' (१६०७), गोरेलाल कृत 'छत्रप्रकाश' (१७०७), श्रीधर कृत 'जंगनामा' (१७१२) सूदन कृत 'सुजान चरित्र' (१७४५-१७५३), पद्माकर कृत 'हिम्मतबहादुर विरदावली' (१७९२ और १७९९ के बीच), जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' (१८२८), चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' (१८४५) आदि और जैन ग्रंथों में धर्मसूरि कृत 'जम्बू स्वामी रास' (१२०९), उदयवंत श्वेतांबर साधु कृत गोतम रासो' (१३५५), अंबदेव कृत 'समराशाह रास' (१३१४), महानंद कृत 'अंजना सुंदरी रास' (१६०४), पृथ्वीपाल कृत 'श्रुत पंचमी रास' (१६३५), अचलकीर्ति कृत 'धर्मरासो' (१६६६) आदि रचनाएँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। डिंगल भाषा-प्रधान रचनाओं में भी 'राउ जइतसी राउ', 'वचनिका रतन सिंघ री', 'राणा रासो', 'विजयपाल रासो', आदि रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। यहाँ तक कि गुजराती में अपनी अलग रास-परम्परा है। कथागत रूप-रेखा, लम्बी-लम्बी वर्णन-सूचियों, छन्दों आदि की दृष्टि से इन रचनाओं तथा अपभ्रंश की रचनाओं में बहुत समानता है। इसी प्रकार जायसी कृत 'पद्मावत' (१५४०)। मंझन कृत 'मधुमालती' (१५५२), उसमान कृत 'चित्रावली' (१६१३), नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' (१७४४) आदि आध्यात्मिक एवं ऐहिकता-मूलक प्रेम-कथाओं का मूल स्रोत भी अपभ्रंश में मिलता है। वन्दना-प्रधान और अवांतर कथाओं, संवेदनात्मक संयोग-वियोग, जीवन के गम्भीर और अगम्भीर पक्षों के चित्रण की दृष्टि से वे अपभ्रंश साहित्य की समान कृतियों से समानता रखती हैं। गणपति कृत 'माधवानल कामकन्दला' और नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध आदि से सम्बन्धित लौकिक प्रेमकथाएँ मिलती हैं, यद्यपि उन पर धर्म का आवरण चढ़ा हुआ है। 'भविष्यदत्त कथा', 'सुदर्शन चरित', जिनदत्त चरिउ' जैसी अपभ्रंश रचनाओं के पात्र दिव्य मनुष्य हैं और समुद्र में कष्ट सहकर भी प्रेमी-प्रेमिका मिल जाते हैं। छंदों के आधार पर भी हिन्दी की ये कृतियाँ अपभ्रंश के लगभग समान हैं। अपभ्रंश कृतियाँ कडवकों में विभक्त और लोकप्रिय शैली में लिखी गई मिलती हैं। हिंदी में दोहा-चौपाई वाला रूप पूर्ववर्ती अपभ्रंश की कृतियों के अनुरूप है, केवल अंतर इतना ही है कि अपभ्रंश घत्ता के स्थान पर हिंदी में दोहा का प्रयोग हुआ है। केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोहे वाला अपभ्रंश रूप अभी उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पद्यों के आधार पर अपभ्रंश में भी दोहा छन्द के प्रयोग के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। 'माधवानल कामकन्दला' और 'ढोला मारू रा दूहा' का पूर्ववर्ती रूप हेमचन्द्र द्वारा संग्रहीत शृङ्गारपरक दोहों में मिल जाता है। अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में कल्पित कथाएँ मिलती हैं। वास्तव में दोनों में नाम तो ऐतिहासिक मिलते हैं, किन्तु घटनाएँ लोक-परम्परा से ग्रहण की गई हैं। हिन्दी का 'मानस' एक प्रसिद्ध धार्मिक-साहित्यिक चरित्रकाव्य है। अपभ्रंश में स्वयंभू कृत 'पउम चरिउ' लगभग वैसा ही ग्रन्थ है। 'मानस' और 'पउम चरिउ' में प्रारम्भ, सरोवर का रूपक, सज्जन-दुर्जन का स्मरण आदि बातें समान रूप से मिलती हैं। पुष्पदन्त के महापुराण में भी रामायण की कथा मिलती है। समानता का यह अर्थ नहीं है कि तुलसी ने उन्हीं के अनुकरण पर, 'मानस' की रचना की अपभ्रंश की कडवक-बद्ध शैली 'मानस' में भी स्वीकृत हुई है। चौपाई-दोहा शैली एक प्रकार से अपभ्रंश की पद्धडिया-घत्ता शैली ही है। हिन्दी में केशवकृत 'रामचन्द्रिका' जैसे साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य के समान अपभ्रंश में भी प्रयास पाए जाते हैं और जिनमें विविध प्रकार के अनेक छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। नयनन्दि के 'सुदर्शन चरिउ', और लाखू के 'जिनदत्त चरिउ' में केशव और तुलसीकृत 'कवितावली' से पूर्व की परम्परा मिलती है। सूर की कृति का पदों वाला रूप बौद्ध सिद्धों के रागबद्ध पदों के 'गानों' में मिलता है, यद्यपि पदों के रूप में प्रबन्ध रचना का कोई उदाहरण अपभ्रंश में उपलब्ध नहीं है।

मुक्तक रचना की दृष्टि से पदों का रूप बौद्ध सिद्धों में है, किन्तु उनमें गीति-तत्त्व कम है, विवेचना का प्रयास प्रधान है। भावधारा की दृष्टि से सिद्धों के पदों और गोरखवानी तथा कबीर के पदों में बहुत साम्य मिलता है। नाद, बिन्दु, रवि, शशि आदि शब्दावली की समानता के अतिरिक्त जो खण्डन की प्रवृत्ति सिद्धों के 'दोहा कोष' में मिलती है, वही कबीर की बानी में भी प्राप्त होती है। 'चर्यागीतों' के कुछ पदों में गीतात्मकता भी मिलती है। ऐसे स्थल वे हैं जहाँ सिद्धों ने परम सुख का अनुभव व्यक्त किया है। हिन्दी में उपदेश, मत-विवेचन, खण्डन-मण्डन शृङ्गार नीति आदि अनेक विषयों के लिए कबीर तथा अन्य सन्तों, तुलसी, बिहारी आदि ने दोहा छन्द का प्रयोग किया है। प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' (१ली से ८वीं शताब्दी) और 'वज्जालग्ग' (१३९३ से पूर्व) में इन्हीं विषयों से सम्बन्धित पद संगृहीत हैं। 'गाथा सप्तशती' और बिहारी के दोहों में साम्य एक विशिष्ट परम्परा का द्योतन करता है। सन्तों की साखियों का पूर्वरूप योगीन्द्र, मुनि रामसिंह, देवसेन आदि के अपभ्रंश पद्यों में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अनेक पदों से बिहारी के पद्यों की सरलतापूर्वक समता की जा सकती है। हिन्दी के सवैया और कवित्त छन्दों का प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में अवश्य नहीं मिला। संभव है, पूर्ण सामग्री उपलब्ध हो जाने पर इस सम्बन्ध में कुछ ज्ञात हो।

इस प्रकार हिन्दी के लगभग सभी बाह्य रूपों के मूल अपभ्रंश में मिल जाते हैं। चरित-काव्यों, रासक रचनाओं, प्रेमाख्यानक कृतियों, स्फुट पदों, दोहों—सभी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के मूलाधार अपभ्रंश में हैं। यहाँ तक कि भाव-धारा तक का साम्य मिल जाता है। हिन्दी में कहीं-कहीं बाह्य रूप तो अपभ्रंश का ही है, किन्तु वर्ण्य-विषय अन्य स्रोतों से लिया गया है। तुलसी, जायसी आदि ने चरित्र-काव्यों में वंदना, कवि-नम्रता, सज्जन-दुर्जन-वर्णन आदि की पद्धति ग्रहण की, वह पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' तथा 'जसहर चरिउ' और स्वयम् कृत 'पउम चरिउ' और अपभ्रंश के अनेक जैन चरित काव्यों की भाँति है। अब्दुर्रहमान कृत 'संदेश रासक' में और जायसी के वियोग-वर्णन में बहुत-कुछ साम्य है। छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से यद्यपि हिन्दी के कवियों ने अपनी मौलिकता प्रकट की है, किन्तु अपभ्रंश काव्य की छन्द-सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ हिन्दी कविता में मिल जाती हैं। अपभ्रंश कृतियों में कडवकों के समूह-सन्धि के प्रारम्भ में और कडवक के अन्त में सभी कृतियों में घत्ता-प्रयोग अवश्य मिलता है। इस शैली का प्रयोग हिन्दी में 'मानस', प्रेमाख्यान कृतियों, कुछ वीर कृतियों, 'सूरसागर' के कथात्मक अंशों आदि में हुआ है। हिन्दी-कवियों में अपभ्रंश की चरित-काव्य शैली का प्रायः अनुगमन मिल जाता है। अपभ्रंश के छन्दों का सबसे अधिक प्रयोग चारण-काव्य में हुआ है। कुछ छन्दों के नाम और उनकी व्यवस्था हिन्दी में बदल भी गयी है। अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है, यद्यपि वर्ण-वृत्तों का नितांत अभाव नहीं है। गाहा या गाथा प्राकृत का प्रिय छन्द है। अपभ्रंश में विभिन्न प्रकार की रचनाओं में विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। चरित्र-काव्य में कडवकबद्ध छन्दों का प्रयोग होता था। वर्मन के अनुसार छन्द-व्यवस्था में परिवर्तन भी हो जाता है। दो विभिन्न छन्द मिलाकर नवीन छन्द बनाने की स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय भी मिलता है। अपभ्रंश में समद्विपदी, समचतुष्पदी, अर्द्धसमचतुष्पदी, मिश्र-मात्रा बन्ध या द्विभंगी छन्द आदि का और दोहा शैली, पद्धड़िया शैली और पद-शैली का प्रचार मिलता है। प्रकारान्तर से ये सभी बातें हिन्दी साहित्य में भी प्रचलित रही हैं। अपभ्रंश के चरित्र-काव्यों में वर्णिक वृत्तों का भी अधिक प्रयोग हुआ है, किन्तु हिन्दी में केवल चंद, केशव, सूदन आदि कुछ कवियों को छोड़कर अन्य कवियों ने वर्णिक वृत्तों का कम प्रयोग किया है। हिन्दी के पदों की टेक या स्थायी का मूल रूप अपभ्रंश में है। अभी इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अपभ्रंश में दो छन्दों के मेल से मिश्र-बन्ध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि का निर्माण होता था। पद की बनावट में छन्द की दृष्टि से यही तत्त्व मिलते हैं। अलंकार-योजना की दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—१. वे रचनाएँ जिनमें शास्त्रीय दृष्टि से अलंकृत वातावरण मिलता है, और २. वे रचनाएँ जिनमें सामान्य लोकप्रिय वातावरण मिलता है। हिन्दी साहित्य में भी दो प्रकार की रचनाओं का निर्माण हुआ। अपभ्रंश के कवियों, विशेषतः साधकों, ने सरल रूपकों का प्रयोग किया। उन्होंने परिचित जीवन के उपकरण देने की चेष्टा की। कबीर तथा अन्य सन्तों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। सामान्य पाठकों के कारण अपभ्रंश और हिन्दी के साधकों ने सरल कल्पनाशैली ग्रहण की। अपभ्रंश के समान हिन्दी में भी अनेक ध्वन्यात्मक शब्दों की सृष्टि हुई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय

मध्ययुगीन हिन्दी काव्य-साहित्य विषय की दृष्टि से या तो राम, कृष्ण आदि पौराणिक कथाओं या लोक-कथाओं (वीर-काव्यों, रासक रचनाओं और प्रेमाख्यानक काव्यों में) पर आधारित है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी ये दो वर्ग मिलते हैं। जैन कवियों ने अपभ्रंश में रचित अपने पुराणों में लोक-कथा का ही आश्रय ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी की पौराणिक कथाएँ ब्राह्मण पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित रही हैं और लोक-कथाओं, विशेषतः प्रेमाख्यानक काव्य की कथाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव है। सिंहल द्वीप की पद्मिनी, स्वप्न-दर्शन, सिंहल द्वीप की यात्रा, जोगीखंड, रास्ते की कठिनाइयाँ, विश्वासघात, अंत में प्रेमियों का मिलन आदि बातें 'लीलावती', 'भविष्यदत्त कथा', कनकामर कृत 'करकण्डु चरिउ', लाखू के 'जिनदत्त चरिउ' आदि में मिलती हैं। कहीं-कहीं तो पद्मावती नाम तक मिल जाता है। सिंहल की पद्मिनी को रूपवती स्त्रियों का प्रतीक माना जाता था। अपभ्रंश में सिंहल द्वीप की कथा अत्यन्त प्रिय विषय रही, यद्यपि प्राकृत में भी वह कुछ-कुछ प्रचलित थी। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में कथात्मक दृष्टिकोण बहुत-कुछ समान है। प्रेमाख्यानों को छोडकर हिन्दी की अन्य काव्य-धाराओं पर अपभ्रंश के कथानकों का प्रभाव नहीं के बराबर प्रतीत होता है। कृष्ण-काव्य के कुछ अंश पढ़कर पूर्ववर्ती अंशों का ध्यान आवश्यक हो जाता है। 'गाथा सप्तशती' के कुछ पद्यों में राधा, कृष्ण, गोपियों के उल्लेख मुक्त और स्वच्छन्द ढङ्ग से हुए हैं, जो प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं मिलते। स्वयंभू, हेमचन्द्र (प्राकृत व्याकरण ने उद्धृत), पुष्पदन्त (कृष्ण की बालक्रीड़ा और गोपियों के सरस वर्णन) आदि की कृतियों में कुछ उल्लेख ऐसे मिल जाते हैं जिससे पता चलता है कि कृष्ण की मर्यादित कथा के अतिरिक्त गोपी-गोपालों के प्रिय कृष्ण की कथा का एक लोकप्रिय रूप भी प्रचलित था और जो अपभ्रंश साहित्य की एक धारा में प्रवाहित हुआ। जो मुक्त वातावरण सूर में मिलता है, वह स्वयंभू, हेमचन्द्र और पुष्पदन्त के पद्यों में नहीं मिलता है। हिन्दी जैन-काव्य पर पर जैन अपभ्रंश कथानकों का पर्याप्त प्रभाव मिलना स्वाभाविक ही है, यद्यपि एक ओर हिन्दी जैन-काव्य में सरलता कम है, और दूसरी ओर अनेक जैन-कृतियाँ अपने ढङ्ग की अनुपम हैं। कुछ जैन रास-रचनाओं में प्राकृत-अपभ्रंश जैन-कथाओं को हिन्दी का रूप देने की सफल चेष्टा भी की गई है। १५७६ में रचित ब्रह्मरायमल्ल कृत 'भविष्यदत्त कथा', १५८५ में रचित जिनदास कृत 'जम्बूस्वामी कथा' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। विषय की दृष्टि से ये कृतियाँ जैन प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में मिलती हैं। हिन्दी के राम-कथा-साहित्य पर अपभ्रंश का कदाचित् कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में हिन्दी कवियों की दृष्टि केवल साहित्य की ओर ही रही, यह बात पूर्णरूपेण नहीं कही जा सकती।

विचारधारा

विचारधारा की दृष्टि से परवर्ती नाथपंथियों और सन्तों की वाणियों में जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर मिलता है वह मूलतः जैन साधक योगीन्द्र, मुनि रामसिंह, आनन्द, सुप्रभाचार्य आदि बौद्ध सिद्ध सरहपा, कण्हपा आदि की वाणियों में मिलती है। यद्यपि जैन, बौद्ध और शैव-साधकों एवं मर्मियों की जो रचनाएँ अपभ्रंश में मिलती हैं, वे कम हैं, तथापि ७वीं शताब्दी से लेकर १२वीं-१३वीं शताब्दी तक की चिंताधारा और साधना के मार्ग पर प्रकाश डालने के लिए यथेष्ट हैं। सभी ने बाह्याचारों का विरोध और जप, तप, पूजा, तीर्थ, वर्ण व्यवस्था, अवतारवाद आदि परम्पराओं का खण्डन किया। वे अब्राह्मण साधक थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदविहित मार्ग में अनास्था रखने वाले और संसार के प्रति अनासक्ति-भाव रखनेवाले लोग भारतवर्ष में सदैव रहे हैं। इन साधनों के मूल उपदेश समान हैं। परम समाधि, गुरु, सत्संग, सहजानन्द, ब्रह्मानन्द खण्डन-मण्डन, शास्त्रों की निस्सारता आदि का लगभग सभी ने उल्लेख किया है। सिद्धान्त प्रकट करने की उनकी शैली में भी समानता मिलती है। कबीर और गोरख की उलटबाँसियों की तुलना सिद्धों की उक्तियों से की जा सकती है। बैल, गाय, जुलाहा, चन्द्र, सूर्य, वन-पशु आदि रूपक सिद्धों द्वारा प्रयुक्त रूपकों की भाँति हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में 'सावयधम्म दोहा' जैसी रचनाओं में गृहस्थों के लिए उपदेश हैं, जो हिन्दी में कबीर, तुलसी, रहीम आदि की रचनाओं में भी मिलते हैं। बिहारी तथा अन्य मध्ययुगीन कवियों ने शृङ्गार और सुभाषितों द्वारा जो भाव प्रकट किए हैं, उनकी स्फुट धारा के दर्शन 'गाथा सप्तशती,' 'वज्जालग्ग', हेमचन्द्र की रचनाओं आदि में होते हैं।

निष्कर्ष

वास्तव में विषय-निर्वाह, छन्द, शैली, संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों के स्थान पर वीर चरित-काव्य प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्धात्मक चरित-काव्य, संस्कृत के शास्त्र-सम्मत वातावरण से भिन्न मुक्त वातावरण आदि की दृष्टि से हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश के ७वीं से १२वीं शताब्दी तक के साहित्य की छाप है। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने संस्कृत काव्य-रूपों का अनुकरण नहीं किया। तुलसी, सूर आदि जिन संत और भक्त कवियों ने अपना सम्बन्ध किसी संप्रदाय विशेष से रखा, उन पर अपभ्रंश का प्रभाव सीमित रूप में ही पड़ सकता था। जिन कवियों के सामने सांप्रदायिक प्रतिबन्ध नहीं थे, उन्होंने अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित हो लोकप्रियता को ही अधिक अपनाया। अपभ्रंश साहित्य का वैभव हिन्दी को उत्तराधिकार में मिला। विद्वानों का मत है कि हिन्दी का प्रारंभिक युग चतुर्मुख, द्रोण, स्वयंभू, सरहपा; योगीन्द्र आदि कवियों की रचनाओं से ही प्रारम्भ हो गया था। हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध केवल संस्कृत साहित्य ही से नहीं है अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है। प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के अधिकाधिक बढ़ते हुए अध्ययन से हिन्दी साहित्य की अन्य अनेक बातों पर प्रकाश पड़ेगा और उसकी जड़ें अधिक गहरी निकलेंगी, ऐसी आशा है। पूर्ववर्ती साहित्य से प्रेरणाएँ ग्रहण करते हुए भी हिन्दी साहित्य ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया, यह उसकी सजीवता का प्रमाण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाँच | हिन्दी साहित्य की सामग्री और काल-विभाजन

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन

हिन्दी साहित्य का निर्माण तो बहुत समय से चला आ रहा था, किन्तु उसके वैज्ञानिक अध्ययन और सामग्री के संकलन का प्रयास प्रारम्भ हुए अभी लगभग सौ वर्ष हुए हैं। प्राचीन काल के कुछ कवियों ने अपने सम्बन्ध में कुछ कहा है, अथवा अपने पूर्ववर्ती या समकालीन कवियों का उल्लेख किया है, अथवा कुछ भक्तों की जीवनियाँ लिखी गई हैं। किन्तु एक तो यह कार्य स्फुट रूप से हुआ, दूसरे उनसे साहित्य की प्रगति और प्रवृत्तियों तथा विचारों का परिचय प्राप्त नहीं होता। अतः साहित्य का इतिहास लिखते समय उनसे सहायता अवश्य मिलती है, किन्तु स्वयं अपने में वे इतिहास नहीं हैं। इतिहास लिखने का प्रयास तो इसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य से प्रारम्भ होता है। उस समय भी शुरू में कवियों और कविकृतियों की सूचियाँ ही अधिक मिलती हैं, न कि साहित्य की प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का विवेचन। साहित्य का इतिहास अपने व्यापक रूप में प्रत्येक परिवर्तनक्रिया का विवरण है। विश्व में कोई चीज स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं है। हमारा समाज तथा हमारी संस्थाएँ परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन की यही क्रिया साहित्य, दर्शन, राजनीति आदि क्षेत्रों में कार्य करती रहती है। इसलिए साहित्य को उसे उत्पन्न तथा प्रभावित करने वाली परिस्थिति, वातावरण—सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि—से संबद्ध कर देखना पड़ता है। प्रत्येक काल की अपनी अलग भावना एवं विचारधारा होती है। उसी के अध्ययन करने का नाम साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन है।

अध्ययन करने के दो साधन : अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य

साहित्य के इतिहास के अध्ययन करने के दो प्रधान साधन हैं। एक तो स्वयं कवि-ग्रन्थों, उनकी रचनाओं के संग्रहों, और सम्पादकों तथा कवियों द्वारा आत्म-निवेदन के आधार पर साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है। वास्तव में कवि की कृति या कृतियों का अध्ययन करना हो एक युग विशेष के जीवन की प्रवृत्तियों का अध्ययन करना है। कवि की रचनाओं का सम्बन्ध इतिहास, राजनीति, धर्म, समाज आदि सभी पक्षों में हो सकता है। इतिहास लिखने के लिए रचनाओं की खोज अत्यन्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवश्यक है। साहित्य विषयक इस प्रकार की सामग्री अन्तःसाक्ष्य के रूप में मानी जाती है। अन्तःसाक्ष्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में मानी जाती है। बाह्य साक्ष्य से तात्पर्य है स्वयं रचयिताओं की रचनाओं को जोड़कर उनके सम्बन्ध में अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री। अन्तः साक्ष्य वाली सामग्री ही अधिक विश्वसनीय मानी जाती है। हिन्दी में अन्तः साक्ष्य वाली सामग्री की खोज और वैज्ञानिक सम्पादन-कार्य समय-समय पर विविध-व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा होता रहा है। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसायटी (१७८४) द्वारा एक ग्रन्थमाला प्रकाशित करने की आयोजना बनाई गई थी जिसमे लगभग छः सौ संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों का पता चलता है। तत्पश्चात् १८९३ में नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित हुई और १८९९ में उसने ग्रन्थों की खोज का कार्य प्रारम्भ किया। इस खोज के सम्बन्ध में पहले तो वार्षिक और फिर त्रैमासिक रूप में सभा अपनी रिपोर्टें प्रकाशित करती रही है, जिनमे साहित्य की सामग्री के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी एवम् महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन रिपोर्टों से केवल सूचनाएँ ही मिलती हैं, तो भी इन सूचनाओं के आधार पर साहित्येतिहास की बहुत-कुछ रूपरेखा तैयार हुई और शोध-कार्य को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मूल ग्रन्थों की खोज का कार्य एशियाटिक सोसायटी ने फिर उठाया और डॉ० ए० टैसिटरी को यह कार्य सौंपा गया। उन्होंने 'ए डेस्क्रिप्टिव कैटैलॉग ऑव बार्डिक ऐंड हिस्टॉरिक मैन्यूस्क्रिप्ट्स—पार्ट I प्रोज, पार्ट III पोइट्री' शीर्षक विवरण प्रस्तुत किया। टेसिटरी ने दो ग्रन्थों का सम्पादन भी किया—'छन्द रावजयतमी' और 'कृष्ण-रुक्मिणी वेलि'। मूल ग्रन्थों की खोज के अतिरिक्त हस्त-लिखित प्रतियों का संग्रह भी साहित्य के 'इतिहास-लेखन' के लिए आवश्यक है। यह कार्य सभा, खुदाबख्श लाइब्रेरी पटना, राजस्थान के विविध पुरानी रियासतों के राजकीय पुस्तकालयों, सांप्रदायिक केन्द्रों एवं मठों, इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन, ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन तथा कुछ यूरोपीय पुस्तकालयों (दे० गार्साँ द तासी कृत 'हिन्दुई तथा हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास'। आदि द्वारा सम्पन्न हुआ है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न होने के लिए शेष हैं। एक केन्द्रीय संग्रहालय की नितान्त आवश्यकता है। अभी सामग्री बिखरी पडी है और उसका वैज्ञानिक विधि से संपादन भी नहीं हुआ। प्रत्येक दृष्टि से हमारी यह सामग्री अपूर्ण और अव्यवस्थित है।

बाह्य साक्ष्य के रूप में उपलब्ध होने वाली सामग्री के दो रूप हैं। एक तो प्राचीन सामग्री है, जिसके अन्तर्गत या तो प्राचीन कवियों की रचनाओं के संग्रह आते हैं जैसे कालिदास कृत, 'हजारा' (१७१८), बलदेव कृत 'सत्कविगिरा विलास' (१७४६) सुब्रह्मसिंह कृत 'विद्वन्मोदतरंगिणी (१८१७-?), कृष्णानन्द व्यासदेव कृत 'रागसागरोद्भव', और 'रागकल्पद्रुम' (१८४३), सरदार कवि कृत 'शृङ्गार संग्रह' (१८४८), भारतेन्दु कृत 'सुन्दरी तिलक, (१८६९) आदि और जिनसे कवियों के समय का कुछ ज्ञान हो जाता है, या गोकुलनाथ कृत कही जानेवाली 'चौरासी' तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और नाभा कृत 'भक्तमाल' आदि वार्ताओं और भक्तों की जीवनियों का स्थान है, यद्यपि उनमें अलौकिक बातों का ही विशेष उल्लेख मिलता है, या कुछ व्यक्तिगत लेखकों के लिखे हुए ग्रन्थों की गणना की जाती है, जैसे वेणीमाधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित'। इस प्रकार की सामग्री की प्रामाणिकता पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। बाह्य साक्ष्य वाली सामग्री का दूसरा रूप आधुनिक है, जिसका सूत्रपात १८३९-४७ में फ्रांसीसी लेखक गार्सां द तासी द्वारा फ्रेंच में लिखित 'इस्त्वार द ला लित्रेत्यूरा ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी (हिन्दुई तथा हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास) के प्रकाशन से होता है और जिसकी परम्परा में अनेक काव्य-संग्रहों के अतिरिक्त, महेशदत्त शुक्ल कृत 'भाषा काव्य-संग्रह' (१८७३), कहान जी धर्मसिंह कृत 'कवित्व-रत्नाकर' (१८७३), शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (१८७७), सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्थान' (१८८९), 'हिन्दी कोविद रत्नमाला', दो भाग (१९०७, १९१४), मिश्रबन्धुओं कृत 'हिन्दी नवरत्न' (१९१०), 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३), पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता-कौमुदी' (१९१७, १९२६ तथा बाद के वर्षों में) एड्विन ग्रीव्ज कृत 'ए स्केच ऑव हिन्दी लिट्रेचर' (१९१८), एफ० ई० के कृत 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिट्रेचर' (१९२०) पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२९), डॉ० श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३०), पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (१९३०), डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३१), डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', (१९४०) और हिन्दी साहित्य, (१९५२), बा० ब्रजरत्नदास कृत 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९४१), प्रस्तुत लेखक कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४९), 'फोर्ट विलियम कॉलेज' (१९४७), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९५२), 'उन्नीसवीं शताब्दी' (१९६३) और 'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ' (१९६६), डॉ० श्रीकृष्ण लाल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९४२) आदि का, तथा व्यक्तिगत कवियों तथा लेखकों और युग विशेष के अनेक अध्ययनों का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु हिन्दी साहित्य में अभी अनेक ऐसे ग्रन्थ और कवि हैं, जैसे वीरगाथा काल के ग्रन्थ, गोरखनाथ, सूर आदि कवि, जिनके विषय में अभी तक शङ्काएँ हैं। इनके कारण हैं। अपार्थिव दृष्टिकोण से प्रेरित भारतीय जीवन में इतिहास लिखने की परिपाटी कम रही है और स्वयं कवियों ने भी आत्मश्लाघा के भय से अपने सम्बन्ध में कम ही लिखा है—कहना तो चाहिए नहीं के बराबर लिखा है। प्राचीन समय में अन्य व्यक्तियों ने जो कुछ लिखा है, उसमें धार्मिक दृष्टिकोण अधिक पाया जाता है। ठीक-ठीक तिथियाँ न मिलने से काल-विभाजन में कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। फिर, हिन्दी साहित्य की सामग्री अभी बिखरी पड़ी है। लापरवाही और राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बहुत-सी सामग्री तो नष्ट हो चुकी है। जो बची है वह एक स्थान पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुरक्षित होनी चाहिए। जो सामग्री अभी तक साहित्य के विद्यार्थियों को देखने के लिए नहीं मिल सकी, उसे देखने का अवसर भी प्रदान किया जाना चाहिए। ऐसी सामग्री स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के देशी राज्यों के भाण्डारों और पुस्तकालयों में दबी पड़ी है।

काल-विभाजन और उसका आधार

काल-विभाजन की दृष्टि से सर्वप्रथम इतिहास सर जॉर्ज ग्रियर्सन कृत 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्थान' (१८८६, १८८९ ई०) है। इस ग्रन्थ में हमें हिन्दी साहित्य का इतिहास काल-क्रम के अनुसार लिखा गया मिलता है—हम उसके काल-विभाजन से सहमत हों, या न हों यह दूसरी बात है। काल-विभाजन के साथ-साथ उसमें समय-समय पर उत्पन्न प्रवृत्तियों के दिग्दर्शन की ओर भी क्षीण प्रयास है।

स्वयं हिन्दी में और एक हिन्दी-भाषी द्वारा लिखित ग्रंथों में मिश्रबन्धुओं कृत 'विनोद' (१९१३) सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जिसमें काल-विभाजन किया गया मिलता है। काल-विभाजन के अतिरिक्त इस ग्रंथ में कवियों और लेखकों की, अपने ढंग से, आलोचना भी की गई है। साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का विस्तारपूर्वक निर्माण करने का श्रेय सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं को दिया जा सकता। उसके पश्चात् एड्विन् ग्रीव्ज़, एफ़० ई० के, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि के इतिहास प्रकाशित हुए और सबमें हिन्दी के कवियों और लेखकों का उल्लेख, हिन्दी की प्रमुख धाराओं और उनके विकास एवं विस्तार का निरूपण काल-विभाजन के आधार पर ही किया गया है। इन ग्रंथों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

काल-विभाजन के मूल में समाज की परिवर्तनशीलता है। समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण समाज में परिवर्तन होने के साथ-साथ साहित्य के इतिहास मे भी परिवर्तन होते रहते हैं। जिस काल या युग में समाज का जो रूप होता है, साहित्य का उसी रूप के साथ सामंजस्य होता है। विभिन्न युगीन सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की अखण्ड एवं अविच्छिन्न भावधारा का अनुशीलन और मूल्यांकन ही साहित्य का इतिहास है। जिस काल में जिस विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता होगी, उसका नामकरण उन रचनाओं के आधार पर ही किया जायगा, उदाहरण के लिए, भक्ति-काल और रीति-काल है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि प्रत्येक काल की रचनाओं में कुछ विशेष सामान्य लक्षण पाए जाते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक काल में अन्य प्रकार की रचनाएँ नहीं पाई जातीं अथवा एक ग्रन्थ में एक के सिवाय अन्य रसों का अस्तित्व नहीं पाया जाता। वास्तव में एक काल में जिस प्रवृत्ति का प्राबल्य होता है, उसी के आधार पर काल का नामकरण होता है। उदाहरण के लिए, भक्ति-काल में रीति या वीर रस की रचनाएँ मिलती हैं, अथवा आधुनिक काल में भी रीति पर। इस सम्बन्ध में तीसरी बात स्मरण रखने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की यह है कि साहित्य-क्षेत्र में काल-विभाजन का यह तात्पर्य नहीं होता कि एक काल के समाप्त होते ही दूसरे दिन साहित्यिक धारा दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगती है। वास्तव मे साहित्य के इतिहास में गणित के नियम लागू नहीं होते। एक काल की विचारधारा दूसरे काल तक जाती है। एक प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति का पूर्ण अन्त तो वैसे भी कभी नहीं होता। साहित्यिक परिवर्तन यांत्रिक क्रिया नहीं है कि जीवन की परिस्थितियों के बदलते ही साहित्य भी बदल जाय। कभी-कभी तो साहित्य ही समाज का नियंत्रण करता है और उसे नवीन मार्ग सुझाता है। किन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि साहित्य सामाजिक प्रगति से कुछ पिछड़ा ही रहता है और बड़ी कठिनाई से वह सामाजिक प्रगति के अनुकूल होता है। शक्तिशाली साहित्य वही है, जो युगानुकूल परिवर्तित होकर समाज को प्रगति और सुख-सम्पन्नता की ओर ले जाय। प्रतिभाशाली साहित्यकार लकीर का फ़कीर नहीं होता। काल-विभाजन के सम्बन्ध में चौथी बात ध्यान देने योग्य यह है कि कभी-कभी किसी काल विशेष का नामकरण प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नाम पर भी कर दिया जाता है। ये साहित्यकार अपनी प्रतिभा के बल से साहित्यिक गतिविधि को एक विशेष दिशा की ओर मोड़ने मे सफल होते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'भारतेन्दु युग' और 'द्विवेदी युग' ऐसे ही युग हैं। अन्त मे, ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव पर भी काल-विभाजन अवलम्बित रहता है। इतिहास हमें बताता है कि हिन्दी साहित्य का आदि-युग अशांतिपूर्ण था और साहित्यिक खोज ने भी हमें वीरगाथात्मक ग्रन्थ प्रदान किए। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नई खोजों के आधार पर इस काल का यह नाम असन्तोषप्रद सिद्ध हुआ। हमें सिद्धों, नाथों, जैनों आदि का साहित्य मिला और मिलता जा रहा है। हो सकता है, उस समय धर्म-सम्बन्धी विचारधारा ही प्रमुख सिद्ध हो। अतः हमे 'वीरगाथा काल' यह नाम अनुपयुक्त जान पड़ा। 'वीरगाथा काल' के स्थान पर 'आदि काल' नाम अधिक उपयुक्त है जो पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों, काव्य-रूढ़ियों आदि को लेकर अवतरित हुआ। हिन्दी साहित्य का मध्य युग ऐतिहासिक मध्य युग भी है। अँगरेजों से सम्बद्ध ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ही हिन्दी साहित्य के 'आधुनिक काल' का नामकरण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रधान काल-विभाजन ऐतिहासिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव पर ही अवलम्बित है, किन्तु विशेष प्रकार के ग्रन्थों, प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नामों के आधार आदि पर भी काल-विभाजन का अभाव नहीं है। विदेशों में तो शासकों के नाम पर भी नामकरण किए गए हैं, जैसे अँगरेज़ी में 'एलिजबेथन एज' या 'विक्टोरियन एज' हैं।

काल-विभाजन का आधार क्या हो सकता है? स्वयं हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखते हुए और अन्य भाषाओं के साहित्य-इतिहासों को देखते हुए इस आधार की एक ऐसी निश्चित कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती है, जिस पर सभी इतिहासों के आधार समान रूप से कसे जा सकें। साथ ही संभवतः किसी भी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन नितान्त वैज्ञानिक या पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्येक समाज की विचार-धारा का अपना विशेष इतिहास होता है। उसी के अनुसार उसके साहित्यिक काल-विभाजन के आधार भी प्रस्तुत होते हैं। सामान्यतः काल-विभाजन का सर्वप्रमुख आधार तो, प्राप्य ग्रन्थों की संख्या नहीं, प्रवृत्ति विशेष या युग विशेष का मूल प्रेरणा-स्रोत ही है। नामकरण वास्तव में ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी प्रवृत्ति प्रतिबिम्बित हो सके। अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में तीन नाम प्रचलित रहे हैं—१. आदि काल, २. मध्य काल (भक्ति काल और रीति काल), और ३. आधुनिक काल। किन्तु यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो हिन्दी में प्रचलित ये नाम पूर्णतः सन्तोषजनक सिद्ध नहीं होते। 'आदि काल' नाम किसी ऐतिहासिक या राजनीतिक परिस्थिति पर आधारित नहीं है। सामान्यतः दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक का काल 'आदि काल' के नाम से अभिहित किया जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल में अपभ्रंश और देश-भाषा काव्य की 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो', 'खुमान रासो', 'हम्मीर रासो', 'विजयपाल रासो', 'परमाल रासो', 'जयमयंक जसचन्द्रिका', 'जयचन्द्रप्रकाश', 'कीर्तिलता', 'कीर्तिपताका', 'आल्हखण्ड', 'परमाल रासो' जैसी प्रमुख रचनाओं (और अमीर खुसरो कृत पहेलियों तथा मुकरियों और विद्यापति की पदावली) के आधार पर ही आदि काल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा था। किन्तु गुलेरी जी द्वारा पुकारी गई 'पुरानी हिन्दी' (दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अंक ४), महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा 'हिन्दी-काव्य धारा' (१९४५) में आठवीं और तेरहवीं शताब्दियों के बीच स्वयंभू, सरहपा, भूसुकपा, सबरपा (आठवीं शताब्दी), डोंबिपा, गुण्डरीपा, लुइपा, विरुपा, दारिकपा (नवीं शताब्दी), तिलोपा, पुष्पदन्त, शान्तिपा; रामसिंह, धनपाल (दसवीं शताब्दी), अब्दुर्रहमान, कनकामर, मुनि जिनदत्त सूरि (ग्यारहवीं शताब्दी), हेमचन्द्र, सोमप्रभा, शालिभद्र, विनयचन्द्र, चन्द्र (बारहवीं शताब्दी) और जज्जल, लक्खण, राजशेखर सूरि आदि (तेरहवीं शताब्दी) की रचनाओं की भाषा (पुरानी हिन्दी), विद्यापति, कृत 'अवहट्ठ' में रचित 'कीर्तिलता' (प्र० १९२४, १९२९) और 'कीर्तिपताका' और राजस्थानी के आदि काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' (प्र० १९३४), अनेक प्राचीन जैन कवियों की पुरानी राजस्थानी या 'जूनी गुजराती' में लिखित रचनाओं आदि के कारण हिन्दी साहित्य का यह काल 'आदि काल' कहा जाता है। इस काल में उपलब्ध विपुल सामग्री से हिन्दी साहित्य के परवर्ती काव्य-रूपों और भाषा-रूपों (दे० 'अपभ्रंश और हिन्दी का सम्बन्ध' शीर्षक अध्याय) का विकास हुआ। 'आदि' से तात्पर्य केवल हिन्दी भाषा और साहित्य (काव्य-रूपों और शैली) का 'आदि' है। इस दृष्टि से तो यह नाम ठीक जान पड़ता है। किन्तु इससे इस काल की प्रवृत्ति या प्रवृत्तियों का बोध नहीं होता। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वीरगाथा काल' कहा था, जो उस समय तक उपलब्ध सामग्री को ध्यान में रखते हुए ठीक था। किन्तु इस काल में वीरगाथात्मक रचनाएँ एक तो वीरगाथाएँ कम और आश्रयदाताओं की कल्पित-अकल्पित प्रशस्तियों के रूप में अधिक सिद्ध हुई हैं, साथ ही उनमें से अनेक तो नोटिस मात्र हैं। वे उपलब्ध नहीं होतीं। अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेखकों ने फिर उसे 'सिद्ध सामन्त काल' (राहुल जी), 'चारण काल' आदि नामों से भी पुकारा। 'चारण काल' तो 'वीरगाथा काल' का ही दूसरा नाम है। 'सिद्ध-सामन्त काल' कुछ उपयुक्त नाम है, यद्यपि इससे जैन साहित्य का बोध नहीं होता है। किन्तु इन नामों का अधिक प्रचार न हो सका। सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य आदि के उपलब्ध हो जाने के फलस्वरूप पं० रामचन्द्र शुक्ल के दिए हुए नाम को परिवर्तित करना पड़ा और, किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में, उसे 'आदि काल' नाम दे दिया गया है। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग के डॉ० मोहन अवस्थी का यह मत अब विचारणीय है कि छन्दों के प्रयोग, भाव, सन्देश, प्रेमाख्यान एवं कृष्ण-चरित्र की लोक-प्रचलित अपभ्रंशकालीन परम्परा, वैष्णव मतवाद में भावावेश-मूलक साधना, भाषा-मूल आदि की दृष्टि से आदि काल को हिन्दी साहित्य का 'आधार-काल' क्यों न कहा जाय।

लेकिन इस 'आदि' शब्द की संगति फिर 'मध्य' और 'आधुनिक' के साथ नहीं बैठती। मध्य काल और आधुनिक काल, ये नाम इतिहास-सापेक्ष्य हैं। आदि काल ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्पष्ट हैं, यह 'आदि काल' भारतीय इतिहास का आदि काल नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण युग की समस्त प्रवृत्तियाँ 'आदि काल' के नाम से उभर नहीं पातीं।

इसी प्रकार 'मध्य काल' नाम के सम्बन्ध में भी कठिनाई उपस्थित होती है। एक तो यह नाम सामान्य भारतीय इतिहास के मध्य काल के अनुकरण पर है, न कि किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर। लेकिन इस दृष्टि से कोई आपत्ति न की जाय तो विशेष हानि नहीं। वास्तविक कठिनाई तो उस समय उत्पन्न होती है जब 'मध्य काल' के अन्तर्गत भक्ति काल और रीति काल दोनों माने जाते हैं। 'मध्य काल' एक ऐसा नाम है जिसका उच्चारण करते ही एक विशेष प्रेरणा-स्रोत 'पौराणिक प्रवृत्ति' सामने आ जाती है। जहाँ-जहाँ मध्य काल के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया जाता है, वहाँ-वहाँ इसी पौराणिक प्रवृत्ति पर बल दिया जाता है। हिन्दी का भक्ति-साहित्य भी पौराणिक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत है। इसलिए 'मध्य काल' के साथ भक्ति काल तो चल सकता है, किन्तु रीति काल उसके साथ भली-भाँति नहीं खपता है। भक्तिकाल और रीतिकाल की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणा-स्रोतों में भी पार्थक्य है। अतएव भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों को एक 'मध्य काल' के अन्तर्गत रखना क्या समीचीन है? क्या मध्यकाल और भक्तिकाल को एक मानकर रीतिकाल को उनसे अलग स्वतन्त्र काल नहीं माना जा सकता? 'रीतिकाल' को 'रीतिकाल' ही कहा जाय या 'शृङ्गार काल', इस विवाद में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

अब तक प्रचलित 'आधुनिक काल' नाम अब (१९७६ ई० में) तो और भी असंगत और अनुपयुक्त जान पड़ता है। अँगरेजी शासन-काल को इतिहास में आधुनिक काल की संज्ञा दी गई थी। साहित्य के इतिहास में भी यह काल इसीलिए 'आधुनिक काल' कहा गया, क्योंकि अँगरेजों द्वारा राज्य-स्थापना के साथ-साथ नवीन शिक्षा के फलस्वरूप जीवन की नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं और साहित्य ही स्पिरिट ही बदल गई। इस काल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में अँगरेज़ी तथा अन्य यूरोपीय साहित्यों का हिन्दी साहित्य पर प्रचुर प्रभाव भी पड़ा। लेकिन समस्या यह है कि यह 'आधुनिक काल' कब तक चलेगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी आधुनिक काल में, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द और 'प्रसाद' भी आधुनिक काल में, जैनेन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त भी आधुनिक काल में। यह तो बड़ा विचित्र मालूम होता है। 'आधुनिक काल' की 'आधुनिकता' पर कहीं तो पूर्ण विराम लगना चाहिए? इसलिए १८०० ई० से १९४७ ई० तक का काल 'ब्रिटिश काल' कहा जाना चाहिए और इस इतिहास के प्रस्तुत संस्करण में यही नाम ग्रहण भी किया गया है। वैसे तो ब्रिटिश राज्य की स्थापना १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में अँगरेज़ों की विजय से मानी जाती है, तो भी १८०० ई० से १९४७ ई० तक का काल ही ब्रिटिश काल कहा जाना चाहिए। १८०० ई० में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के प्रतीक फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और इसी समय से आधुनिक खड़ीबोली गद्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है—और, गद्य हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रतीक बनकर आया। उस पर और हिन्दी कविता पर अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। शासन-व्यवस्था, न्याय-पद्धति, भाषा, साहित्य, विज्ञान, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक विचारधारा आदि पर यानी, हमारे संपूर्ण बौद्धिक दृष्टिकोण पर, या तो अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का सीधा प्रभाव या अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा अन्य साहित्यों और विचारधाराओं का प्रभाव पाया जाता है। भारतेन्दु-युगीन साहित्य, द्विवेदी-युगीन साहित्य, छायावादी-रहस्यवादी कविता, आधुनिक एकांकी और कथा-साहित्य, नवीन काव्य-शिल्प और प्रवृत्तियों आदि की दृष्टि से यह प्रभाव स्पष्ट और काफ़ी गहरा है। इतिहास को झुठलाने से कोई लाभ न होगा। १९४७ में अँगरेज़ी राज्य समाप्त हो जाता है। अतः इस काल को 'ब्रिटिश काल' के नाम से संबोधित करना ही उपयुक्त होगा। इस काल की संगति 'मध्य काल' से बैठ जाती है, क्योंकि दोनों नाम ऐतिहासिक हैं। इतिहास में भी 'आधुनिक काल' और 'ब्रिटिश पीरियड' पर्यायवाची शब्द हैं। इस नाम से यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सारी प्रवृत्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं। १९४७ ई० के बाद का काल 'स्वतंत्रता काल' है। १९४७ के बाद के काल को 'आधुनिक काल' कहना पाठकों के मन में पिछले 'आधुनिक काल' और इस 'आधुनिक काल' में भ्रम उत्पन्न करना होगा। 'स्वतंत्रता काल' नाम इसलिए सार्थक होगा, क्योंकि यह राजनीतिक दृष्टि से ही 'स्वतंत्रता' नहीं है, वरन् पिछले २५-२६ वर्षों में जीवन और साहित्य में सब प्रकार के प्राचीन बन्धनों से मुक्ति की भावना—यहाँ तक कि अनुशासन-हीनता की सीमा तक—प्रबल होती हुई दृष्टिगोचर हुई है। लोग 'सर्वतंत्र स्वतंत्र' होते हुए दिखाई दिए हैं। अतः १९४७ ई० के बाद के काल को 'स्वतन्त्रता काल' नाम देना उचित होगा।

✓काल-विभाजन सम्बन्धी उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना के बाद हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन की रूप-रेखा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काल	समय	साहित्य-निर्माण का स्थान	विशेषताएँ
१. आदि काल	९४३-१३१८	राजस्थान तथा नाथों और सिद्धों के केन्द्र—अर्थात् मध्य-देश की सीमाएँ	१. धार्मिक तथा लौकिक साहित्य। २. पुरानी हिन्दी का जन्म। ३. काव्य-तत्त्व की अपेक्षा भाषा की प्रगति ४. वीर और शांत रस। ५. वर्णनात्मक काव्य। ६. राष्ट्रीय भावना का अभाव, आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ।
२. मध्यकाल	१३१८-१८४३		
(अ) पूर्व मध्य काल या भक्तिकाल	१३१८-१६४३	राजस्थान और मध्य-देश	१. पारलौकिक विषय। २. भाव और भाषा का उत्कर्ष। ३. शृङ्गार और शांत रस। ४. धार्मिक भावना का उत्कर्ष। ५. राष्ट्रीय भावना का अभाव। ६. रचनात्मक साहित्य का प्रणयन।
(आ) उत्तर मध्य काल या रीतिकाल	१७४३-१८००	राजस्थान मध्य-देश और महाराष्ट्र	१. पारलौकिक विषय के वेष में लौकिक विषय। २. भाषा का कलात्मक उत्कर्ष। ३. कला-पक्ष की प्रधानता। ४. आचार्यत्व। ५. भावों की पुरानी परम्परा का आवर्तन, मौलिकता का अभाव। ६. शृङ्गार रस।
३. ब्रिटिश काल	१८००-१९४७	समस्त भारत	१. लौकिक-पारलौकिक सभी प्रकार के विषय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काल	समय	साहित्य-निर्माण का स्थान	विशेषताएँ
			२. यूरोपीय सभ्यता के साथ सम्पर्क। ३. नवीन आन्दोलन। ४. गद्य का विकास। ५. व्यापक दृष्टिकोण। ६. काव्य-क्षेत्र में भावों का नवीन रूप। ७. खड़ीबोली की साहित्य-क्षेत्र में अवतारणा। ८. व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि-कोण।
४. स्वतंत्रता काल	१९४७—	समस्त भारत साथ ही बाहर के भी कुछ देश	१. द्वितीय महायुद्ध, अणु-शक्ति, स्वतन्त्रता-प्राप्ति और अन्तरिक्ष-यात्राओं के फलस्वरूप उत्पन्न वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप मानव जाति चौराहे पर खड़ी एक या दूसरी दिशा की ओर जाने के लिए आतुर। २. भग्नाशा, संत्रास, कुंठा अकेलेपन, अजनबीपन आदि की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त पुष्ट भाव-नाओं की अभिव्यक्ति। ३. कविता और गद्य के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग। साथ ही परंपरा और नवीन प्रयोगों के बीच संघर्ष। ४. उपन्यास और कहानी की प्रमुख विधाएँ। ५. भाषा के रूप में परि-वर्तन। ६. संसार के अन्य साहित्यों के साथ निकट सम्पर्क।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सामान्यतः हिन्दी के अन्तर्गत राजस्थान की बोलियाँ, पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि सब बोलियाँ आ जाती हैं। साहित्यिक रचनाएँ राजस्थानी, खड़ीबोली, ब्रज, अवधी और मैथिली में विशेष रूप से पाई जाती हैं, यद्यपि अन्य बोलियों का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। हिन्दी साहित्य में जीवन को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाले दो रसों, शृङ्गार और शांत, का अच्छा परिपाक हुआ है। उनके बाद वीर का स्थान है। मगही में सिद्धों की कविता, बौद्ध धर्म के वज्रयान-सिद्धान्त आदि से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ मिलती हैं। अपभ्रंश की विकसित अवस्था जब हिन्दी का रूप ले रही थी, तो जैन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार इस विकसित होती हुई अथवा प्राचीन हिन्दी के द्वारा किया। राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी ('आल्हा' और 'रामचन्द्रिका' पर प्रभाव), मैथिली और खड़ीबोली में अनेक साधारण और महत्त्वपूर्ण रचनाओं का सर्जन हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छः | आदि काल (९४३-१३१८)

आदि काल की पीठिका : राजनीतिक

किसी भी भाषा के आविर्भाव-काल में साहित्यिक रचनाएँ नहीं होने लगतीं। उसे साहित्यिक पुष्टता प्राप्त करने के लिए कुछ समय अपेक्षित रहता है। आदि काल में तो कुछ स्फुट रचनाएँ ही हुआ करती हैं। पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था से हिन्दी का आविर्भाव माना जा सकता है। ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग तांत्रिकों और योग-मार्गी सिद्धों और बौद्धों की जो सांप्रदायिक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में हैं। विविध विद्वानों के अध्ययनों से इस काल के जीवन पर इधर अच्छा प्रकाश पड़ा है। उनसे ज्ञात होता है कि इस समय के हिन्दी प्रदेश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दशा अच्छी नहीं थी।

हिन्दी साहित्य के लगभग प्रारम्भिक काल से भारतीय राजनीतिक जीवन के विशृङ्खल होने का इतिहास प्रारम्भ होता है। ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के राजनीतिक घटना-चक्र ने हिन्दी साहित्य को भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित किया। थानेसर का राजा हर्षवर्धन उत्तर भारत का अन्तिम महान् सम्राट था। कुछ विद्वानों के अनुसार उसने कुछ समय तक दक्षिणापथ पर भी शासन किया। किन्तु सम्राट हर्षवर्धन के समय में ही भारत के दो विभाग हो चुके थे। नर्मदा के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था, तो उसके दक्षिण में चालुक्य-वंशीय पुलकेशिन् द्वितीय का शासन था और दोनों ने अपने-अपने साम्राज्य की वृद्धि की असफल चेष्टाएँ कीं। ६४७ में उत्तर के सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु हो गई। उसके समय में देश सुख-समृद्धि-पूर्ण था। उस काल के चीनी यात्री हुएन्सांग के वर्णनों से तत्कालीन भारत का चित्र प्राप्त होता है। धर्म और समाज में व्यवस्था थी। राज्य विप्लव और विद्रोह से रहित था। देश का जीवन कल्याणकर और बल-वैभव-पूर्ण था। वास्तव में उस समय देश के सामने चक्रवर्तित्व का आदर्श था। चक्रवर्ती सम्राट् देश की एकता को बनाए रखने में सतत प्रयत्नशील रहता था और सामूहिक जन-कल्याण का ध्यान रखता था। हर्ष अपने जीवन-काल में बौद्ध धर्म की ओर झुक गया था और उसने चीन के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्पर्क स्थापित किया था। किन्तु उस महान् सम्राट् की मृत्यु के बाद देश की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और किसी एक का एकाधिपत्य न रहा। राज्य-सत्ता अनियंत्रित हो गई और अनेक छोटे-छोटे राजवंश, जैसे, गुर्जर (पश्चिमी राजस्थान और मालवा), गुप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मगध), तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चन्देल आदि आपस में लड़-भिड कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। दिन-पर-दिन कलह और विघटन की प्रवृत्ति बढ़ती गई। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मौखरि वंश के यशोवर्मन (कान्यकुब्ज) के शौर्य से भारत की राजनीतिक दृढ़ता की कुछ आशा बँधी थी, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य से उसके पराजित होने पर उत्तर भारत में फिर अव्यवस्था फैल गई। तत्पश्चात् कान्यकुब्ज प्रतिहार और गहड़वाल वंशों के शासनान्तर्गत आ गया। उसका बङ्गाल के पालों तथा सेनों, दक्षिण के परमार, चन्देलों और चेदियों और पश्चिम के चौहानों, तोमरों और शाही वंशवालों और अन्त में तुर्कों से बराबर संघर्ष होता रहा। सच तो यह है कि चक्रवर्तित्व वाली राजनीतिक व्यवस्था के अपने लाभ थे। देश को उससे लाभ भी पहुँचा। उसके क्षीण होते ही देश छिन्न-भिन्न होने लगा। इसके अतिरिक्त एकतंत्रात्मक और गणतन्त्रात्मक नामक दो अन्य शासन-पद्धतियों में भी परस्पर संघर्ष छिड़ा रहता था। गुप्तवंशी समुद्रगुप्त (३३०-३७५) के समय तक मध्य भारत और राजस्थान में गणराज्य थे। यद्यपि यवनों, शकों और कुषाणों से लड़ते-लड़ते ये गणराज्य दुर्बल हो गए थे और उन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी, तो भी उनका अस्तित्व बना रहा। ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग अन्त में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उनका मूलोच्छेदन कर दिया। तत्पश्चात् भारतीय राजनीतिक जीवन में गणराज्यों का उदय दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु जब तक एकतन्त्र राज्य और गणराज्य दोनों रहे, तब तक दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहे। गणराज्यों के नष्ट हो जाने का एक घातक प्रभाव यह दृष्टिगोचर हुआ कि जनता में राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्रता की भावना का लोप हो गया। ईसा की आठवीं शताब्दी के लगभग देश में निरंकुश एकतन्त्र शासन-प्रणाली स्थापित हो गई थी। इस प्रणाली के लाभ तो थे, किन्तु इससे जनता की राजनीतिक चेतना और विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला करने की शक्ति नष्ट हो गई।

तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने में सामन्ती प्रथा का काफ़ी हाथ रहा। अपने देश में साम्राज्य की नींव मण्डलों पर आधारित थी। मण्डलों के शासक स्थानीय हुआ करते थे। वे स्थानीय शासक सम्राट् की सैनिक सहायता किया करते थे। मध्ययुगीन अराजकतापूर्ण परिस्थिति में सामन्तवादी प्रथा को प्रोत्साहन प्राप्त होना आश्चर्यजनक नहीं माना जा सकता। जनता भी इन्हीं स्थानीय शासकों, सामन्तों का मुँह देखने लगी और सम्पूर्ण साम्राज्य या देश के व्यापक हित के प्रति भक्ति कम हो गई। इससे सैनिक शक्ति क्षीण हुई और देश अनेक राज्यों में बँटकर एकरूपता और संगठन खो बैठा। सामन्तगण क्षुद्र स्वार्थों में लीन होकर, पशुबल और आतंक का सहारा लेते हुए जनता के कल्याण की बात भूल गए। उसके स्थान पर प्रान्तीयता और स्थानीयता की भावना प्रबल होती गई। राजनीतिक उदासीनता के कारण राजवंशों का परिवर्तन भी जनता को प्रभावित न कर पाता था। यहाँ तक कि विदेशी राजवंशों को स्वीकार करने में भी उसे संकोच न होने लगा। जनता की दृष्टि अपनी सुरक्षा और जीविका तक ही सीमित रह जाती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थी। इन्हीं कारणों से हमें इस काल में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की व्यापक भावना का अभाव मिलता है। यह भारतवासियों की राष्ट्रीय एवं मानसिक क्लान्ति का ही परिणाम था कि देश में मध्ययुगीन विदेशी आक्रमणकारियों का शासन दीर्घकालीन सिद्ध हो सका। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'राजा कृष्ण समान' की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। इससे भारतवासियों की परम्परा से चली आ रही राजभक्ति की प्रवृत्ति का संकेत प्राप्त होता है। इस राजभक्ति की, राजा के प्रशस्ति-गान और उचित-अनुचित कार्यों के समर्थन की परम्परा इसी समय से चली। इसलिए युद्ध के समय राजा के मारे जाने पर सैनिक हिम्मत हार बैठते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतवर्ष बिलकुल ही शृगाल-भूमि में परिणत हो गया था। वीरता, शौर्य, आत्मबल, देश के हित प्राणोत्सर्ग आदि के व्यक्तिगत उदाहरणों का अभाव नहीं मिलता। किन्तु सङ्घ-शक्ति के अभाव में ऐसे उदाहरणों के प्रभावपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर न हो सके। व्यक्तिगत रूप में ही नहीं, सांघिक रूप में भी सिंध के चाच वंश, प्रतिहार वंश, काबुल और पंजाब के शाही वंश, चौहान और कन्नौज वंश आदि ने समय-समय पर इस्लाम की बढ़ती हुई सेनाओं का सफलतापूर्वक सामना किया और सफलताएँ भी प्राप्त कीं। किन्तु जिन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उनके कारण तथा पारस्परिक फूट-कलह, विलासिता आदि के कारण भारतीय शक्ति ध्वस्त हुई। इस्लाम एक ओर तो भेद-भाव-जर्जर भारतवर्ष में समानता का मन्त्र लेकर आया और दूसरी ओर कृपाण की शक्ति और समानता के मन्त्र ने भारती यदलितों में ऊपर उठने का संकल्प उत्पन्न किया। उसने रूढ़ियों और परम्पराओं को झकझोर डाला। इस्लामी समाज में एक नई शक्ति और स्फूर्ति थी। बर्बर समझी जाने वाली जातियों तक में उसने नेतृत्व की लालसा उत्पन्न कर दी। भारतवर्ष ने जिन्हें दबा रखा था, उनमें इस्लाम के आगमन से आशा का संचार हो उठा। जो देश क्षुद्रता और अहंकार में लिप्त था, जो अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में खण्डित था, जिसका जीवन संकीर्णता, मिथ्याचार और बाह्याडंबर की कीचड़ से कलुषित हो गया था, जो देश विक्रमादित्य और चन्द्रगुप्त का आदर्श भूल गया था, वह इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति के आगे नतमस्तक हुआ। भारतीय समाज की जड़ में घुन लग गया। उसमें कायरों और क्लीवों की संख्या बढ़ गई। वंशानुक्रम से राजाओं की नियुक्ति, नित्य नए-नए सामन्तों की सृष्टि और परस्पर कलह, गणराज्यों के संगठन का अभाव, जन-सम्पर्क का अभाव, दोषपूर्ण रणनीति, भाड़े के सैनिक (श्रेणी सेना के अभाव में) आदि कारणों से देश अपनी चेतना खो बैठा।

इसी समय भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे थे। कहा जाता है कि ६३६ में खलीफ़ा उमर के समय से भारत पर बराबर मुसलमानों के आक्रमण होते रहे थे। भारतवर्ष में आने से पूर्व मुसलमानों का मध्य एशिया के बौद्धों के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था। इस संपर्क से भारतीय शासक भले ही अपरिचित रहे हों, किन्तु नालन्दा आदि बौद्ध विहारों के भिक्षु इस विषय की राजनीतिक परिस्थिति से भलीभाँति परिचित थे। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस्लाम की विजय-वैजयन्ती सिर और सिन्धु महानदियों के किनारे फहराने लगी और मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अन्त में ग़ज़नी के प्रसिद्ध सुल्तान के आक्रमण प्रारम्भ हुए। पंजाब के पादाक्रांत होने के बाद धीरे-धीरे समस्त हिन्दी भूमि-भाग (दिल्ली, कन्नौज, अजमेर आदि) मुसलमान आक्रमणकारियों के हाथ में चला गया। ७१२ और १२०६ के बीच इस्लामी सेनाएँ बंगाल तक पहुँच गईं। इस प्रकार राजनीतिक अवस्था और पारस्परिक कलह के कारण देश का एक विदेशी सभ्यता और संस्कृति से सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रारम्भ में मुसलमान भारतीय संस्कृति की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे और उन्होंने सङ्गीत, वास्तुकला, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि का अध्ययन भी किया था। खलीफ़ा मंसूर और हारूँ के दरबार में भारतीय विद्वानों का आदर होता था। बाद को यद्यपि मुसलमानों ने क्रूरता और अत्याचार का ही विशेषतः अवलंबन ग्रहण किया, तो भी पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान बराबर जारी रहा और दोनों एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुए। संस्कृति की दृष्टि से मुसलमान हिन्दुओं पर विजय प्राप्त न कर सके। धीरे-धीरे वे स्वयं भारतीय संस्कृति में रँगते गए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उस समय भारतीय जीवन्त शक्ति का नितान्त लोप नहीं हो गया था। पराजित होते हुए भी विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने की भारतीय प्रवृत्ति ने इस्लाम को सतत संघर्ष करने के लिए बाध्य किया। भारतीय संस्कृति की जड़ें इतनी गहरी थीं कि राजनीतिक दृष्टि से पराजित होने पर भी देश ने अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रति आस्था नष्ट नहीं होने दी। अरब, असीरिया, ईराक, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, मध्य एशिया आदि इस्लाम के सामने पूर्णरूपेण परास्त हो चुके थे। भारत में ऐसा नहीं हुआ। न तो देश के सभी राजवंश नष्ट हुए और न देश का सार्वजनिक जीवन ही नष्ट हुआ। भारतीय इतिहास का सम्पूर्ण मध्य युग एक प्रकार से आत्म-रक्षा की दृष्टि से किए गए संघर्ष का युग है। वास्तव में अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण भारतवासियों को दुर्दिन अवश्य देखने पड़े, किन्तु वे बिल्कुल मिट्टी के लौंदे नहीं हो गए थे। राजपूतों का उदय तत्कालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, जिनके अद्भुत शौर्य, उत्सर्ग और पारस्परिक संघर्ष का वर्णन हिन्दी साहित्य में हुआ है। उस समय हिन्दुओं के पराजित होने के कारणों में जैन-बौद्ध धर्मों द्वारा दिया गया अहिंसा में विश्वास, वर्ण-भेद के कारण उत्पन्न निर्बलता, पारस्परिक संगठन का अभाव, धार्मिक विभेद और जातीय विशृङ्खलता का प्रधान हाथ था। लोग जातीय हित की बात भूलकर व्यक्तिगत अहंकार में लिप्त हो गए थे। व्यक्ति अपने को जगत्-प्रवाह से अलग समझने लगा था। देश में आत्मविश्वास न रह गया था। व्यर्थ का कुलाभिमान देश-निष्ठा को कुचल रहा था। मिथ्या खंड-अभिमानों से जनता हीनवीर्य, हतदर्प और आत्मबलहीन हो गई थी। भारतवासियों ने अपनी स्वतन्त्रता खोकर एक भारी संकट का सामना किया। मुसलमानी शासन-काल में जनता समृद्ध थी और धीरे-धीरे इस्लामी संस्कृति का प्रभाव भी देश पर पड़ने लगा था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धार्मिक

हिन्दी साहित्य का आदि काल धार्मिक उथल-पुथल का युग था। इस काल में वैदिक धर्म की कुछ-कुछ परम्परा बनी हुई थी। ईसा की ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, किन्तु उसकी बाह्य रूप-रेखा बहुत-कुछ बदल गई थी। यह परिवर्तन राजपूतों के आधिपत्य से सम्बन्धित है। धर्म भारतीय संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग है। हर्ष के समय में यदि बौद्ध धर्म राज्य के संरक्षण से (कन्नौज में)।फूल-फल रहा था, तो साधारण जनता में ब्राह्मण धर्मान्तर्गत पौराणिकता के प्रति आस्था उत्पन्न हो गई थी। ब्राह्मण धर्म पाशुपत (शैव), वैष्णव और शाक्त आदि धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो रहा था। राजा और प्रजा के विभिन्न दृष्टिकोणों के फलस्वरूप सांस्कृतिक शिथिलता उत्पन्न होना अनिवार्य था। इस काल के भारतीय जीवन में विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तरों का प्रचार था। मूर्ति-पूजा, आत्मपीड़न द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की आशा, वृक्षों और सर्पों आदि की पूजा को ही धर्म का प्रधान रूप मान लिया गया था। वैसे तो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण समन्वयात्मक रहा है और अनेकता में अन्तर्निहित एकता पर उसने बल दिया है, तो भी विभिन्न धार्मिक परम्पराओं से शिथिलता और मत-वैभिन्न्य तो उत्पन्न होता ही है।

इस काल के हिन्दी प्रदेश और उसकी सीमाओं के आसपास जैन धर्म, बौद्ध धर्म के वज्रयानी रूप, तांत्रिक मत, रसेश्वर-साधना, उमा-महेश्वर-योग-साधना, सोम-सिद्धान्त, वामाचार, सिद्ध और नाथ-पंथ, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्त मत आदि विभिन्न मत प्रचलित थे। जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास कर रही थी। भीतरी विद्वेष से जर्जर देश में इतिहास से टकरानेवाला संकल्प न रह गया। दुर्भाग्यवश ये धर्म मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के साधन बनने के स्थान पर विच्छेद-भाव उत्पन्न करने के साधन बने।

अपभ्रंश साहित्य के विकास का प्रधान कारण जैन धर्म निवृत्तिमूलक और श्रमण-प्रधान धर्म था। उसने अहिंसा, आचार और मोक्ष के साधनों पर विशेष बल दिया। उसका राजपूताना, मालवा तथा देश के अन्य भागों में यथेष्ट प्रचार था और वह श्वेतांबर तथा दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त था ब्राह्मण धर्म की पौराणिक प्रवृत्ति का उसमें प्रवेश हो गया था और अहिंसा, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तप, त्याग, नास्तिकता पर आधारित होते हुए भी आस्तिकता में विश्वास आदि के कारण वह एक नवीन रूप धारण कर रहा था। गुजरात के सम्राट् सिद्धराज जयसिंह (१०९५-११४३) और कुमारपाल प्रसिद्ध जैन कवि हेमचन्द्र के समकालीन थे।

बौद्ध धर्म की प्राचीन और श्रेष्ठ परम्परा विच्छिन्न हो चुकी थी। आदिकालीन बौद्ध धर्म-सम्बन्धी-साहित्य न तो हीनयानी सिद्धान्तों का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है और न महायानी सिद्धान्तों का। वास्तव में इस काल के प्रारम्भ में ही बौद्ध धर्म हीनयान और महायान की विकासावस्था को प्राप्त कर एक नई दिशा की ओर मुड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चुका था और उसमें मंत्रयान, वज्रयान या सहजयान के चिह्न प्रकट होने लगे थे। हीनयान (स्थविरवाद) ने बौद्ध-दर्शन और शिक्षा को यथाशक्ति मूल रूप में रखने की चेष्टा की और वैयक्तिक निर्वाण पर बल दिया! महायान थेरवाद के शील और भिक्षुचर्या, और सर्वास्तिवादी हीनयान के विनय-पिटक के कुछ नियमों को मानते हुए भी हीनयान के वैयक्तिक निर्वाण और स्वार्थ के प्रति आस्था न रखकर प्राणिमात्र के मोक्ष के लिए अनन्त जन्मों का उत्सर्ग करना मुख्य लक्ष्य मानता था। महायान ने अनेक प्राचीन परम्पराओं का पुनः मूल्यांकन किया। किन्तु बौद्ध धर्म को महायान शाखा के अन्तर्गत स्थापित बोधिसत्व-आदर्श भी अब ब्राह्मण धर्म की पौराणिक परम्परा से प्रभावित हो गया था और उसमें योग और भक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण मिलने लगता है। भगवान् बुद्ध की मूर्ति पूजा और श्रद्धा का आधार बनी। इस प्रकार उनमें ईश्वरत्व और अवतार की भावना स्थापित हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में बौद्ध धर्म के अवशिष्ट रूप को सरल और लोकप्रिय रूप दिए जाने की चेष्टा की जाने लगी थी। पूजा, वन्दना, बुद्ध की (संघ की नहीं) शरण जाना, पाप के लिए क्षमा-याचना, पुण्य कर्म, प्रार्थना, अहंभाव का परित्याग आदि साधन बोधिचित्त के लिए व्यावहारिक साधन बताए गए। कालान्तर में महायान शाखा में ही तंत्र-मंत्रों का प्रवेश हुआ और इस मत के अनुयायियों में तन्त्र-मन्त्र, हठयोग, पंचमकार (मांस, मत्स्य, मैथुन, मद्य, मुद्रा) आदि ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया। महायान का यह वज्रयानी रूप सरहपा द्वारा सम्पादित माना जाता है। वज्रयान के अन्तर्गत भी अनेक मत-मतान्तरों की स्थापना हुई और उसमें अन्य मतों और धर्मों के देवी-देवताओं को भी स्थान दिया गया। वज्रयान के दो प्रधान रूप थे। एक तो नृत्य, सङ्गीत, प्रेम, पाषंड-निवारण आदि पर आधारित सहजयान था, दूसरा योगप्रधान काल-चक्रयान था जिसमें काल को ही आदि बुद्ध मानकर चक्रों और नाड़ियों द्वारा देह में प्राणवायु के रूप में स्थित काल को प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया गया।

बौद्ध धर्म के इसी रूप से सम्बद्ध सिद्ध-नाथ-परम्परा है। भारतवर्ष में ब्राह्मण धर्म का प्रचार व्यापक रूप में अवश्य रहा है, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसका एक विरोधी मत भी सदैव रहा है। सिद्धों का मत भी एक ऐसा ही मत था। उसमें निम्न वर्णों के लोग ही अधिक थे—सरहपा, तिलोपा, लुइपा, शबरपा आदि। साधनों के विभिन्न रूपों द्वारा सिद्धि प्राप्त करना, तांत्रिक क्रियाएँ संसार और मन की एकता, कर्म-बन्धनों से मन की मुक्ति, मन की चंचलता का निरोध करने के लिए सहज बोध को जाग्रत करना, हठयोग, गुरु का महत्त्व आदि बातें सिद्ध मत की विशेषताएँ थीं। सिद्धों के साथ ही नाथों या अवधूतों का भी नाम लिया जाता है। इस मत के प्रवर्तक स्वयं आदिनाथ या शिव माने जाते हैं। नाथों में, आदिनाथ के बाद, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का प्रमुख स्थान है। नाथों की परम्परा का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी में माना जाता है। इस सम्प्रदाय में सिद्धि-साधन और योग साधन के निर्विकल्प आनन्दानुभव के साथ-साथ पंच मकारों (मांस, मत्स्य, मैथुन, मद्य, मुद्रा) और श्रीसुन्दरी-साधना को भी स्थान दिया गया—यद्यपि नाथ सम्प्रदाय में भोग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलास का विशेष स्थान नहीं रहा। नाथों ने हठयोग के अन्तर्गत कुण्डलिनी जगाने पर ज़ोर दिया। कुण्डलिनी ही जगकर षट्चक्रों को भेदती हुई शिव से जा मिलती है। यही निर्विकल्प आनन्द है। नाथ वेदों में विश्वास नहीं रखते थे। उनमें से अनेक ने आगे चलकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में सिद्धों और नाथों का उत्तर भारत के एक विस्तृत भूमि-भाग की जनता पर व्यापक प्रभाव था। उनके कारण लोगों में तंत्र-मंत्र, योगियों के दर्शन से सांसारिक व्याधियों को दूर करने आदि में विश्वास उत्पन्न हो गया था।

सिद्धों और नाथों के सम्प्रदायों में शैव और शाक्त मतों ने भी योग प्रदान किया। वैसे तो शैव मत (जो राजपूतों में अधिक प्रचलित था) प्राचीन काल से चला आ रहा था, किन्तु इस काल में कश्मीर के तन्त्र-समन्वित शैव मत की स्पन्द (वसुगुप्त-८५० ई० द्वारा प्रतिपादित शिवसूत्र) और प्रत्यभिज्ञ (सोमानन्द-८५० ई० द्वारा प्रतिपादित और जिसका प्रधान आधार अभिनवगुप्त द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक-लोचन' है) शाखाओं में से प्रत्यभिज्ञ शाखा का ही अधिक प्रचार था। इस मत ने अनेक रूप धारण किए और अन्त में बौद्ध धर्म की जड़ हिलाने में सहायक सिद्ध हुआ। साथ ही शिव और शक्ति में अटूट सम्बन्ध माना जाने के कारण और तांत्रिक मत के प्रभावान्तर्गत शाक्त मत का प्रचार हुआ। पंच मकारों, पशु-बलि, गुरु, भैरवी चक्रों (जिनमें चक्र-भेद के अनुसार विभिन्न वर्णों की स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं) की सृष्टि, भोग द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करना आदि बातों को इस मत में महत्त्व दिया गया। शाक्त मत अत्यन्त दुष्कर मार्ग है और भोग-भोग के लिए नहीं, वासना के संहार के लिए माना गया। किन्तु जनता उसका गूढ़ रहस्य समझने में असमर्थ रही और उसने हिंसात्मक तथा विलासमयी प्रवृत्तियाँ उत्तेजित कीं। शाक्त मत भी काफी प्रबल हो गया था जिसकी पुष्टि खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मन्दिरों से स्पष्टतः हो जाती है।

किन्तु ब्राह्मण धर्म ने इन विविध मत-मतान्तरों पर भी अपनी छाप लगाकर उन्हें आत्मसात् कर लिया। ऐसी कई विचारधाराओं के मिश्रण से जिस वैष्णव मत का प्रचार हुआ, उसमें अहिंसा और सात्त्विक भोजन पर अधिक बल दिया गया। किन्तु क्षत्रियों में यह मत अधिक प्रचलित न हो सका। 'पंचरात्र संहिता' वैष्णव मत का प्रधान आधार-ग्रन्थ माना जाता है। पूजा, स्वाध्याय, योग, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा, सूर्य, विष्णु, देवी, रुद्र, और अग्नि की पंचायतन के रूप में स्थापना, वस्त्राभूषणों से अनेक देवी-देवताओं की सज्जा आदि का इस मत के अन्तर्गत प्रचार हुआ और शिल्पियों तथा कलाकारों को प्रोत्साहन मिला। वैष्णव मन्दिरों में अतुलित धन और बहुमूल्य आभूषण रहते थे। धन और आभूषणों के लोभ से भी मुसलमान आक्रमणकारियों ने देव मन्दिर तोड़े।

वैष्णव मत के प्रचार के साथ-साथ वेदान्त का विकास भी इस समय काफी हुआ। विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से वेदान्त-भाष्य लिखे। ब्रह्म, जीव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और जगत् के परस्पर सम्बन्धों की विशद दार्शनिक व्याख्या की गई जो विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि की स्थापना में उपलब्ध होती है। अपने-अपने विश्वासों के अनुसार राम-सीता और राधा-कृष्ण की आराधना, वैराग्य, दया, गुरु-सेवा, परमात्मा-भक्ति, सब कुछ भगवान् के चरणों में अर्पित करना, विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ आदि मोक्ष प्राप्त करने के साधन माने गए।

अस्तु, इस काल में हम अनेक प्रकार के धार्मिक मत-मतान्तरों का अस्तित्व पाते हैं। भारतीय धर्म-साधना में उथल-पुथल मची हुई थी। धर्म तंत्र-मंत्र, टोने-टोटकों की ओर अग्रसर हो रहा था। उधर इस्लाम धर्मानुयायियों का भारत में प्रवेश हो रहा था। उनके आने से देश दो प्रधान प्रतिद्वन्द्वी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया। धार्मिक सम्प्रदाय या तो अपने को वेदानुयायी सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे, या वेदबाह्य। कुछ सम्प्रदायों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम की शक्ति के आगे अनेक बौद्ध और वेदबाह्य धर्म-साधनाएँ छितरा गईं। कुछ ने अपने को नए वातावरण के अनुकूल बनाने की चेष्टा की। कुमारिल और शंकर की विजय के बाद भी बौद्धों, शाक्तों, शैवों आदि का एक बहुत बड़ा वर्ग अब भी ब्राह्मण-धर्म और वेदविरोधी था। इस वर्ग के अनेक अनुयायियों ने अपने-अपने मार्ग को श्रुति-सम्मत सिद्ध करने की चेष्टा की, किन्तु ऐसे बौद्ध, शैव और शाक्त संप्रदाय बराबर विद्यमान रहे जो वेद-विहित और ब्राह्मण-प्रधान धर्म को अस्वीकार ही नहीं करते थे, वरन् उसे निम्न कोटि का समझते थे। वैदिक और बौद्ध धर्मावलंबियों में प्रायः संघर्ष छिड़ जाया करता था। भारतवर्ष में अन्तिम सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग माने गए हैं। इसलिए इन विभिन्न मत-मतान्तरों का विकसित होना आश्चर्यजनक नहीं। उनमें परस्पर सहिष्णुता और अनेकता में एकता का भाव विद्यमान रहते हुए भी सांप्रदायिक विद्वेष का पुट अवश्य रहता था।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी ध्यान में रखने योग्य है। और वह यह कि इन विभिन्न मत-मतान्तरों का शास्त्रीय रूप और विवेचन केवल आचार्यों और थोड़े से अन्य पंडितों तक ही सीमित रहता था। वे ही उनका वास्तविक रहस्य और महत्त्व जानते थे। जनता में एक तो इन विभिन्न मतों के कारण अराजकता उत्पन्न हुई, दूसरे जब कोई विशेष मत प्रचलित होता था तो वह उसके केवल सतही रूप तक ही रहकर विविध प्रकार के कर्मकाण्डों और आडंबरों एवं मिथ्या विश्वासों में फँस जाती थी और उन्हीं को मोक्ष का साधन समझ बैठती थी। आचार्यों की आध्यात्मिक शब्दावली उसके लिए कोरे शब्द रह जाते थे और विभिन्न दार्शनिक मतों का अन्तिम व्यावहारिक सत्य लोगों के सामने संसार की असारता के रूप में आता था। आचार्यों का विचार-क्रम कुछ भी रहा हो, किन्तु उससे इस समय जन-साधारण में आडंबर, कर्मकाण्ड, मिथ्या विश्वास, संसार की असारता, इस लोक से अधिक परलोक की चिन्ता, भाग्यवाद आदि बातों का प्रचार हुआ। परिणामस्वरूप जीवन में उदासीनता व्याप्त हो गई। विदेशी आक्रमण हुआ हो, अत्याचार हुआ हो अथवा देश या जीवन में अन्य कोई संकट या संघर्ष उपस्थित हुआ हो, हमें जनता की मानसिक दृढ़ता के उदाहरण नहीं मिलते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति भी अवसादजनक थी। यद्यपि कुमारिल और शंकर की प्रेरणा से राजनीतिक जीवन भी प्रभावित हुआ था, और विदेशी आक्रमणों से आतंकित भारतीय नरेशों में कुछ जोश भी आया और उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों का सतत विरोध करते रहने का संकल्प किया, तो भी उसका कोई व्यावहारिक रूप दृष्टिगोचर न हो सका।

आदिकालीन धार्मिक परिस्थिति का एक परिणाम यह हुआ कि सारा देश अनेक प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों में विभाजित हो गया। अधिकांश लोग वेद-विहित और ब्राह्मण धर्म में मिल गए, कुछ लोग इस्लाम-धर्म के अनुयायी हो गए और कुछ लोग ऐसे भी थे जो किसी के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके। नाथ-पंथ ने अपने योग-मार्ग द्वारा अंतिम प्रकार के अनेक संप्रदायों का संगठन करना प्रारम्भ किया और कुछ सफलता भी प्राप्त की। इस समय भक्ति की अपेक्षा योग-साधना प्रबल थी।

सामाजिक

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में परम्परागत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार प्रधान वर्ण तो थे ही, किन्तु समाज अन्य अनेक वर्णों, जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया था। समाज कर्म पर आधारित चार वर्णों में अन्य जातियों और वंशों को आत्मसात् न कर अपनी दुर्बल पाचन-शक्ति का परिचय दे रहा था। इस जन्म में वर्ण अपरिवर्तनीय मान लिया गया था। इसके फलस्वरूप समाज अनेक खण्डों में बँट जाने के कारण अपना अस्तित्व भले ही सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सका हो, किन्तु इससे विघटनकारी शक्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और समाज की भीतरी शक्ति खोखली हो गई। विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित थे। ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। अशिक्षित, अधर्माचरणयुक्त ब्राह्मण का आदर घट जाता था। क्षत्रियों का राजनीतिक और वैश्यों का आर्थिक महत्त्व बराबर बना रहा। किन्तु शूद्रों की स्थिति और भी निम्न हो गई। जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि विभिन्न सम्प्रदायों के शुद्धिवाद और कृच्छ्राचार के फलस्वरूप शूद्र पहले से भी अधिक निम्नकोटि के मानव माने गए। इसके अतिरिक्त अस्पृश्य और अन्त्यज जातियों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही थी। कुछ स्मृतिकारों और उनके भाष्यकारों ने शूद्रों के प्रति कुछ उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अवश्य प्रदर्शित किया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वसुधैव-कुटुम्बकम् और करुणा की दुहाई देनेवाले हिन्दू समाज में उनकी दशा शोचनीय थी। तत्कालीन भारतीय समाज छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट जाने के कारण व्यापक दृष्टिकोण या सामाजिक आदर्श खो बैठा। समाज में संकीर्णता उत्पन्न हो गई। खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि की दृष्टि से अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यहाँ तक कि स्वयं ब्राह्मणों में जाति-भेद और परस्पर प्रतिबन्ध उत्पन्न हो गए। ग्यारहवीं शताब्दी में जब अलबेरूनी ने उत्तर भारत का भ्रमण किया तो उसने हिन्दुओं को विभिन्न जन्मगत, स्थानगत, व्यवसायगत, सम्प्रदायगत और वंशगत जातियों एवं उप-जातियों में बँटा हुआ पाया, जिससे परस्पर संगठन एवं सहानुभूति का अवसर उत्पन्न नहीं हो पाता था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस काल में जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गई थी, उसी प्रकार आश्रम धर्म का ह्रास हो गया था। उसमें व्यक्ति के उत्थान के स्थान पर दिखावा मात्र रह गया था। बौद्ध और जैन आन्दोलनों के कारण यह व्यवस्था और भी अधिक शिथिल हो गई थी, क्योंकि उसके मतानुसार आश्रम-व्यवस्था में कर्म की कोई आवश्यकता नहीं थी। व्यक्ति इच्छानुसार श्रमण या परिव्राजक का रूप धारण कर सकता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि देश में अपरिपक्व साधु-संन्यासियों की संख्या बढ़ गई। यह संख्या सामान्यतः तो बढ़ी ही, किन्तु अवैदिक धार्मिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत उनकी संख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

प्रमुख धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थ मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका) से तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। परिवार सम्मिलित, पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय था और उसके सदस्यों की संख्या काफ़ी अधिक रहती थी। सभी प्रकार के बन्धु-बान्धव उसमें सम्मिलित रहते थे। उनके धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए जाते थे। पति-पत्नी को समानाधिकार प्राप्त थे। पति का नियंत्रण रहता अवश्य था, किन्तु वह पत्नी को क्रीत दासी के रूप में नहीं समझता था। परिवार के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसकी इच्छानुसार होते थे। वह पति-स्नेह की पूर्ण अधिकारिणी ही नहीं, साक्षात् गृह-लक्ष्मी समझी जाती थी। संयुक्त सम्पत्ति में स्त्री का केवल 'स्त्री-धन' पर एकाधिकार था। वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः अविच्छिन्न ही रहते थे। यद्यपि पति एक से अधिक पत्नी रख सकता था, तो भी एक ही पत्नी रखना अधिक अच्छा समझा जाता था। शुद्ध यौनाचार पर बल दिया जाता था। सन्तान को माता-पिता का स्नेह और भरण-पोषण का अधिकार तो प्राप्त होता ही था, किन्तु सन्तान के कुछ नैतिक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए जाते थे जिनका उनसे कठोरतापूर्वक पालन कराया जाता था। पुत्र परिवार की सम्पत्ति का अधिकारी समझा जाता था। विवाह लगभग सभी करते थे। और गृहस्थ आश्रम एक ऐसे मर्यादित आश्रम के रूप में माना जाता था जिसके द्वारा अर्थ और काम की प्राप्ति हो सकती थी। स्मृतियों में गिनाए गए ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गांधर्व, आसुर, पिशाच और राक्षस ये आठ प्रकार के विवाह सैद्धान्तिक दृष्टि से मान्य थे। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचार था। क्षत्रियों में राक्षस और गांधर्व विवाह अवश्य प्रचलित थे। निम्न वर्णों में आसुर विवाह की प्रथा थी। स्वयंवर की प्रथा राजकुलों तक ही सीमित रह गई थी। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् बाल-विवाह भी प्रचलित हो गया था। उस समय अनुलोम विवाह की भी आज्ञा थी, यद्यपि अब धीरे-धीरे वर्ण, गोत्र, पिंड आदि के प्रतिबन्ध कठोर होते जा रहे थे, वर्णभेद के कारण जातिगत और वंशगत अभिमान, फलतः पार्थक्य और पारस्परिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। विवाह के समय कन्या और वर दोनों की योग्यताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था। विवाह-योग्य अवस्था धीरे-धीरे कम हो रही थी जिसका अन्त बाल-विवाह में हुआ। विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने और यवन, शक, हूणादि के, जिनमें स्त्री का बहुत ऊँचा स्थान नहीं था, सम्पर्क में आने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाल-विवाह की प्रथा का प्रचार हुआ। मुसलमानों के आने पर उसे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। कन्यादान के कारण भी ऋतुमती होने से पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिया जाने लगा। स्त्री किसी-न-किसी पुरुष के अभिभावकत्व में रहने लगी और उसके धार्मिक अधिकार कम होने लगे। घरों में ब्राह्मणों के माध्यम द्वारा अनेक संस्कार और कर्मकाण्ड सम्पन्न किये जाते थे। पति-पत्नी के आदर्श और कर्त्तव्यपूर्ण जीवन पर अधिक जोर दिया जाता था। स्मृतिकार और ऐसे कर्त्तव्य निर्धारित कर चुके थे। स्त्री-शिक्षा का यद्यपि ह्रास हो रहा था, तो भी विदुषी स्त्रियों का नितान्त अभाव नहीं था। स्त्रियों को अनेक सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। बाल-विवाह के प्रारम्भ हो जाने से स्त्री की सामाजिक स्थिति में अन्तर आया और उस पर, पितृ-कुल और श्वसुर-कुल दोनों में, अनेक प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। सती-प्रथा इस समय अधिक लोकप्रिय होती जा रही थी और उसका दुरुपयोग भी होने लगा था। मुसलमान आक्रमणों से पूर्व राजवंशों तथा उच्च परिवारों में कुछ विशेष अवसरों पर, आंशिक पर्दे का प्रचार था। समाज में एक अनिवार्य शिष्टाचार तथा व्यापक रूप में वह अभी स्वीकृत नहीं हुआ था। किन्तु इस्लामी प्रभाव और स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से पर्दा-प्रथा अधिक प्रचलित होती गई। बाल-विवाह और अशिक्षा ने उसे प्रोत्साहन प्रदान किया। विधवा-विवाह का निषेध था। वैसे तो जीवन की विभिन्न स्थितियों में स्थित व्यक्तियों ने स्त्री को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा, अपने-अपने दृष्टिकोणों से लोगों ने उसकी निन्दा या प्रशंसा की; किन्तु माता, पत्नी, पुत्री आदि विविध रूपों में वह अब भी सामान्यतः समाज द्वारा समादृत थी। कुछ नियन्त्रण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी समाज उसे लक्ष्मी-स्वरूपा, सती-साध्वी और कुलांगना के रूप में मानता था।

इस काल के समाज में विभिन्न वर्गों के विविध प्रकार के उत्सवों और वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम प्रचलित था। आखेट, मल्ल-युद्ध, घुड़सवारी, द्यूत-क्रीड़ा, सङ्गीत, नृत्य आदि मनोरंजन के साधन थे और कवियों का विशेष आदर था। भोजन और वस्त्रों की सफ़ाई का ध्यान रखा जाता था। क्षत्रियों में मदिरा-पान, भाँग और अफ़ीम खाने का रिवाज था। शाक्तों और शैवों को छोड़कर शेष लोग खान-पान में सात्त्विकता बरतते थे।

इस काल का जीवन-क्रम उस समय की वास्तु और मूर्ति-कलाओं में भली-भाँति प्रतिबिंबित होता है। भारतवर्ष में कला और धर्म का वैसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैन मत के गिरिनार, सोमनाथ और आबू के और जैन, वैष्णव तथा शाक्तों के खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मन्दिरों की अद्भुत कला के माध्यम द्वारा तत्कालीन जीवन की विविधतापूर्ण प्रेरणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इन मन्दिरों की कलात्मक बारीकी और सौन्दर्य देखकर आश्चर्यचकित होकर रह जाना पड़ता है, किन्तु हैं वे तत्कालीन जीवन के प्रतीक ही।

अस्तु, उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में संगठित सामाजिक व्यवस्था की आशा नहीं रह गई थी। धार्मिक अराजकता के बीच

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामाजिक जीवन आडम्बरपूर्ण बनता जा रहा था। ब्राह्मण पूज्य अवश्य समझे जाते थे, किन्तु उनकी श्रेष्ठता पहले की अपेक्षा कम हो चली थी। समाज में राजपूत क्षत्रियों का प्राधान्य हो गया था। राजपूत वीर, शक्तिशाली और उदार थे। राजपूत-रमणियों का साहस संसार-प्रसिद्ध है। किन्तु वे भी छोटी-छोटी बातों में पड़कर, वैयक्तिक स्पर्द्धा से अंधे होकर, राष्ट्र का व्यापक हित भूलकर आपस में लड़ा करते थे। यह ठीक है कि बीसलदेव, राणा सांगा आदि कुछ क्षत्रियों में राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी, किन्तु अधिकांश क्षत्रियों में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। समाज जाति-पाँति, गोत्र आदि के झगड़े में पड़कर ऐक्य-भावना भूल रहा था।

इस प्रकार इतिहास यह बताता है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल के समय में उत्तर भारत की जीवन-पद्धति बहुत दृढ़ नहीं थी। उस समय भारतीय मानव बहिर्मुखी परम्पराओं से बद्ध हो गया था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त उसके प्रत्येक कार्य के लिए मंत्र और विधि-विधान बन गये थे। छुआछूत और जातिभेद धर्म के आवश्यक तत्त्व समझे जाने लगे। जीवन का जो स्वाभाविक और आनन्दमय रूप था उसका ह्रास हो गया। बौद्धों और जैनियों की त्यागमार्गी परम्पराओं के कुप्रभाव से जनमानस अछूता न रह सका। राजनीतिक दुरवस्था से उतना नहीं, जितना धार्मिक और सामाजिक दुर्बलताओं के कारण भारत को विदेशी आक्रमणकारियों के सामने नतमस्तक होना पड़ा। मुसलमानों से आक्रान्त होने के बाद भारत के राजपूतों में युद्धोन्माद का अविर्भाव होना स्वाभाविक था। ये झगड़े आठवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर वृद्धि पाते रहे। इसलिए हिन्दी साहित्य के आदि काल में अनेक महत्त्वपूर्ण वीरगाथाएँ मिलती हैं। उनमें रणभेरी का निनाद ही सुनाई पड़ता है। विविध 'रासो' ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। मुसलमान विजेता ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, वीरगाथात्मक रचनाएँ भी संख्या में बढ़ने लगीं, क्योंकि चारण लोग अपने-अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहन देना अथवा उनका यश-गान करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसके अतिरिक्त देश में एक धार्मिक परम्परा तो पहले से चली ही आ रही थी।

आदिकालीन सामग्री

हिन्दी साहित्य के आदि युग के साहित्य के सम्बन्ध में और अपभ्रंश परम्परा के अन्त तथा हिन्दी भाषा के जन्म के सम्बन्ध में अभी पर्याप्त और सन्तोषजनक खोज नहीं हुई। केवल कुछ नाममात्र के परिचित ग्रन्थों के आधार पर कुछ लेखक हिन्दी साहित्य को बहुत पीछे खींच ले जाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में हिन्दी साहित्य का आदि विस्तार बहुत कुछ कल्पना पर आधारित है।

हिन्दी का आदि साहित्य दो प्रधान भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अपभ्रंश साहित्य और (२) भाषा-साहित्य। विषय की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य प्रधानतः धार्मिक साहित्य है और भाषा साहित्य लौकिक साहित्य है। अपभ्रंश का धार्मिक साहित्य या तो जैन धर्म से सम्बन्धित है और ९४३ और ११४३ के बीच

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का है, या वह बौद्ध साहित्य है और ७०० और ११४३ के बीच का है। धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त अपभ्रंश में ऐहिकतापरक काव्यों की भी रचना हुई और 'सन्देश-रासक' जैसी शृङ्गारपरक रचनाओं के उदाहरण मिलते हैं। 'संदेश रासक' के रचयिता अब्दुल रहमान आहमाण मीरसेन जुलाहे के पुत्र और विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। वे भारतीय साहित्य-परम्परा से पूर्णतः परिचित थे और वे प्राकृत कवि तथा गीतिकार के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने अपने 'संदेश-रासक' (रासक छन्द का सबसे अधिक प्रयोग होने के कारण) की रचना पश्चिमी अपभ्रंश में की। उसमें वियोग-शृङ्गार के साथ-साथ ऋतुओं, नगरों, विविध प्रकार की तत्कालीन वस्तुओं, उत्सवों, पर्वों आदि का विभिन्न (२२ प्रकार के) छन्दों में कवित्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है (बहुरूपनिबद्ध रासकत्व)। 'संदेश रासक' नाम की सार्थकता इस तथ्य के कारण है कि उसमें विजयनगर (जैसलमेर) की वियोगिनी नायिका खंभात की ओर प्रस्थान करनेवाले एक पथिक द्वारा अपने पति को संदेश भेजती है। पथिक जैसे ही जाना चाहता है, नायिका कुछ और संदेश देने के लिए उसे रोक लेती है। इन्हीं प्रसंगों के कारण ऋतुवर्णन हुआ है। दूत भी सामोरु (मुल्तान) नगर का वर्णन करता है। अन्त में पथिक जैसे ही चल पड़ता है, नायक का आगमन हो जाता है। 'संदेश-रासक' वियोग-शृङ्गारपूर्ण संदेश-काव्य है। उनके तीन प्रक्रमों से २२३ पद्य हैं। अब्दुल रहमान का अपभ्रंश भाषा पर अच्छा अधिकार था। उन्होंने व्याकरणानुमोदित अपभ्रंश लिखने की सफल चेष्टा की है। मुनि जिनविजय जी के मतानुसार यह रचना शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण से पूर्व की होनी चाहिए, क्योंकि उसमें मुल्तान का एक प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ के रूप में उल्लेख हुआ है और यह बात गोरी के आक्रमण के बाद नहीं रह गई थी। भाषा के लौकिक साहित्य के सम्बन्ध में प्रामाणिकता का अभाव है। वह या तो पूर्ण रूप से काल्पनिक है (७५०-१२००) या संदिग्ध है (११५०-१३००)। इन्ही विभाजनों के अनुसार आदिकालीन साहित्य पर यहाँ विचार किया जायगा। पहले हम अपभ्रंश के अन्तर्गत जैन धार्मिक साहित्य लेंगे।

धार्मिक साहित्य : (अ) जैन साहित्य

जैन धार्मिक साहित्य अपभ्रंश से निकली हुई प्राचीन हिन्दी में है। इस साहित्य का समय ईसा की दसवीं शताब्दी से माना जाता है। इस साहित्य का महत्त्व केवल जैन धर्म के प्रतिपादन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी है। प्रारम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश का प्रचलित रूप ही अधिक पाया जाता है। जैन-ग्रंथों में सर्वप्रथम स्वयंभूदेव (ईसा की सातवीं शताब्दी) कृत 'पउम चरिउ' (पद्मचरित्र) जैन रामायण का उल्लेख मिलता है। वे उच्च कोटि के कवि थे। मन की विविध दशाओं के उन्होंने सुन्दर वर्णन किए हैं। सामान्य वर्णनों की अद्भुत शक्ति भी कवि में पाई जाती है। डॉ० हीरालाल जैन ने देवसेन (९३३) कृत 'दर्शन सार' (९४०) का उल्लेख किया है। उनके और ग्रन्थ भी मिले हैं। उनके शिष्य माइल्ल धवल ने 'गाथा' का प्रचार किया।

इन दो लेखकों के बाद जैन-धर्म सम्बन्धी प्रारम्भिक रचनाओं में पुष्पदन्त,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चन्द्र मुनि, योगचन्द्र मुनि आदि की रचनाओं का उल्लेख किया जाता है। मुनि रामसिंह भी एक प्रसिद्ध जैन रहस्यवादी कवि हुए हैं। उनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग मध्य और उसके बाद माना जाता है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाहुड़ दोहा' है। उसका मुख्य विषय अध्यात्म है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ की रचना सुनिश्चित योजना के अनुसार न होकर समय-समय पर स्फुट रूप में हुई और बाद को इन पद्यों का संग्रह 'पाहुड़ दोहा' (जिसका अर्थ है दोहों का उपहार) नाम से कर दिया गया। कुछ दोहे तो हेमचन्द्र से पहले के हैं। ग्रन्थ में योगीन्द्र के कुछ पद्य भी मिलते हैं। साथ ही कुछ दोहे जैन कवि देवसेन की रचना (सावयधम्म दोहा) में भी मिलते हैं। वास्तव में 'पाहुड़ दोहा' में कितने दोहे स्वयं रामसिंह-विरचित हैं और कितने इधर-उधर से आकर मिल गए हैं, इन सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। स्वयं रामसिंह का आविर्भाव-काल हेमचन्द्र से पूर्व माना जाता है। उनकी विचारधारा बहुत कुछ सिद्ध कवियों के समान है। जैन होने के कारण रामसिंह ने शास्त्रों, तीर्थ, जप-तप, मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन कर मन को राग-द्वेषादि से मुक्त करने का उपदेश दिया है। मनुष्य जब मन पर इस प्रकार विजय प्राप्त कर लेता है तो वह समरसी भाव या समाधि की अवस्था धारण कर चित्त की शान्ति और परमात्म तत्त्व प्राप्त कर लेता है। मुनि जी ने गुरु-माहात्म्य, अहिंसा, सत्संग बाह्याडम्बरों और इन्द्रिय-सुख की निस्सारता, संयम, आत्म-सुख, इन्द्रिय-लोलुपता की निन्दा आदि बातों को अपनी रचना में स्थान दिया है। देह तो नाशवान् है। केवल परब्रह्म ही सत्य है। उसी में रमना देही का परम कर्त्तव्य है। आत्मा अविकारी और जरा-मरण आदि से परे और ज्ञानमय है। वह जिनदेव और सर्वव्यापी है। रामसिंह की रचना में उपदेश का स्पष्ट स्वर है। जैन-धर्म के पालन करने पर उन्होंने विशेष बल दिया है। 'पाहुड़ दोहा' में अनहद नाद, ब्रह्मरंध्र, इड़ा, पिंगला आदि योग मार्ग के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है आत्मशुद्धि, संयम, राग-द्वेष-हीनता, बाह्याडम्बरों की निरर्थकता, मन में ईश्वर की खोज या आत्म-दर्शन आदि का उन्होंने उपदेश दिया।

प्रारम्भिक जैन साहित्य में दोहा-चौपाई पद्धति पर चरित-काव्य (जिसमें ऐतिहासिक व्यक्तियों का गुणगान हो) या आख्यानक-काव्य का निर्माण हुआ। यही परम्परा आगे चलकर सूफ़ी कवियों द्वारा गृहीत हुई। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दी साहित्य ने प्राकृत और अपभ्रंश से विषय तथा शैली की दृष्टि से अनेक बातें ग्रहण कीं। जिन अनेक बातों को हिन्दी का साधारण पाठक हिन्दी की अपनी निजी मौलिक चीजें मानता है, वे वास्तव में प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से मिली हुई चीजें हैं। जैन धर्म की दोहा-चौपाई पद्धति आगे चलकर सूफ़ी कवियों, तुलसी आदि द्वारा अपनाई गई। इन प्रारम्भिक रचनाओं के आधार पर ही पुरानी हिन्दी का जन्म और पीछे खींच ले जाया जाता है।

जैन साहित्य के सम्बन्ध में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदायों—दिगम्बर और श्वेतांबर—में से पुरानी हिन्दी में केवल दिगम्बर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्प्रदाय-सम्बन्धी रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। हो सकता है श्वेतांबर सम्प्रदाय-सम्बन्धी रचनाएँ भी पुरानी हिन्दी में निर्मित हुई हों, किन्तु अभी तक वे उपलब्ध नहीं हुईं। अभी तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय-सम्बन्धी रचनाएँ गुजराती में लिखी गई अधिक मिली हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत हिन्दी में अनेक रचनाओं का निर्माण हुआ, किन्तु उसके रचयिताओं में हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुङ्ग और शार्ङ्गधर अधिक प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (१०९५-११४३) और तत्पश्चात् सिद्धराज के भतीजे कुमारपाल (११४३-११७३) के आश्रय में रहते थे। बारहवी शताब्दी के लगभग मध्य में उन्होंने जैन धर्म स्वीकार किया था। उन्होंने विविध प्रकार की कथाओं के द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। 'सिद्ध हेम व्याकरण' का 'शब्दानुशासन' और 'कुमारपाल चरित' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ :

'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्या घरु एंतु॥'

भी हेमचन्द्र की हैं। सोमप्रभ सूरि ने बारहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें हेमचन्द्र के उपदेशों का निरूपण है। मेरुतुङ्ग का आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी के लगभग प्रारम्भ में माना जाता है और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' उनकी प्रसिद्ध कृति है, जिसमें पुराने राजाओं के आख्यान मिलते हैं। संस्कृत के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अपभ्रंश के उदाहरण भी मिलते हैं। शार्ङ्गधर कवि और सूत्रकार थे। उनका समय भी चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है, किन्तु 'शार्ङ्गधर पद्धति' में उन्होंने अपना परिचय दिया है। उनका 'हम्मीर रासो' नामक वीरगाथात्मक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है, किन्तु 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' में उस ग्रन्थ के मूल पद उद्धृत हुए कहे जाते हैं।

जैन साहित्य की विशेषताएँ

वास्तव में जैन धर्म ने हिन्दी साहित्य के विकास में प्रमुख भाग लिया। हिन्दी साहित्य के आदि काल में तीर्थङ्करों की जीवनियों, सांसारिक वर्णनों, श्रावकों के चित्रणों आदि के द्वारा अपने धर्म के सिद्धान्तों का लोकप्रिय रूप में निरूपण किया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ब्राह्मण धर्मानुयायियों ने पुराणों द्वारा और बौद्ध धर्मावलंबियों ने जातक कथाओं द्वारा यह कार्य किया था। यद्यपि उस समय कहीं-कहीं गद्य के दर्शन भी हो जाते हैं, किन्तु जैन साहित्य प्रधानतः काव्यात्मक और व्याकरण के नियमों में बँधा हुआ है। जैन साहित्य की भाषा हिन्दी की आदिकालीन स्थिति का द्योतन करती है, यद्यपि उस पर अपभ्रंश का विशेष प्रभाव पाया जाता है। उसमें यत्र-तत्र गद्य के भी दर्शन हो जाते हैं, जिसे 'टिप्पनी' या 'टब्बा' कहते हैं। संस्कृत शब्दों का प्रारम्भ में प्रयोग नहीं होता था, किन्तु कालान्तर में संस्कृत शब्द रखने का संकोच उठ गया। अलंकारों की ओर जैन कवियों की कोई विशेष रुचि नहीं पाई जाती। कवियों ने धार्मिक वृत्ति के अनुसार शांत रस का विशेष रूप से निरूपण किया और अधिकतर 'दोहा' छन्द का प्रयोग किया, यद्यपि अन्य अनेक छन्द (रास,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चौढालिया, चरित, कवित्त, सिज्झाव आदि) का प्रयोग भी बराबर मिलता है। उन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों (हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित', सोमप्रभ सूरि कृति 'कुमारपाल प्रतिबोध', अम्बदेव कृत 'समरा रासो' आदि) का चित्रण किया। अतः जैन साहित्य का महत्त्व भाषा-विज्ञान और इतिहास दोनों दृष्टियों से है, किन्तु जैन कवियों के सम्बन्ध में यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही उनकी रचनाओं का प्रधान पक्ष है, न कि काव्य-सौन्दर्य-प्रदर्शन। इसलिए उसमें पिष्टपेषण भी मिलता है। वास्तव में जैन कवि धर्म-प्राण व्यक्ति थे। जैन साहित्य से लिए गए कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

'पिय संगमि कउ निद्दड़ी ! पियहो परोक्खहो केंव।
महँ विन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव।"

[प्रिय के संयोग में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे। मैं तो दोनों प्रकार से विनष्ट हुई—न इस प्रकार नींद न उस प्रकार।]

'जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पयसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउँ उज्जरियाउ नहेण।"

—हेमचन्द्र

[प्रियतम ने जो दिन मुझे प्रवास में जाते समय दिए थे, उन्हें नख से गिनते-गिनते मेरी उंगलियाँ जर्जरित हो गई हैं।]

'रावण जायउ जहि दियहि दह मुह एक सरीरु।
चिन्ताविय तइयिय जणणि कवजु पियावएँ खीरु।"

[जिन दिन दस मुँह और एक शरीर वाला रावण पैदा हुआ, उस समय जननी को यह चिन्ता हुई कि दूध किस में पिलाऊँ।]

'पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु वह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥'

—सोमप्रभ सूरि

[हे प्रियतम ! मैं सारे दिन तेरे विरह में उसी तरह तड़फड़ाती रही जिस प्रकार मछली थोड़े जल में तड़फड़ाती है।]

(आ) सिद्ध साहित्य

प्राचीन हिन्दी के बौद्ध और सिद्ध या योग साहित्य के सम्बन्ध में आज से लगभग चौबीस वर्ष पूर्व म० म० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, श्री राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ और गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर उपदेश देने वाले कुछ सिद्ध कवियों की रचनाओं का परिचय मिला। इन सिद्ध कवियों की परम्परा सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मानी जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन कवियों की परम्परा बौद्ध धर्म के विकृत रूप के अन्तर्गत आती है। बौद्ध धर्म विकृत होकर बहुत दिनों से वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भाग में प्रचलित था। वज्रयान में शून्यवाद प्रमुख तत्त्व है, जिसमें शून्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विज्ञान और महासुख की कल्पना की गई। वज्र शून्यता का भौतिक प्रतीक है। वज्रयान में प्रारम्भ में ऐसे देव का अस्तित्व माना गया जो करुणा का आश्रय है, जो समस्त जगत् के प्राणियों के लिए मोक्ष की प्राप्ति की प्रतिज्ञा करता है, जिसने जगत् की मुक्ति के लिए अपने को समर्पित कर दिया है और जिसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं। कालान्तर में करुणा का सिद्धान्त रूढ़ि मात्र में परिवर्तित हो गया और योगी के लिए वे सभी कर्म क्षम्य माने गए जिनमें रत होने से साधारण जन नरकगामी होता है। तत्पश्चात् उन्होंने तीनों लोकों को अपने आनन्द के लिए ही उत्पन्न हुआ बताया। मन्त्रों की आश्चर्यमयी शक्ति में विश्वास बढ़ा और उन्हें गुप्त तथा रहस्यमय रूप प्रदान किया गया। वज्रयानी सर्ववाद की भावना में विश्वास रखता है। प्रधान देव वज्रधर हैं, जिनके पाँच ध्यानी-बुद्ध अभिनाम, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, वैरोचन और अमोघसिद्धि उत्पन्न हुए माने जाते हैं। विशेष मुद्राएँ और वर्ग ही उनके स्वरूपों को स्पष्ट करती है। प्रत्येक ध्यानी-बुद्ध की एक शक्ति है, जिसके द्वारा अनेक बोधिसत्त्वों की सृष्टि होती है। ध्यानी-बुद्ध, उनकी शक्ति और उनमे उत्पन्न बोधिसत्त्व मिलकर एक 'कुल' कहलाते हैं, जो संख्या में पाँच हैं: आराधक 'कौलिक', आराधना 'कुलसेवा' कही जाती है। वज्रयानियों के लिए देवमूर्ति, इंद्रिय, यहाँ तक कि ज्ञान-सम्पन्न शरीर भी और बाह्य जगत् की वस्तुएँ, सभी असत्य हैं। शून्य और करुणा मिलकर बोधिचित्त कहलाते हैं। केवल बोधिचित्त का अस्तित्व ही सत्य है। अनेक उद्देश्यों के लिए शून्य का आह्वान किया जाता है और ध्यान किए गए बीजमन्त्र के अनुसार शून्य ही वह देव-स्वरूप हो जाता है, जिसका ध्यान उपासक करता है। इस साधन-मार्ग में अनेक सिद्धियों की प्राप्ति भी साधनों का उद्देश्य हो गया था। सिद्धि-प्राप्त साधक सिद्ध-पद को पहुँच जाता था। सिद्धियों के अतिरिक्त वज्रयानी साधक अन्य असाधारण शक्तियों—शांति, वशीकरण आदि—की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता था। आगे अनेक आचार इस संप्रदाय में आ गए। पाँच मकारादि—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा और मैथुन—को किसी-न-किसी प्रकार उचित बताकर प्रतिष्ठित स्थान दिया गया। ये तांत्रिक योगी 'सिद्ध' कहे जाते थे, जिनकी संख्या राहुलजी के मतानुसार तथा 'वर्णरत्नाकर' (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता, १९४०) के आधार पर, चौरासी मानी जाती है। यह वास्तव में तिब्बती परम्परा है और नामों में भेद भी मिलते हैं। इनमें से सरहपा[1], शबरपा, भुसुकपा, लुइपा, विप्रपा डोंबिपा, गुंडरिपा कुक्कुरिपा, कण्हपा (कान्हपाद), तिलोपा, कामलिपा, चाढिलपा, मिहिण्डा, विणापा, आजदेव, णेडणपा, दाणिपा, भादेपा, ताड़कपाद, कंकणपाद, जयवापी, धामपा आदि सिद्धों की कृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं और जिनका समय ८वीं-९वीं शताब्दी (२०० वर्ष के लगभग) है। इन सिद्ध कवियों में सर्वप्रथम सरहपा (सरहपाद) माने जाते हैं, जिनका समय राहुलजी ने ८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। कुछ

---

१. सिद्ध सरहपाद कृत 'दोहा-कोश' राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना द्वारा प्रकाशित हो चुका है। (१९५७)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विद्वानों ने उनका समय ७वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध भी बताया है। इन सिद्धों का कालक्रमानुसार गुरु-शिष्य-सम्बन्ध नहीं था। उनकी परम्परा में ही लुइपा, विरूपा, कुक्कुरिपा आदि अनेक सिद्ध कवि हुए। अन्य सिद्धों की वाणियाँ भी इधर-उधर बिखरी हुई मिलती हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने उन्हें 'चर्याचर्य विनिश्चय' और डॉ० शहीदुल्ला ने 'आश्चर्य चर्याचर्य' के नाम से पुकारा है। स्थूल रूप से सिद्धों की रचनाएँ चर्यागीत और दोहा-कोश नामों से पुकारी जाती हैं। चर्यागीत गेय पदों के रूप में हैं। किसी-न-किसी एक राग का उनमें प्रयोग किया गया है—मलारी, कामोद; भैरवी, गुर्जरी आदि। दोहा-कोश में प्रधानतः दोहा (१३,११) का प्रयोग हुआ है। छन्दों के प्रयोग में अव्यवस्था मिलती है। सिद्धों की रचनाओं में एक तो पश्चिमी अपभ्रंश के शब्दों से मिश्रित पूर्वी अपभ्रंश मिलती है, और दूसरे पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश। चर्यागीतों में पूर्वी रूप और दोहा-कोश में पश्चिमी रूप की प्रधानता पाई जाती है। इन सिद्धों में अलौकिक शक्ति मानी जाती थी और नवीं-दसवीं शताब्दी में जनता पर उनका काफी प्रभाव था। नालन्दा और विक्रमशिला उनके प्रधान केन्द्र थे। वे संस्कृत के अतिरिक्त प्रायः अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा का प्रयोग करते थे।

सिद्धों की रचनाओं में परमानन्द के अनुभव अर्थात् सिद्धि महासुख की अनुभूति के अतिरिक्त सम्प्रदाय के स्वरूप की झलक मिलती है। इस महासुख या सहजानन्द की प्राप्ति अविद्या से मुक्त होने पर हो सकती है। उस समय साधक को सहज मार्ग की प्राप्ति होती है; वह अहंभाव से मुक्त हो जाता है और वह धर्मकाय तथा शून्यता में लीन हो जाता है। करुणा और शून्य के मेल से ही निर्वाण प्राप्त होता है। योगी के सिर में सहस्रार कमल चक्र होता है। आनन्दावस्था में चित्त इसी चक्र में लीन होता है। इसी अवस्था को महानिर्वाण कहते हैं। योगी चित्त तथा शरीर की वृत्तियों का शमन करता है, वह जगत् को जल में चन्द्रबिंबवत् मिथ्या मानता है। सहजसुख के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु की सहायता से ही माया-मोह का बन्धन कटता है। सिद्धों ने महासुख परमानन्द की प्राप्ति और उसकी अनिर्वचनीयता का बार-बार उल्लेख किया है। आनन्द की प्राप्ति से दुःख, शोक, भय आदि विस्मृत हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। किन्तु इस अमृतरूप सहजावस्था को पूर्णतः न तो गुरु समझता है और न शिष्य। गुरु तो संकेत मात्र देता है। वास्तव में आनन्द की यह दशा लोकातीत दशा है। उसके लिए तंत्र-मंत्र कोई साधन उपयुक्त नहीं। उसके स्वरूप की व्याख्या कोई नहीं कर सकता—वेद तक नहीं। सिद्धों ने बताया कि वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, जाति-भेद, यज्ञ आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इन सबका तो उन्होंने घोर खण्डन किया है और परोपकार; दान, दया आदि का उपदेश दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा लोगों का ध्यान अन्तर्मुखी योग की ओर आकर्षित किया। वे विविध प्रकार की यातना-पूर्ण क्रियाएँ करते और ईश्वरत्व की भावना प्राप्त कर वाममार्ग ग्रहण करने का उपदेश देते थे। उनकी परम्परा के अन्तर्गत अनेक गुह्य समाज स्थापित हुए जिनमें स्त्री (शक्ति) सेवन आवश्यक समझा गया। आगे चलकर यद्यपि कबीर ने सिद्धों की कटु आलोचना की, तो भी वे उनकी शब्दावली और सांकेतिक भाषा, अक्खड़पन और वैराग्य भावना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि ग्रहण किए बिना न रह सके। सिद्धों और नाथों की भाषा 'संध्या-भाषा' नाम से पुकारी जाती है। उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसके सांकेतिक अर्थ निकलते हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार 'संध्या-भाषा' का अर्थ ऐसी भाषा से है, जो कुछ समझ में आए, कुछ न आए—कुछ स्पष्ट, कुछ अस्पष्ट—किन्तु ज्ञान के प्रकाश से सब स्पष्ट हो जाय। कुछ विद्वान् 'संध्या' का अर्थ 'साँझ' लगाते हैं। 'साँझ' समय में चीजें कुछ स्पष्ट, कुछ अस्पष्ट रहती हैं। कुछ विद्वानों ने 'संध्या' का अर्थ 'संधि देश की भाषा' माना है और संधि को वे बिहार की पूर्वी सीमा और बङ्गाल की पश्चिमी सीमा के मिलने के स्थान पर मानते हैं। दूसरा मत तो कुछ प्रचलित भी है, किन्तु तीसरा मत निराधार है। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य के मत से यह शब्द 'संधा-भाषा' है—सं० संधान = अभिप्रेत्य, और वेदों तथा उपनिषदों में भी ऐसे उदाहरण खोजे जा सकते हैं। यह भाषा उस अवस्था का द्योतन करती है जब कि अपभ्रंश में आधुनिक भाषाओं के चिह्न प्रकट होने लगे थे। अनधिकारी व्यक्तियों से छिपाने के लिए उन्होंने विविध रूपकों, असाधारण और व प्रचलित शब्दों का आश्रय ग्रहण कर भाषा का प्रयोग किया है। सिद्धों ने व्यावहारिक जीवन में व्यवहृत पदार्थों को ही रूपकों का विषय बनाया है—नौका, जुलाहा, रुई धुनना, विवाह, चौपड़, वृक्ष, कच्छप आदि। विद्वानों के मतानुसार रूपकों की क्लिष्टता चर्यापदों में जितनी अधिक है, दोहा-कोश में उतनी नहीं है। चर्यापद संप्रदाय के लिए और शास्त्रीय हैं, दोहा-कोश के पद लोकप्रिय और सामान्य भावधारा के द्योतक हैं। सिद्धों की रचना के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

'जोइनि तँह बिनु खनहि न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमलरस पीवमि॥'

—गुण्डरीपा

[योगिनि ! मैं तेरे बिना क्षण भर के लिए भी जीवित नहीं रहता। मैं तो तेरे चुम्बन द्वारा कमलरस का पान किया करता हूँ।]

'तो विण तरुणि णिरन्तर णेहें।
वोहि कि लब्भई एण वि देहें॥'

—कण्हपा

[हे तरुणि ! तेरे प्रति बिना निरन्तर नेह के इस देह द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।]

'जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहिं, तिम घरिणि लइ चित्त
समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त।'

—कण्हपा

[जिस तरह पानी में नमक घुल जाता है, उसी तरह घरिणी से प्रेम में लीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो जाने से तत्काल समरस की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, यदि वह हमेशा स्थिर रहे।]

सिद्ध कवियों में सामाजिक विद्रोह की भावना थी, जिस प्रकार आगे चलकर सन्त कवियों मे पाई जाती है। उन्होंने बाह्याडम्बरों और धर्म के रूढ़िबद्ध और शास्त्र-समस्त रूप का विरोध किया। साधु होने के स्थान पर इन्द्रिय-संयम के वे पक्षपाती थे। उन्होंने सहज या नैसर्गिक जीवन को महत्त्व प्रदान किया। इसीलिए उन्हें सहजयानी कहा जाता है। वे भोगों को त्याज्य नहीं समझते थे। उनमें केवल आसक्त होना वे ठीक नहीं मानते। आत्म और परवंचना की ओर संकेत करते हुए सिद्धों ने मन को मुक्त करना परम कर्तव्य बताया है। यही सबसे बड़ा योग (समाधि) है। परमार्थ, अपने-पराये का भेद-त्याग, संसार को सहजानन्द से पूर्ण मानना, चन्द्रसूर्य (इड़ा-पिंगला) की साधना आदि बातें उनकी विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। बौद्ध मतानुसार सभी भौतिक-अभौतिक पदार्थ नित्य सार से रहित हैं। इसी शून्यता (शून्यवाद) को इन कवियों ने अपनी योग-भावना का सार माना है। परमपद मायामय है। परमपद मन की एक विशेष अवस्था है और मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परमपद को ही उन्होंने लोक-भाषा में शून्य निरंजन कहा है।

(इ) नाथ साहित्य

बौद्धों की इस वज्रयान शाखा से सम्बन्धित गोरखनाथ का नाथ-पंथ है। भारतीय धर्म-साधना के उथल-पुथल के युग में गोरखनाथ ने भारतीय जीवन को उद्बुद्ध करने का व्रत लिया था। नाथों की संख्या प्रधानतः नौ मानी जाती है—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन। किन्तु नाथ-पंथियों के भी ८४ सिद्ध कहे जाते हैं। नाथ-पंथ के चौरासी सिद्धों में अनेक वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। उनमें से कुछ तो गोरखनाथ से पहले के और कुछ समसामयिक हैं। संप्रदाय प्रवर्तकों के अतिरिक्त चौरंगी नाथ, चामरी नाथ, तंतिया, दारिया, विरूपा, धोबी, कामरी, मद्रा, सबर आदि सिद्ध भी माने जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में ग्रंथों में उल्लेख के अतिरिक्त अनेक दंत-कथाएँ भी मिलती हैं। गोरखनाथ ने अनेक वेद-बाह्य सम्प्रदायों का सङ्गठन किया। किन्तु गोरखनाथ का योग-मार्ग भी आगे चलकर बारह विभिन्न नाथ-पंथों में विभक्त हो गया—संभवतः साधना-विषयक मतभेदों के कारण। यह विभाजन गोरखनाथ के बाद ही हुआ था। इन परवर्ती सिद्ध सम्प्रदायों का विस्तृत विवरण डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। वैसे १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक १०० से भी अधिक सिद्धों के नाम मिलते हैं। नेपाल में भी नाथों की एक परम्परा मानी जाती है, किन्तु जो सर्वप्रचलित नाथों की परम्परा से भिन्न नहीं जान पड़ती। नाथों का व्यक्तित्व महान् था। भक्ति-आंदोलन से पूर्व उन्हीं का योग-मार्ग प्रचलित था।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस सम्प्रदाय के 'सिद्ध-मत', 'सिद्ध-मार्ग', 'योग-मार्ग', 'योग-सम्प्रदाय', 'अवधून-मत', 'अवधूत-सम्प्रदाय' आदि नाम स्वयं सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हैं और 'योग-मत' और 'योग-सम्प्रदाय' नाम तो नितांत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सार्थक हैं, क्योंकि इस सम्प्रदाय का मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। इस बात का पता भी चलता है कि अति प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध-मत' ही कहा जाता रहा है और योगियों को 'सिद्ध'। किन्तु अनेक ग्रंथों में इस सम्प्रदाय को 'नाथ संप्रदाय' ही कहा गया है। ब्रह्मानन्द ने 'हठयोग-प्रदीपिका की टीका' में सब नाथों में प्रथम आदि-नाथ शिव को माना है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को 'नाथ-सम्प्रदाय' नाम से ही जानते थे, अर्थात् यह मत 'नाथोक्त' या नाथ-द्वारा कथित है। मानवों में मत्स्येन्द्रनाथ इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे गोरख के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ कौल-साधक थे। कौल-साधना में साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीव-शक्ति को उद्‌बुद्ध करना है, जो जगत् में व्याप्त है और जो कुण्ड-लिनी के रूप से मनुष्य-शरीर में स्थित है। इस मत का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' है। काया-योग नाथ-पंथियों की अपनी विशेषता है। नाथ-पंथियों का मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों का है, जिन्हें 'कनफटा' या 'दर्शनी साधु' भी कहा जाता है। बारह शाखाओं में विभक्त होने के कारण गोरखनाथी लोग 'बारहपंथी योगी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन बारह शाखाओं की भी अनेक उप-शाखाएँ हैं। नाथ-योगी मेखला, शृङ्गी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण-मुद्रा, बाघम्बर, झोला आदि चिह्न धारण करते हैं और कान फाड़कर कुण्डल पहिनते हैं। नाथ-पन्थ में बहुत से योगी गृहस्थ भी हुए, किन्तु उनकी मर्यादा कुछ हीन मानी जाती है। नाथ-पंथ के अनुयायी समस्त उत्तर भारत में पाए जाते हैं, यद्यपि ये लोग अधिकतर निम्न जातियों के हैं।

गोरखनाथ शिव देवता और शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में माने जाते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनके समय में सारा देश वेदानुयायी और वेद-विरोधी दो भागों में विभक्त हो गया था। गोरखनाथ ने अपने मार्ग के समीप वाले सभी शैवों और शाक्तों को स्वीकार कर लिया और वे सब गोरखनाथी कहलाए। जो सम्प्रदाय गोरख-सम्मत मार्ग में उस समय नहीं आए थे, वे भी धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उनकी अपनी परम्पराएँ लुप्त होती गईं, अपने मूल प्रवर्तकों में गोरखनाथ को ही मानने लगे। गोरखनाथ आज एक ऐसे सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं, जो अपनी विभिन्न परम्पराओं को लिए हुए देश के विभिन्न स्थानों में अब भी पाया जाता है। इस प्रकार वे अपने युग के एक महान् व्यक्तित्व वाले नेता थे, जिनमें अपूर्व सङ्गठन-शक्ति थी। उनके आविर्भाव के समय भारतीय धर्म-साधना निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। उन्होंने फिर से उसमें नवीन प्राणों का संचार किया। शंकराचार्य के बाद गोरखनाथ निस्सन्देह एक ऐसे महापुरुष हुए, जिन्होंने एक शक्तिशाली धार्मिक आन्दो-लन की नींव डाली। भारतीय भक्ति-आन्दोलन से पूर्व उन्हीं का योग-मार्ग प्रचलित था। इस योग-मार्ग की परम्परा ब्राह्मणों और बौद्धों को समान रूप से मान्य थी और उसका अपना विशाल साहित्य था। भारतवर्ष की लगभग सभी भाषाओं में गोरखनाथ-सम्बन्धी कथाएँ पाई जाती हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश उनसे अंतिम निष्कर्ष नहीं निकल सका। उपलब्ध सामग्री के आधार पर ९वीं-११वीं शताब्दी के आस-पास उनका समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना जाता है। उनके जन्म-स्थानों में गोदावरी-तीर पर चन्द्रगिरि, दक्षिण दिशा में बडव आदि नामों का उल्लेख किया जाता है। पंजाब-नेपाल, बङ्गाल, उत्तर-प्रदेश आदि में उनका जन्म-स्थान बतानेवाली परम्पराएँ भी मिलती हैं। किन्तु सबका आधार अनुमान है और सब विकृत रूप में मिलती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वे ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। उनका अनुमान, जो गोरखनाथी साधना के मूल सुर पर आधारित है, यह भी है कि उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। गोरखनाथ के नाम से हिन्दी (४२) और संस्कृत (२८) में सत्तर के लगभग रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर डॉ० बड़थ्वाल, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रभृति विद्वानों ने काफी विचार किया है। किन्तु उनके अध्ययन का यही निष्कर्ष निकलता है कि उनके कुछ ग्रन्थ परवर्ती और सन्देहास्पद हैं। सम्यक् रूप से यह कहा जा सकता है कि उनके ग्रन्थों का मौलिक रूप अब वर्तमान नहीं है—उनमें उनकी वाणी अवश्य कुछ-न कुछ रह गई है। गोरखनाथ ने योग मार्ग को बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया। हिन्दी में उनके 'सबदी', 'पद', 'गोरख बोध', 'नरवै बोध', 'महादेव गोरख-संवाद', 'आत्मबोध', 'गोरखदत्त गोष्टी', 'सिष्ट पुरान', 'दयाबोध', 'निरंजन पुराण', 'गोरखसागर', 'गोरख वचन', 'अष्ट चक्र', 'काफिर बोध' आदि ग्रन्थ हैं। डॉ० बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी संग्रह' में उनकी रचनाएँ संगृहीत की हैं। अधिकतर ग्रंथ संवाद रूप में हैं। गोरखनाथ के नाम से प्रचलित हिन्दी-संस्कृत ग्रन्थों की प्रामाणिकता और उनके आधार पर उनके समय के बारे में अभी कुछ कह सकना कठिन है। गोरखनाथ के कबीर, गुरु नानक आदि के साथ संवादों से केवल सांप्रदायिक महत्त्व प्रकट होता है, उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है।

वास्तव में गोरख-पंथ सिद्ध-युग और संत-युग की कड़ी के रूप में है। उनके ग्रन्थों की प्रश्नोत्तरी शैली ने आगे के सन्त कवियों को प्रभावित किया। 'गोरखबोध' में आत्मा, मन, पवन, नाद, बिंदु, सुरति आदि का विवेचन मिलता है। गोरखनाथ के पदों की प्रामाणिकता के बारे में भी सन्देह है, किन्तु वे भी कबीर के पदों की भाँति प्रचलित हो गए हैं। इन पदों में साधना, नैतिकता, गुरु, मन के संयम, काम-क्रोध या आसक्ति न होना, ब्रह्मचर्य, शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता, मांसादि का परित्याग आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। सिद्धों में तो कुछ वीभत्स और अश्लील परिपाटियाँ चल पड़ी थीं, किन्तु नाथ-पंथियों ने अपने को उनसे अलग रख हठ-योग द्वारा ईश्वर-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाया। व्यावहारिक दृष्टि से उनका योग-मार्ग पतंजलि के योग-सूत्र पर आधारित था। दार्शनिक दृष्टि से उनमें शिव-भक्ति की भावना पाई जाती है। पिण्ड और ब्रह्मांड को वे सत्ता मानते हैं। प्रलय-काल में शक्ति परम शिव में तत्त्वरूपा होकर स्थित होती है—इस अवस्था में शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता। जब उनकी सृष्टि करने की इच्छा होती है तो वे सगुण हो जाते हैं। शिव की इच्छा ही शक्ति है। निखिलानन्द-संदोह शिव और शक्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कई अवस्थाओं से गुजरती हुई सृष्टि का निर्माण करती है। शक्ति ही प्रधान है। यह शक्ति अणु-परमाणु में व्याप्त है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में उसका अनुभव किया जा सकता है। वही शक्ति कुण्डलिनी के रूप में शरीर में व्याप्त है। नाथमार्गी के लिए इस शक्ति की साधना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया है। शक्ति उद्‌बुद्ध करने का लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। योग की सिद्धि के लिए इस शरीर को जानना आवश्यक है। वास्तविक मोक्ष केवल कुण्डलिनी को उल्लसित करने या अन्य किसी अनुष्ठान से प्राप्त नहीं होता। जब सहज समाधि द्वारा मन से मन को देखा जाता है तब जो अवस्था होती है, वही वास्तविक मोक्ष है। इस सहज समाधि को समझने के लिए पतंजलि-विहित योग-मार्ग समझना चाहिए। गोरखनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है, उसमें परम्परा के अनुसार प्राणायाम से वायु का निरोध कर सिद्धि प्राप्त करना ही मुख्य है। हठयोगी प्राणवायु का निरोध कर कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करता है, और षट्‌चक्रों को भेदता हुआ उसे सहस्रार या शून्य में शिव से मिलाता है। जहाँ शिव का निवास है, वही कैलास है। इस प्रकार गोरखनाथ के अनुसार जो व्यक्ति चक्रों, नाड़ियों आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। शक्ति की जब शिव के साथ समरसता होती है तभी योगियों को कैवल्य पद वाली सहज समाधि प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर और कोई आनन्द नहीं। और, यह सब गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।

गोरखनाथ के नाम से मिलनेवाले संस्कृत ग्रन्थों में साधना-मार्ग का अधिक उल्लेख हुआ है। किन्तु उनके हिन्दी के ग्रन्थों में धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत आदि भी मिलते हैं। सामान्यतः गोरख-सम्प्रदाय में गुरु (जो अवधूत ही हो सकता है, जिसका परम पुरुषार्थ मुक्ति है), ओंकार (जो सूक्ष्म वेद है), नाम-स्वरूप में अवस्थित मुक्ति आदि को महत्त्व दिया जाता है। उसमें पुस्तकीय विद्या का कोई महत्त्व नहीं। अद्वैत वाली अवस्था चरम नहीं है, सदानन्द वाली अवस्था उससे भी ऊपर है। शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करता है, नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा है, बाकी सब बुद्ध जीव हैं। गोरखपन्थी कैलास, बैकुण्ठ आदि नहीं मानते। वे केवल निर्गुण से परे स्थान को मानते हैं। नाथ निर्गुण-सगुण दोनों से परे परात्पर हैं—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वेद आदि से परे स्वयं ज्योतिःस्वरूप एकमात्र सच्चिदानन्द मूर्ति है। इसके अतिरिक्त योग, मन की शुद्धता और दृढ़ता, तीर्थों और वादविवाद की निरर्थकता, वाक्संयम, धैर्य, विकारों के भीतर से निर्विकार तत्त्व पाना, मूर्त्त जगत के भीतर अमूर्त्त परम तत्त्व को प्राप्त करना आचरण की पवित्रता, शील, मध्यम मार्ग, गृहस्थाश्रम के बन्धन और उनकी दयनीय दशा, पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण कर मन को गुरुमुख और काया को अग्निमुख कर शरीर की अपवित्रता को मिटाकर नाथ पद प्राप्त करना, (नाद वाणी) और बिन्दु (वीर्य) को संयमित करना, नशीली चीजों का त्याग, आदि बातों पर जोर दिया गया है। इस प्रकार इस धार्मिक साधना में कठोर साधना पर आधारित आंतरिक शुद्धि, ज्ञान के प्रति निष्ठा, ब्रह्मचर्य आदि को प्रमुखता दी गई। नाथ-पंथी एकेश्वरवाद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्वास रखते थे। उनके सम्प्रदाय में मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने संन्यास पर अधिक ज़ोर न देकर घर में रहकर ही ईश्वर-प्राप्ति पर ज़ोर दिया। उनकी दृष्टि में जप, वेद, तीर्थ आदि का कोई महत्त्व नहीं। उन्होंने परमात्मा को अपने हृदय में ही खोजने का उपदेश दिया। उनकी रचनाओं में तान्त्रिक विधान, योग साधन, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध आदि बातें पाई जाती हैं।

यद्यपि कबीर द्वारा प्रवर्तित संत साहित्य पर सिद्धों का भी प्रभाव है, किन्तु उसकी नींव नाथ-पंथ ने ही डाली थी। सिद्ध यदि पूर्वी भारत में क्रियाशील थे, तो नाथ-पंथियों का क्षेत्र राजपूताना और पंजाब, अर्थात् पश्चिमी भारत था। नाथ-पंथियों का मुसलमान सूफ़ी कवियों से भी सम्पर्क था। जिस प्रकार सिद्धों से अधिकतर निम्न जाति के लोग ही दीक्षित थे, उसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय का प्रचार भी निम्न और अशिक्षित लोगों में अधिक हुआ, जो प्राचीन ग्रंथों के शास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ थे। किन्तु वे पंडितों का मज़ाक अवश्य बनाते थे। आगे चलकर संत-मत का प्रचार भी अधिकतर अशिक्षित और निम्न वर्ग के लोगों में हुआ। नाथ-पंथियों की भाषा पुरानी पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के एक मिश्रित रूप में थी, जिसने आगे चलकर सन्त-साहित्य (कबीर) की भाषा की नींव डाली। नाथ-साहित्य के कुछ उदाहरण देखिए :

'नाथ निरंजन आरती गाऊँ।
गुरदयाल अग्याँ जो पाऊँ। टेक॥
यहाँ अनन्त सिधा मिलि आरती गाई।
तहाँ जम की बाच न नैड़ी आई॥
जहाँ जोगेसुर हरि कूँ ध्यावैं।
चंद सूर तहाँ सीस नवावैं॥
मछिंद्र प्रसादे जती गोरषनाथ आरती गावैं।
नूर झिलमिल दीसैं तहाँ अनन्त न आवैं॥'

—गोरखनाथ

[यदि दयालु गुरु की आज्ञा पाऊँ तो मैं परब्रह्म निरंजन नाथ की आरती गाऊँ। जहाँ अनन्त सिद्ध मिलकर आरती गाते हैं, वहाँ यम की हवा पास भी नहीं फटकती। जहाँ योगीश्वर हरि का ध्यान लगाए रहते हैं, वहाँ चन्द्रमा और सूर्य शीश नवाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से गोरखनाथ आरती गाता है। उसे परब्रह्म का झिलमिल प्रकाश दिखाई देता है, वहाँ अन्य (प्रकाश) नहीं आता।]

'तुंबी मैं तिरलोक समाया त्रिवेणी रिब चन्दा।
बूझो रे ब्रम्भ गियानी अनहद नाद अभंगा।'

—गोरखनाथ

[(माया की) तूंबी में त्रिलोकी, त्रिवेणी (त्रिकुटी), और सूर्य-चन्द्र समाए हुए हैं। इसलिए हे ब्रह्मज्ञानियो, अखण्ड अनाहत नाद को समझो।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हसिबा षेलिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि अपनां चीत।'

—गोरखनाथ

[हँसो, खेलो मस्त रहो, किन्तु काम-क्रोध का संग कभी न करो। हँसो, खेलो, गीत गाओ, अपना चित्त दृढ़ रखो।]

धार्मिक साहित्य की विशेषताएँ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जैनों की रचनाओं में काव्य-सौन्दर्य का कम प्रदर्शन हुआ है—उनमें धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही अधिक हुआ है। सिद्धों और नाथों की रचनाओं में भी काव्य-सौन्दर्य एक प्रकार से नगण्य है। उनमें साम्प्रदायिक प्रवृत्ति प्रधान है और तन्त्र-विधान, योग-साधन, आत्म-निग्रह आदि योग संबंधी बातों की प्रधानता है। मानव-हृदय की अनुभूतियों और उनके विविध पंथों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और यद्यपि हम उन्हें शुद्ध आनन्दमूलक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मान सकते, तो भी उनमें कविता के शास्त्र-समस्त गुणों का पूर्णरूपेण अभाव नहीं है। उपमाओं, रूपकों, उलटवासियों, व्यंग्योक्तियों, रहस्योक्तियों आदि के उनमें बड़े अच्छे प्रयोग मिलते हैं। उपमा का उदाहरण इस प्रकार है :

'अप्पा परहि ण मेलविउ, गमणा गमण ण भोग्ग।
तुम कुट्टन्ते काल गउ, चाउला हत्थ ण लाग्ग॥'

—सरह

कबीर की उलटवासियाँ प्रसिद्ध हैं। सरह के 'दोहाकोशगीति' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

बद्धो धावहि दस दिसाहि मुक्को णिच्चल ट्ठाअ।
एमइ करहा पेक्ख सहि, विवरिअ महु पडिहाअ।"

सिद्धों और नाथों ने शृङ्गार रस-सम्बन्धी रूपक ग्रहण किए हैं, किन्तु उन्हें सांकेतिक शब्दावली द्वारा व्यक्त किया है। हाँ, इस सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य से पुरानी हिन्दी को विकास का अवसर अवश्य प्राप्त हुआ अर्थात् वैदिक-पाली-प्राकृत जैसी श्लिष्ट भाषाओं से उत्पन्न अश्लिष्ट भाषा—अपभ्रंश—का जन्म हुआ और उससे हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं का विकास हुआ। यह अभूतपूर्व भाषा सम्बन्धी परिवर्तन भी इसी समय हुआ। साथ ही जैन, सिद्धों और नाथों ने ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म की परम्परागत व्यवस्था का तिरस्कार किया और प्रचलित शब्दावली के स्थान पर 'शब्द', 'सुरत', 'अनहद', 'बन्शी', 'शून्य' आदि विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया और कुछ नई मान्यताएँ स्थापित कीं जो आगे चलकर सन्त-सम्प्रदाय के कवियों द्वारा गृहीत हुईं। दोहा, चौपाई और पद्धरी जैसे नए छन्द भी इसी समय देखने में आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक जो धार्मिक साहित्य उपलब्ध है, वह दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच का है। उसमें ब्राह्मण धर्मान्तर्गत वैदिक परम्पराओं का विरोध किया गया है और शास्त्र-सम्पन्न मार्ग का खंडन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया गया है। इस धर्म के लोग उच्च वर्ण के ही रहे हों यह आवश्यक नहीं है। कहना तो चाहिए कि उसमें अधिकतर निम्न वर्ग के ही लोग थे और वे आत्म-साधना में रत रहते थे, यद्यपि कालान्तर में ये साधनाएँ मार्ग-भ्रष्ट हो गई थीं। भाषा, शब्द-चयन, छंद आदि की नवीनता एक नए युग की ओर संकेत करती हैं। सिद्ध-नाथ कवियों ने शिष्ट साहित्य का अनुसरण न कर लोक-साहित्य का अनुसरण करना पसन्द किया। कविता करना उनका ध्येय न होकर सन्देश देना प्रधान ध्येय था।

लौकिक साहित्य : डिंगल या वीरगाथा साहित्य

धार्मिक साहित्य पर विचार कर लेने के पश्चात् आदि काल के लौकिक साहित्य पर विचार करना है। हिन्दी में दो नाम प्रचलित हैं—डिंगल और पिंगल। अपभ्रंश के अन्तिम काल (ईसा की ११वीं शताब्दी के लगभग) के बाद काव्य-परम्परा के आधार पर हिन्दी दो शाखाओं में विभक्त की गई—डिंगल और पिंगल। राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी के साहित्य-रूप का नाम डिंगल है, जो अनियमित और पिंगल से प्राचीन मानी जाती है। नागर अपभ्रंश से प्रभावित यह राजस्थानी भाषा (मारवाड़ी, मेवाती, मालवी और ढूँढ़ाड़ी उपशाखाएँ) डिंगल या मरु भाषा या मारवाड़ी भाषा के नामों से अभिहित की जाती है। १५वीं शताब्दी के अन्त या १६वीं शताब्दी में 'डिंगल शब्द का प्रयोग (डिंगल' या ढींगल' रूप में) मिलने लगता है। 'डिंगल' शब्द का व्युत्पत्ति अनिश्चत है। डॉ० एल० पी० टेसिटरी ने 'डिंगल' का अर्थ 'अनियमित' या 'अपरिष्कृत' बताया है। कुछ विद्वान् उसे 'डीगा गल' (ऊँची बोली में बात, क्योंकि चारण अपनी कविता उच्च स्वर में पढ़ते थे) अथवा 'डींग + ल' (अर्थात् डींग या अतिशयोक्ति से पूर्ण बात) से मानते हैं, और कुछ लोग उसे बाद को पिंगल के नाम के अनुकरण पर गढ़ा गया मानते हैं। डॉ० सुनीत कुमार चैटर्जी 'डूंगर > डिंगल = पर्वत, पहाड़ी' के रूप में उसकी व्युत्पत्ति मानते हैं। कुछ विद्वान् उसकी 'डिम् (डमरू की ध्वनि) + गल (गला)' के रूप में उसकी व्याख्या करते हैं अर्थात् वह कविता जो डमरू की ध्वनि की भाँति गले से निकलकर वीरों में वीर रस की सृष्टि करे। इसी प्रकार 'डगल' = मिट्टी का ढेला (भाषा और शैली दोनों रूपों में और कालान्तर में 'डगल' ही 'डिंगल' हो गया)' अथवा 'डिंगल', ढींगल > 'डिल' बेडौल, अनियन्त्रित, अथवा 'डग' (पंख) + 'ल' (लिये हुये) अथवा 'डग' (तीव्र गति) + 'ल' (लिये हुये), अथवा 'डगल' = ढीला (व्याकरण न होने के कारण) आदि के रूप में 'डिंगल' शब्द की व्युत्पत्ति और नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न मत है। इन मतों में खींचातानी भी मिलती है। पिंगल मध्यप्रदेश की साहित्यिक ब्रजभाषा का नाम था जिसमें शास्त्रीय नियमों का पालन डिंगल की अपेक्षा अधिक होता था। 'पिंगल' का सम्बन्ध कुछ विद्वानों ने पाँगल = लूले या पशु से माना है, क्योंकि ब्रजभाषा मन्द-मन्द गति से पढ़ी जाती है, और कुछ विद्वानों ने छन्द-शास्त्र के प्रणेता पिंगल मुनि से माना है। आदि काल का लौकिक साहित्य डिंगल में मिलता अवश्य है, किन्तु एक तो वह इस काल के अन्त में मिलता है, दूसरे यह स्फुट रूप में है और वह स्तुतिपरक, वीर, भक्ति और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शृङ्गार की प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। डिंगल साहित्य की दो प्रमुख रचनाएँ—श्रीधर कृत 'रणमल छन्द' (१४०० ई० के लगभग) और कल्लोल कवि कृत 'ढोला मारू रा दोहा' (१४७३ ई०) प्राचीनतम मानी जाती है, जिनका यथास्थान आगे उल्लेख किया जायगा।

'मिश्रबन्धु-विनोद' के प्रारम्भ में पुण्ड या पुष्य, भाट कवि, कालिंजर के राजा नन्द कवि, साद के पुत्र मसऊद, कुतुबअली, साईंदान चारण और अकरम फैज नामक सात कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख हुआ है। मिश्रबन्धुओं ने उनके सम्बन्ध में थोड़े-थोड़े विवरण भी दिये हैं। उनका समय आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक माना गया है—अर्थात् उनका समय प्रसिद्ध कवि चन्द बरदाई से पूर्व माना गया है। चन्द का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है। इन सात कवियों के अतिरिक्त भुवाल और मोहनलाल द्विज के नाम उसी समय के लगभग रखे जाते हैं। किन्तु इन सभी कवियों और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ पता नहीं चल सका। कवियों के सम्बन्ध में यदि कुछ ज्ञान हुआ है, तो रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यदि रचनाएँ उपलब्ध हैं, तो वे प्रामाणिक नहीं हैं। इसी प्रकार चन्द से पूर्व रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज के दानपत्रों के रूप में राजस्थानी गद्य के जो उदाहरण उपलब्ध हैं, उनकी प्रामाणिकता में भी संदेह किया जाता है। अस्तु, लौकिक साहित्य के अन्तर्गत रखा गया उपर्युक्त साहित्य अभी तक पूर्ण रूप से काल्पनिक है। इस साहित्य के अप्रामाणिक होने का कारण यह है कि उस समय भारत पर लगातार मुसलमानी आक्रमण होने लगे थे और भारतीय राज्य-शक्ति क्षीण हो गई थी। भारतीय नरेश आपस में युद्ध-विग्रह कर भारत की दुरवस्था और भी बढ़ा रहे थे। मध्य देश की राज्य-शक्ति ने भी भाषा-साहित्य को आश्रय न दिया। धर्म ने भी उसे संरक्षण प्रदान न किया। ऐसी परिस्थिति में भाषा-साहित्य सुरक्षित न रह सका।

लौकिक साहित्य के अन्तर्गत कुछ ऐसी रचनाओं की गणना की जाती है, जो उपलब्ध हैं, उनके रचयिताओं के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ज्ञात है; किन्तु पाठ, काल, तिथियों आदि की दृष्टि से उनमें अनेक सन्देहात्मक स्थल मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य को संदिग्ध साहित्य कह सकते हैं। आदि काल से सम्बन्धित जो वीरगाथात्मक प्रतियाँ मिलती हैं, उन्हें 'रासो' कहा जाता है। तासी 'राजसूय' से, पं० रामचन्द्र शुक्ल 'रसायण' के, कुछ विद्वान् 'रहस्य' शब्द से 'रासो' की व्युत्पत्ति मानते हैं। 'वीसलदेव रास' में 'रसायण' शब्द आया है। 'रासो' का मूल शब्द 'रास' या 'रासक' है। 'रासक' का अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी में 'राउस' शब्द हुआ। प्राचीन राजस्थानी में 'रासो' या 'रासक' का अर्थ कथा-काव्य है। राजस्थानी और गुजराती में अनेक 'रास' लिखे गये हैं। यह शब्द 'राइसो' या 'रायसी' रूप में भी मिलता है। 'रास' तथा 'रासो' नामों में कोई भेद नहीं है। ऐसा नहीं है कि 'रास' में केवल कोमल भावनाओं का ही चित्रण रहता हो और 'रासो' में युद्धादि का वर्णन न हो। 'रासो' ग्रन्थों के सामान्य लक्षणों के सम्बन्ध में अभी खोज की आवश्यकता है। हिन्दी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में सबसे अधिक प्रसिद्ध 'रासो' ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसलदेव रासो' है। किन्तु इन दोनों ग्रन्थों से हिन्दी-रासो-परम्परा की रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती। कुछ लोगों के अनुसार बाण (वि० की ८वीं श०) कृत 'हर्षचरित' में रासक के मंडलाकार नृत्त तथा अश्लील पदों का गान होने की सूचना प्राप्त होती है। उद्योतन सूरि (८वीं श० ई०) ने अपने ग्रंथ 'कुवलयमाला कथा' में रास के नृत्त से संबन्धित होने का उल्लेख किया है, जिसमें स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। जैन कवि वीर ने अपनी अपभ्रंश कृति 'जंबूस्वामी चरित' (१०१९) में रासक के गेय काव्यरचना होने का उल्लेख किया है। चर्चरी और रास दोनों गाये जाते थे। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में और वाग्भट ने भी अपने 'काव्यानुशासन' में 'रासक' को गेय रूपक माना है। 'अम्बादेवी रास' नामक रचना का जिन सेवकों द्वारा नृत्त किया जाता था। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' तथा 'बीसलदेवरास' में उनके नृत्त-नाट्य होने का उल्लेख किया गया है। यह रासो-परम्परा पुरानी राजस्थानी और गुजराती से पूर्व अपभ्रंश में मिलती है। अपभ्रंश में 'मुंजरास' (९९७ के लगभग) और 'सन्देह रासक' (जो मसृण अधिक है) (विक्रम की १३ वीं शताब्दी के लगभग अब्दुल रहमान कृत) आदि 'रासो' मिलते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से यही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में 'रासो' नामक रचनाओं का नृत्त-गीत से संबन्ध था। कुछ रासो नृत्त के अनुसार सरल, सरस, लघु और एक बैठक में समाप्त हो जाने वाले पाये जाते हैं। आगे चलकर नाट्याचार्यों के एक वर्ग ने 'रासक' का शास्त्र में उल्लेख नहीं किया। नृत्य-प्रधान उपरूपकों का धनञ्जय (१०वीं शताब्दी) ने भी उल्लेख नहीं किया। सबसे पहले अभिनवगुप्त (१०००) ने भारत के नाट्यशास्त्र की टीका करते समय 'रासक्रीड़क,' 'रासक', 'हल्लीसक' आदि नृत्य-भेदों का उल्लेख किया है और उनके लक्षण बताये हैं। 'हल्लीसक' एक मण्डलाकार नृत्य था, जिसका एक ही नेता होता था, जैसे गोपियों में कृष्ण। 'रासक' में चित्र, ताल, लय से युक्त ६४ तक नर्तक-नर्तकियाँ भाग ले सकती थीं। 'रासक' तीन प्रकार का माना जा सकता है :

रासक

मसृण (कोमल) (जैसे, डोम्बिका) [सुकुमार विषय, शृङ्गार रस से युक्त कल्पना]	उद्धत (जैसे, भाणक) [कठोर, वीर रसात्मक विषय]	मिश्र (जैसे, शिङ्गटक, प्रस्थान, भाणिका हल्लीस)

आगे चलकर भोज ('शृङ्गार प्रकाश') शारदातनय (११६८-१२४३ के लगभग 'भावप्रकाश') और विश्वनाथ ने 'रासक' और 'नाट्यरासक' दो भेदों का उल्लेख किया है। सभी का एक मत है कि ये नृत्य-प्रधान उपरूपक अनेक नर्तकियों की सहायता से अभिनीत होते थे। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'रास' को प्रेम-प्रधान और 'रासो' को वीर-प्रधान माना है। किन्तु दोनों का यह अन्तर सर्वत्र लागू नहीं होता, क्योंकि 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' वीर-काव्य हैं और 'उपदेश रसायन रास' नीति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्य है। सामान्यतः 'रासक' रचनाओं में वीर रस, शांत रस या शृङ्गार रस प्रधान रहता था, अर्थात् 'रासक' या 'रासो' मिश्र गेय रूपक है। अपभ्रंश की 'रासो' कृतियों से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि 'रासक' रचनाएँ छन्दबद्ध रहती थीं। आगे चलकर छन्दों की विविधता 'रासक' रचनाओं की विशेषता हो गई। काव्य-धारा के रूप में डिंगल और पिंगल के वीर रसात्मक 'रासो' ग्रन्थों का विकास रासनृत्य के उद्धत रूप से हुआ कहा जा सकता है। कालान्तर में दृश्य नृत्य काव्य के क्षेत्र से निकल कर 'रासो' ने श्रव्य काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'रासो' की परम्परा दो रूपों में मिलती है—(१) नृत्य, गीतमय और (२) विविध छन्दों से पूर्ण। पहली परम्परा का सम्बन्ध मुख्यतः जैन धर्म से रहा ('बीसलदेव रास' अपवाद-स्वरूप है) और द्वितीय का, जैन धर्मेतर विषयों से, जिसमें कवियों का ध्यान काव्य-सौन्दर्य की ओर अधिक रहा। पहली परम्परा का विश्लेषण शारदातनय के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है :

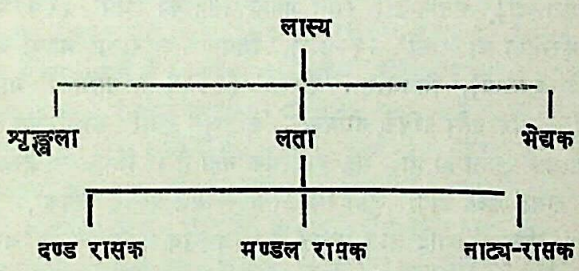

उनके अनुसार नाट्य-रासक एक प्रकार का गीति-नाट्य-प्रधान उपरूपक था। जैन रचनाओं की भाषा अपभ्रंश-बहुला है और उनकी रचना प्रधानतः पश्चिमी राजस्थान और गुजरात में हुई।

दूसरी परम्परा के सम्बन्ध में अपभ्रंश के प्रायः सभी छन्द-निरूपकों ने 'रासो' नामक छन्द का उल्लेख किया है और रासक तथा रासाबन्ध नामों से एक काव्य-रूप का भी लक्षण बताया है। इन दो छन्द-निरूपकों के नाम हैं विरहांक और स्वयंभू। विरहांक ने 'वृत्तजाति समुच्चय' में लिखा है कि जिस रचना में बहुत से अडिला, ढोसा, मात्रा, रड्डा और दोहा छन्द पाये जाते हैं, उसे रासक कहते हैं। स्वयंभू ने 'स्वभूच्छंदस' में कहा है कि काव्य में 'रासाबन्ध' अपने घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य रूपकों के कारण जन-मन अभिरांम होता है। यह शुद्ध साहित्यिक परम्परा है। इस परम्परा की भाषा बोलचाल की भाषा हो गई थी और उसका विकास संपूर्ण हिन्दी प्रदेश में हुआ। ये दोनों परम्पराएँ अलग-अलग विकसित हुईं। पहली परम्परा अर्थात् गीत-नृत्य-परक रासो-परम्परा के अन्तर्गत डॉ० गुप्त ने जिनदत्त सूरि : 'उपदेश रसायन' (११४३ के बाद की), शालिभद्र सूरि : 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (११८४), 'बुद्धि रास' (११८४ के लगभग), आसगु : 'जीवदया रास' (१२००), 'चंदन बाला रासु' (१२०० के लगभग), धर्मसूरि : 'जंबू स्वामी रास' (१२०९), विजयसेन, सूरि : 'रैवत गिरि रासु, (१२३१ के लगभग), पाल्हण : 'नेमिजिणंद रासो' (आबूरास)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१२३२), देल्हणी : 'गयसुकुमाल रास' (१२४३ के लगभग), ? : 'सप्तक्षेत्रि रासु, (१२७०), मण्डलिक : 'पेथड रास' (१३०३), ? : 'कच्छूलि रास' (१३०६), अंबदेव सूरि : 'समरा रासु' (१३१४) और नरपति नाल्ह : 'बीसलदेवरास' का उल्लेख किया है। विविध छन्दों से पूर्ण या शुद्ध साहित्यिक परम्परा के अन्तर्गत उन्होंने ? : 'मुंजरास (९४३-९९७ के बीच में), 'अब्दुल रहमान : संदेश रासक', चन्द बरदाई : 'पृथ्वीराज रासो', ? : 'हम्मीर रासो', जल्ह : 'बुद्धि रासो', ? : 'परमाल रासो', ? : 'राउ जैतसी रो रासो' ?, नल्हसिंह भाट : 'विजयपाल रासो' (१५४३ के बाद), माधवदास चारण : 'राम रासो', दयाल कवि : 'राणा रासो' (१६१८ के लगभग), : कुम्भकर्ण : 'रतन रासो' (१६१८ और १६२४ के बीच) न्यामत खाँ 'जानकवि' : 'कायम रासो' (१६२४) डूंगरसी : 'शत्रशाल रासो' (१६५३ के लगभग), कान्ह कीर्तिसुन्दर : 'मांकण रासो' (१७००), गिरधर चरण : संगतसिंह रासो' (१६६३ अथवा १६९८ ?), जोधराज : 'हम्मीर रासो' दलपति विजय : 'खुमाण रासो' (१८वीं शताब्दी), सदानन्द : 'रासा भगवन्तसिंह का रासो' (१७३६ के बाद), गुलाब कवि : 'करहिया का रासो' (१७७७), शिवनाथ : 'रासा भइया बहादुर सिंह का' (१७९६ के लगभग); शिवनाथ : 'रायसा' (१७९६ के लगभग) महेश कवि : 'हम्मीर रासो' (?) और अलि रसिक गोविन्द : 'कलिजुग रासो' का उल्लेख किया है। 'रासो' वीरगाथात्मक रचना हो ही, यह आवश्यक नहीं है। डिंगल साहित्य से चरित-काव्यों के साथ 'रासो' शब्द प्रायः जुड़ा मिलता है—जिस प्रकार 'रूपक', 'वचनिका', प्रकाश', 'विलास', 'विजय' आदि शब्द मिलते हैं। वास्तव में 'रासो' से 'चरित-काव्य' का अर्थ विशेषतः लिया जाना चाहिए। डॉ० गुप्त के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी रासो-काव्य-धारा पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में अभी और खोज की आवश्यकता है। हिन्दी के 'रासो' ग्रन्थ अधिकतर ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर इतिहास और पुराण-शैली के मिश्रण से बने हैं और जिनमें अपभ्रंश कालीन काव्य-रूढ़ियों और शैलियों का प्रयोग हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' रासक होने के साथ-साथ चरित-काव्य या कथा-काव्य भी है अर्थात् उसमे एक ऐसी रसमय कथा है जिसमे चरित-नायक के युद्धों, विवाहों, आखेटों आदि का वर्णन भी है।

वीरगाथा साहित्य के प्रमुख कवि : ब्रह्मभट्ट

वीरगाथाओं के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ब्रह्मभट्ट (?) कवि का उल्लेख मिलता है जिनकी रचना का नाम 'खुमान रासो' है। उसमें रामचन्द्र से लेकर खुमान तक नरपतियों का उल्लेख है। कुछ विद्वान् उसे दलपति या दौलत विजय कृत भी मानते हैं। संभव है, वह 'खुमान रासो, के बाद के अंश का कवि हो। चित्तौड़ में रावल खुमान तीन माने जाते हैं। अनुमान है कि जिस युद्ध का ग्रन्थ में वर्णन है, वह खलीफ़ा अल-मांमू और द्वितीय खुमाण (८१३—८४३) के बीच हुआ होगा। रचना में वीर रस प्रधान है और 'गाहा' (गाथा) और छप्पय छन्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु इस ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सभी इतिहास-लेखकों को संदेह रहा है। केवल 'हरिऔध' ही का मत है कि प्रक्षिप्त अंश होने पर भी उसमें प्राचीन अंश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और उसकी भाषा प्राचीन है। किन्तु श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में दलपति या दौलत विजय का रचना-काल विक्रम-संवत् की अठारहवीं शताब्दी का लगभग मध्य माना है।

नरपति नाल्ह : बीसलदेव रास'

दूसरे कवि नरपति नाल्ह और उनका ग्रंथ 'बीसलदेव रास' है। यद्यपि इस ग्रन्थ में अनेक संदेहात्मक स्थल हैं, तो भी उसे हम प्रथम निश्चित ग्रन्थ मान सकते हैं। ग्रन्थ का संबन्ध अजमेर के चौहान वंश से है। कवि विग्रहराज चतुर्थ या बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। ग्रन्थ की मूल प्रति में तिथि संबन्धी कोई निर्देश नहीं मिलता। इसलिए उसकी रचना-तिथि के संबन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। ग्रन्थ की विभिन्न प्रतियों में 'बारह सै बहोत्तरां' या बहोत्तरां', 'बारोंतरा' और सहस सतिहत्तरइ' या 'सहस तिहुत्तरै' या 'सहस त्रिहन्तरे', 'सहस तिहरे', 'सहस तिहत्तरई', 'सहस तिहुतरै', और 'तेरसतोत्तरह' तिथियाँ मिलती हैं। इन भिन्न शब्दों के कारण १०७३, १०७७, १२१२, १२७२, १२७३, १३०७, १३५४, १३६९ और १३७३ (या १३७७) संवत् निकले हैं। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, लाला सीताराम, अमर चंद नाहटा सं० १२७२ स्वीकार करने के पक्ष में है। रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास सं० १२१२ का समर्थन करते हैं। मिश्रबन्धु को सं० १३५४ मान्य है ? विद्वानों का मत इधर १२७२ को स्वीकार करने की ओर ही अधिकतर झुका हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए डॉ० गुप्त ने बीसलदेव, राजमती और भोज परमार पर विचार किया है। बीसलदेव—विग्रहराज—नामक चार राजा माने जाते हैं, जिसमें बीसलदेव तृतीय का समय १०९३ ई० है। डॉ० गुप्त इस ग्रंथ के बीसलदेव को बीसलदेव तृतीय ही मानते हैं। बीजोल्यां के शिलालेख में दी हुई चौहानों की वंशावली में विग्रहराज तृतीय की पत्नी का नाम राजदेवी है। 'बीसलदेव रास' में यही राजमती के नाम से हैं। इसी प्रकार भोज परमार का समय भी उन्होने १५५५ ई० स्वीकार किया है। किन्तु वह ग्रन्थ राजा भोज परमार और बीसलदेव तृतीय के बहुत बाद का ही हो सकता है। पाठ-परम्परा की दृष्टि से 'बीसलदेव रास' १३१२ के लगभग की रचना है। भाषा की दृष्टि से भी यह रचना १३४३ के आसपास की प्रतीत होती है। जो विद्वान् इसे १५वीं-१६वीं शताब्दी की रचना मानते हैं। वे सभा के संस्करण के आधार पर ऐसा मानते हैं, किन्तु उसमें, प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं। अतः डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने ऐतिहासिक तथ्यों, भाषा, ग्रन्थ में उल्लिखित स्थानों आदि पर विचार कर ग्रंथ की रचना-तिथि संवत् १३६९ वि० (१३१२ ई०) के लगभग मानी है किन्तु 'बीसलदेव रास' की तिथि के संबन्ध में अभी अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है। उसकी भाषा का विश्लेषण भी इस दृष्टि से सहायक सिद्ध नहीं होता। डिंगल और पिंगल भाषाओं की बहुलता होने के कारण यह १५वीं शताब्दी के बाद की भाषा का रूप प्रदान करती है, तो अपभ्रंश संज्ञाओं और क्रियाओं के रूप उसे १२वीं शताब्दी की भाषा सिद्ध करते हैं। वास्तव में बहुत दिनों तक मौखिक रूप में रहने के कारण उसकी भाषा में समयानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। इसलिए भाषा का विश्लेषण भी तिथि निर्धारित करने में सहायक सिद्ध नहीं होता। ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसमें प्रामाणिक अंश कितना है, यह कह सकना कठिन है। डॉ० तारकनाथ अग्रवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'बीसलदेव रासो' में इन सभी पक्षों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। कवि आविर्भाव काल तथा उसकी जाति के संबन्ध में भी मतभेद है। उसे कोई भाट, कोई व्यास और कोई ब्राह्मण मानता है।

'बीसलदेव रास' के कुल मिलाकर ५०० से अधिक छन्द मिलते हैं, किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने १२८ छन्द ही प्रामाणिक माने हैं। 'बीसलदेव-रास' की कथा चार खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में शाकंभरी नरेश मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती और बीसलदेव से विवाह, दूसरे खण्ड में राजमती और बीसलदेव में लौकिक विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद, बीसलदेव का उड़ीसा जाना और उड़ीसा के राजा देवराज द्वारा उसके स्वागत, तीसरे खण्ड में राजमती के वियोग और बारह वर्ष बाद पुरोहित के माध्यम से पत्र पाकर बीसलदेव के अजमेर लौटने व चौथे खण्ड में बीसलदेव द्वारा अपने भतीजे को युवराज पद पर आसीन करने भोज को आमन्त्रित कर उससे मिलने, भोज का अपनी पुत्री को घर ले जाने और बीसलदेव द्वारा राजमती को घर वापस लाने आदि का वर्णन है। रचना में शृङ्गार रस प्रधान है। विप्रलम्भ शृङ्गार का उसमें सुन्दर परिपाक हुआ है। 'बीसलदेव रास' गेय है।'

'बीसलदेव रास' प्रधानतः वर्णनात्मक काव्य है। किन्तु वर्णित घटनाओं की प्राथमिकता में विद्वानों को सन्देह है। बीसलदेव का परमार राजा भोज की पुत्री राजमती से विवाह करना, बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा चला जाना राजमती का विरह-वर्णन तथा बाद की घटनाएँ सब मनमानी प्रतीत होती हैं। भाषा की दृष्टि से भी ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि यद्यपि भाषा राजस्थानी (डिंगल) है, तो भी उसमें अपभ्रंश की झलक बहुत कुछ विद्यमान है, उसमें ब्रज और खड़ीबोली के प्राचीन रूपों का व्यवहार हुआ है, और ऐसे प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग उस समय अपभ्रंश में होता था। साथ ही अरबी-फ़ारसी के अनेक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, जो असंभव नहीं है। वास्तव में बहुत दिनों तक मौखिक रूप में रहने के कारण भाषा का मूल रूप सुरक्षित नहीं रह सका। भाषा बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से आगे की प्रतीत होती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से 'बीसलदेव रास' के संबन्ध में यह निष्कर्ष निकलता है कि गाथा, भाषा, तिथि आदि और अपने मूल रूप की दृष्टि से वह संदिग्ध ग्रन्थ है। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने उसे हमीर के समय का रचा हुआ ग्रन्थ माना है। किन्तु और चाहे कुछ हो, 'बीसलदेव रास' से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह अवश्य निकलता है कि तत्कालीन मध्यदेशीय भाषा का प्रयोग राजस्थान में होने लगा था, अर्थात् ब्रजभाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रसार हो रहा था। डॉ० तारकनाथ अग्रवाल को उसे नागर अपभ्रंश और साहित्यिक डिंगल का मिश्रित रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है। ग्रन्थ के संबन्ध में अनेक सन्देहपूर्ण स्थलों के रहते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुए भी वह काव्य-सौंदर्य से हीन है। उसका षट्ऋतु-वर्णन ही, उदाहरणार्थ, एक महत्त्वपूर्ण अंश है। राजमती और बीसलदेव के चरित्र-चित्रण में भारतीय संस्कृति का रूप सुरक्षित है। अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। अन्त में वीर और शृङ्गार रसों का मिश्रण है, यद्यपि प्रधानता विरह शृङ्गार की है। ग्रंथ में छप्पय छन्द छन्द-शास्त्र की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'बीसलदेव रास' नृत्य-गीत-प्रधान है, जिसमें कुछ वीर कृत्यों का ही उल्लेख नहीं, वरन् जीवन की अन्य घटनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। वीर सदैव लड़ते ही नहीं रहते। उनके हृदय में भी कोमल मानवीय भावनाओं का अस्तित्व रहता है। इसलिए 'बीसलदेव रास' प्रेम और शृङ्गार-प्रधान काव्य होने पर भी वीर रचनाओं में रखा जाता है। उसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

'कुँवरि कहइ "सुणि, साँभरया राव। कोई स्वामि तू उलगइँ जाइ ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ। थारइ छइ साठि अँतेवरी नारि॥
"कड़वा बोल न बोलसि नारि। तू मी मेल्हमी चित्त बिसारि"॥
जो न जीभ विगोयनो। दब का दाघा कुपली मेल्हइ॥
जीभ का दाघा नु पाँगुरइ। नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ॥'

'राजमती मुकलावी राई, पाट महादेराणी रुदन कराई,
कुँवर चली तो घर आपणंइ, बाजइ पड़ह पखाउज भेर
भोज बोलावै वाहड्यौ चल्यो राजा गढ़ अजमेर।'

चन्द बरदाई : 'पृथ्वीराज रासो'

इस काल के तीसरे प्रसिद्ध उल्लेखनीय कवि चन्द बरदाई (११६८–११९२) हैं और उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है। 'रासो' में कवि चन्द ने अपना जीवन वृत्त दिया है, जिसके अनुसार वे भट्ट जाति के जगात् नामक गोत्र के थे। श्री मुनि जिन-विजय द्वारा खोज निकाले गये जैन प्रबन्धों में उनका नाम चन्द वरद्दिया दिया है और द्वारभट्ट उन्हें कहा गया है। उनका जन्म लाहौर में हुआ था और कहा जाता है कि पृथ्वीराज और चन्द का जन्म एक ही दिन हुआ था। वे जीवन भर पृथ्वीराज के सखा और सामन्त रहे, जिसके प्रमाण 'रासो' में मिलते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार उनकी जन्म-मरण तिथि भी समान है। चन्द अनेक विद्याओं के जाननेवाले और राज-कवि थे। उन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था। चन्द बरदाई की जीवनी के संबंध में सूर की 'साहित्य लहरी' और नानूराम भाट के वंश में सुरक्षित सामग्री है, किन्तु दोनों अभी संदिग्ध मानी जाती हैं।

'रासो' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें आगरा कालेज, बोदलियन, कर्नल कालफील्ड, कर्नल टॉड (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी), बैदला, बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी, बीकानेर बृहद्ज्ञान भंडार, भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, जोधपुर सुमेर लाइब्रेरी; उदयपुर विक्टोरिया हॉल लाइब्रेरी, कलकत्ता के पूर्णचन्द नाहर नागरी प्रचारिणी सभा, किशनगढ़ स्टेट लाइब्रेरी, अलवर लाइब्रेरी, चन्द के वंशधर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेनूराम, ऑरिएंटल कालेज लाहौर (जिस प्रति को पं० मथुराप्रसाद दीक्षित प्रामाणिक मानते हैं और जिसकी प्रतियाँ बीकानेर और अबोहर में हैं और एक प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के पास है) आदि की प्रतियाँ प्रमुख हैं। प्रकाशित प्रतियों में (१) एशियाटिक सोसायटी ऑफ बङ्गाल द्वारा प्रकाशित आरम्भिक अंश (१८८३-८६ ई०), (२) पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या सम्पादित और ई० जे० लैज़रस ऐन्ड कं० (बनारस) द्वारा प्रकाशित (१८८८-१९०४ ई०), (३) डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित और ना० प्र० सभा० द्वारा प्रकाशित (सं० १९०५-१९१३ वि०), (४) स्व० अवधवासी लाला सीताराम द्वारा सम्पादित 'सेलेक्शन्स फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर', बुक I, बार्डिक पोयट्री (कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९२१), (५) 'रेवातट समय' (हिन्दी के कवि और काव्य', प्रथम भाग, प्रयाग, १९३७ ई०) (६) 'असली पृथ्वीराज रासो' लाहौर से प्रकाशित (१९३८ ई०), (७) 'रेवातट' और 'पद्मावती समय' लखनऊ से प्रकाशित (१९४२ ई०), (८) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' (साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५२ ई०), (९) डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित आदि प्रतियाँ उल्लेखनीय हैं।

'रासो' में ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। उनमें उस समय प्रचलित लगभग सभी छंदों का प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि 'रासो' का अंतिम भाग चंद के पुत्र जल्हण ने पूर्ण किया था। किन्तु कुछ प्रतियों में जल्हण के स्थान पर चन्द्रसिंह नाम मिलता है, जो महाराजा मानसिंह के छोटे भाई अकबर के सेनापति सूरसिंह के पुत्र थे। इस ग्रन्थ में महाकाव्य के अनेक लक्षण मिलते हैं। इसी आधार पर चन्द को हिन्दी का प्रथम महाकवि और 'रासो' को हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य माना जाता है। साहित्यिक लक्षण प्राप्त होने के साथ-साथ उसमें राष्ट्रीय जीवन पूर्णतः प्रतिबिंबित होता है। 'रामायण' और 'महाभारत' का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल से परिचय प्राप्त हो जाता है, भारतीय जीवन का उनमें सार आ जाता है। उस रूप में तो नहीं, किन्तु तत्कालीन राष्ट्रीय आदर्शों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि यह 'सन्देश रासक' जैसे पूर्ववर्ती रासो-ग्रन्थों की परम्परा को सुरक्षित रखता है। चन्द ने शुक और शुकी के संवाद के रूप में लिखा है! उन्होंने विविध छंदों का प्रयोग किया है और अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति आदर-भाव प्रकट करते हुए अपनी नम्रता प्रदर्शित की है। चन्द ने काव्यगत रूढ़ियों का निर्वाह भी अत्यन्त कौशल के साथ किया है। इस प्रकार उनके ग्रंथ में अपभ्रंश की रासक शैली का सुन्दर निर्वाह हुआ है। जब वर्तमान बृहत् रूपान्तर में से प्रक्षिप्त अंश निकल जाएँगे और उसका लगभग मूल रूप सामने आ जायगा, तो इस सम्बन्ध में और भी अधिक प्रकाश पड़ेगा।

जहाँ तक कथा से सम्बन्ध है 'पृथ्वीराज रासो' में मंगलाचरण के बाद क्षत्रियों की उत्पत्ति, अजमेर के सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के अनंगपाल (तोमर) की पुत्री कमला के साथ, पृथ्वीराज का जन्म, अनंगपाल की द्वितीय पुत्री सुन्दरी का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवाह कन्नौज के राठौर विजयपाल के साथ, जयचन्द का जन्म, अनंगपाल का पृथ्वीराज को गोद लेना, जयचन्द को बुरा लगना, राजसूय यज्ञ, पृथ्वीराज द्वारा संयोगिताहरण, पृथ्वीराज का भोग-विलास में लीन होना, शहाबुद्दीन का आक्रमण, पृथ्वीराज के अनेक युद्धों और विवाहों तथा आखेटों आदि का वर्णन है। ग्रन्थ में वीर रस की प्रधानता के साथ शृङ्गार की भी प्रचुरता है। उसमें प्रकृति का वर्णन है अवश्य, किन्तु कम है। वास्तव में 'पृथ्वीराज रासो' वीरता-प्रधान काव्य है, न कि प्रेम-प्रधान।

'पृथ्वीराज रासो' जितना अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, उतना ही उसके संबंध में सन्देह भी है। 'रासो' ईसा की तेरहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध (१२७१ ई०), पन्द्रहवीं और यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी तक की रचना मानी जाती है। ऐतिहासिक घटनाओं और विवरणों, तिथियों, पाठ आदि की दृष्टि से उसमें अनेक संदिग्ध स्थल हैं। किन्तु ऐसे विद्वान् भी हैं, जो इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं करते। 'रासो' की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता के आधार पर विद्वानों के दो पक्ष रहे हैं। एक पक्ष संदेह करनेवालों का है, जिसमें कविराजा मुरारिदान, कविराजा श्यामलदान, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़, पं० रामचन्द्र शुक्ल और अमृतलाल शील प्रमुख हैं। १९४३ में प्रकाशित उर्दू की पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो' में प्रोफेसर महमूद खाँ शीरानी ने मुसलमानी इतिहासों के आधार पर एवं मुसलमानी दृष्टिकोण से रासो' में अनेक त्रुटियाँ बताईं। डॉ० दशरथ शर्मा ने उनके आक्षेपों का निराकरण किया है। दूसरा पक्ष सन्देह न करनेवालों का है, जिसमें डॉ० श्यामसुन्दरदास पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मोहनसिंह राव और डॉ० दशरथ शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'रासो' की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का विवाद प्रधानतः दो मूल बातों पर आधारित रहा है—१. क्या चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का समकालीन और सखा था, और २. ग्रन्थ में समाविष्ट ऐतिहासिक घटनाएँ तथा व्यक्ति और उनकी तिथियाँ। सर जार्ज ग्रियर्सन उसे भाषा की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रारम्भ में 'रासो' प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था और बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी द्वारा वह प्रकाशित भी हो रहा था। किन्तु कविराजा मुरारिदान (जोधपुर), कविराजा श्यामलदान (उदयपुर) और डॉ० ओझा ने उसके सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किए। इन विद्वानों के प्रमाणों का प्रधान आधार डॉ० बूलर द्वारा १८७५ में कश्मीर में खोज में प्राप्त जयानक कवि कृत 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' की प्रति है। उस पर जोनराज की टीका भी उपलब्ध हुई। इस ग्रन्थ से पता चला कि जयानक कवि पृथ्वीराज का समकालीन था और उसका लिखा हुआ वृत्त १००३ और ११६९ (विक्रम संवत् १०६० तथा १२२६) के शिलालेखों से मिल जाता है। उसमें पृथ्वीराज की वंशावली भी दी है। 'पृथ्वीराज विजय' और 'पृथ्वीराज रासो' की तुलना करने पर 'रासो' की अनेक बातें उसके विपरीत पाई जाती हैं। इन सब आधारों पर डॉ० बूलर को 'रासो' अप्रामाणिक जँचा और उन्होंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने एक पत्र द्वारा (जो १८९३ ई० की सोसायटी की प्रोसीडिंग्स में छपा है) उसका प्रकाशन रुकवा दिया। इस सामग्री के आधार पर डॉ० ओझा तथा अन्य विद्वानों ने लिखा। बाद को यह ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ, जो सं० १७५० की उदयपुर वाली प्रति पर आधारित है।

संदेह करनेवाले विद्वानों के प्रधान तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१—कश्मीरी कवि जयानक कविकृत 'पृथ्वीराज विजय', हाँसी के शिलालेख, हम्मीर महाकाव्य तथा पृथ्वराज के समय की अन्य प्रामाणिक सामग्री मिलती है, जिसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ 'रासो' में वर्णित घटनाओं से मेल नहीं खातीं। शिलालेखों और प्रशस्तियों की यह सामग्री ९७३ और ११६८ के बीच की है। उदाहरण के लिए, जयानक ने पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और माता का नाम कर्पूर देवी (चेदि-नरेश की पुत्री) लिखा है, जिसका समर्थन हाँसी के शिलाशेख से होता है। किन्तु 'रासो' के अनुसार उनकी माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) सिद्ध होता है। इसी प्रकार उसमें वर्णित क्षत्रियों की उत्पत्ति, पृथ्वीराज का गोद लिया जाना, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भगिनी, भाई, पुत्र, स्त्रियों, उनके सामन्तों, युद्धों, संयोगिता-हरण, पृथ्वीराज की देहान्त आदि अनेक बातें असंगत सिद्ध होती हैं। डॉ० ओझा के अनुसार 'रासो' का वर्तमान रूप (जो सभा द्वारा प्रकाशित है) १४६० और १६७५ के बीच का प्रतीत होता है।

२—चन्द की दी हुई तिथियों में से कुछ प्रमुख तिथियाँ इस प्रकार हैं। पृथ्वीराज का जन्म १०५८, गोद लिया जाना १०६१, कन्नौज जाना १०९०, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११०१। किन्तु दानपत्रों, शिलालेखों आदि के अनुसार ये तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं। फ़ारसी में लिखे गये इतिहास-ग्रंथों के आधार पर भी ये तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं, जैसे फ़ारसी के इतिहास-ग्रंथों में शहाबुद्दीन के साथ युद्ध की तिथि ११९१ मिलती है।

३—रासो में 'विक्रम साक अनंद' के आधार पर भी काफी वाद-विवाद हो चुका है। अनंद—अ = ०, नंद = ९, इसलिए 'अनंद' का अर्थ हुआ ९०। 'रासो' को संदिग्ध न माननेवाले पक्ष का कहना है कि शूद्रवंशी नंदों का ९० वर्ष का राजत्व-काल विक्रम संवत् में से निकाल देने से, अर्थात् ९० वर्ष पहले विक्रम संवत् मानने से, तिथियों में गड़बड़ी नहीं मिलती। किन्तु ऐसी प्रथा और कहीं नहीं मिलती। 'विक्रम साक अनंद' का यह अर्थ कल्पना मात्र है। और फिर, कुछ प्रतियों में 'अनंद' के स्थान पर 'अनिंद' शब्द मिलता है।

४—क्या चंद नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के यहाँ था? जयानक ने चंद का उल्लेख नहीं किया। उसने केवल 'पृथ्वी भट्ट' का उल्लेख किया है। हाँ, एक 'चन्द्रक कवि' या चन्दराज कवि का उल्लेख अवश्य मिलता है। इसका अर्थ यही निकलता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नाम का कोई कवि नहीं था। यदि आया भी होगा तो जयानक कवि के कश्मीर लौट जाने के बाद। सम्भव तो यही जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उसके भाई हरिराज के यहाँ कोई चन्द नाम का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाट रहा हो और उसने अपने आश्रयदाता के पूर्वजों का वर्णन किया हो, और लिखते समय कल्पना से अधिक काम लिया हो।

५—ग्रन्थ की भाषा बेठिकाने और अव्यवस्थित है। उसमें संस्कृत-प्राकृत के अनुकरण पर अनुस्वारांत स्वरों की भरमार है। कहीं-कहीं भाषा का आधुनिक रूप भी मिल जाता है, विशेषतः खड़ीबोली के रूप में। उसमें अरबी-फ़ारसी के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इसके विपरीत सन्देह न करनेवाले पक्ष के प्रधान तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१—'पृथ्वीराज विजय' की जो प्रति मिलती है वह खंडित प्रति है। अतएव जब तक पूर्ण प्रति प्राप्त न हो जाय, तब तक उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

२—पृथ्वीराज, जयचन्द, कालिंजर के राजा परमार आदि के विषय में प्राप्त दान-पत्र और शिलालेख 'रासो' की पुष्टि करते हैं और साथ ही रेवटी की 'तबक़ात-इ-नासिरी' में भी संवत्-साम्य मिलता है। वास्तव में कवि के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों तथा प्रक्षिप्त अंशों के ही कारण अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। किन्तु केवल प्रक्षिप्त अंशों के ही कारण सम्पूर्ण ग्रंथ को अप्रामाणिक नहीं ठहराया जा सकता।

३—पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को नौ पट्टे-परवाने मिले हैं, जिनमें चन्द के पुत्र जल्हण का उल्लेख और पृथ्वीराज की मुहर में सिंहासन पर बैठने की तिथि १०६५ है, जो चन्द द्वारा दी गई तिथि से साम्य रखती है। 'तबकात-इ-नासिरी' में जो तिथियाँ मिलती हैं, उनमें और 'रासो' में दी गई तिथियों में नियमित रूप से ९०-९१ वर्षों का अन्तर मिलता है। इस अन्तर का एक कारण यह भी हो सकता है कि चन्द ने पृथ्वीराज का संवत् चलाने के लिए एक संवत् की कल्पना की हो, जो वैमनस्य के कारण जयचन्द के पूर्वजों से लेकर जयचन्द तक के ९०-९१ वर्ष से रहित रखा गया हो। वैसे 'अनंद संवत्' तो है ही।

४—डॉ० श्यामसुन्दरदास चन्द का पृथ्वीराज के दरबार में होना सत्य मानते हैं और यह भी मानते हैं कि उन्होंने अपने आश्रयदाता की गाथा विभिन्न छन्दों में लिखी, किन्तु समयानुसार उसकी कथा, भाषा आदि विषयों में इतना अन्तर हो गया है कि अब उसके मूल रूप का पता लगाना कठिन है। 'हरिऔध' जी के मतानुसार भाषा, छन्द तथा कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से 'रासो' बहुत कुछ प्राचीन ग्रन्थ है। उसमे प्रक्षिप्त अंश उसी प्रकार हैं जिस प्रकार 'महाभारत' में प्रक्षिप्त अंश हैं।

५—ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी से और फिर ईरानी साहित्य के प्रभावान्तर्गत भारत में चरित-काव्य लिखने की प्रथा थी, जिसमें ऐतिहासिकता की ओर ध्यान कम और शैली, कल्पना, काव्यगत आनन्द की ओर ध्यान अधिक दिया जाता था। ऐसे ग्रन्थों में राजाओं के ऐश्वर्य, नृत्य-गान, युद्ध, मृगया, जल-क्रीड़ा, वन-विहार आदि को महत्त्व दिया जाता है। उनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों और तथ्यों का वर्णन कल्पना-मिश्रित पौराणिक शैली में मिलता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार इतिहास लिखने की प्रथा तो वैसे भी प्राचीन भारत में नहीं थी। उसमें कल्पना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का मिश्रण सदैव रहा है। भारतीय कवियों का दृष्टिकोण भी आदर्शवादी था। वे अपने चरित-नायक की गाथा में जीवन की ऐसी बातें नहीं रखते थे, जो वास्तविक तथ्यपूर्ण और विषम होती थीं। उनके नायक एकदम धीरोदात्त रूप में चित्रित किए गए मिलते हैं। नायक के नैतिक पतन में विश्वास नहीं था। ऐसी परिस्थिति में भारतीय चरित-काव्य में इतिहास खोजना उन कवियों के साथ अन्याय करना होगा। 'रासो' ऐसा ही चरित-काव्य है। वह पृथ्वीराज की ऐतिहासिक जीवनी नहीं है, जिसमें पल-पल पर घटित घटनाओं के बीच से गुजरते हुए उनके जीवन का विकास दिखाया जाता। 'रासो' काव्य-ग्रन्थ है और उसमें परम्परागत काव्य-शैली, छन्द-योजना, कथानक-पद्धति आदि का अनुसरण किया गया है। इसीलिए प्रक्षिप्त अंश रहने पर भी वह एकदम अप्रामाणिक नहीं है और उसका साहित्यिक महत्त्व है।

६—कुछ वर्ष पूर्व मुनि जिनविजय द्वारा प्रकाशित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में चन्द के नाम से चार छप्पय मिलते हैं, जिनकी भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश के निकट है। जिस प्रति से ये छप्पय उद्धृत किए गए, उसका लिपि-काल पन्द्रहवीं शताब्दी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भी लोगों को चन्द-रचित छप्पयों का ज्ञान था। इन छप्पयों के प्रकाशित हो जाने के बाद चन्द और पृथ्वीराज के समकालीन होने, चन्द के पृथ्वीराज के दरबार में होने और उनके द्वारा ग्रन्थ के रचे जाने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वर्तमान 'रासो' में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में मिलते हैं। इससे इस बात का अनुमान भी किया जा सकता है कि वर्तमान 'रासो' में चन्द की रचना अवश्य उपलब्ध हो सकती है।

७—'रासो' में अरबी-फ़ारसी शब्दों का मिलना आश्चर्यजनक नहीं होना चाहिए। आक्रमण होने के पूर्व भारतवर्ष में मुसलमानों का आगमन आरम्भ हो चुका था और उनसे सम्पर्क स्थापित हो गया था। दूसरे, चन्द लाहौर के रहनेवाले थे। इसलिए उनकी भाषा में अरबी-फ़ारसी शब्दों का पाया जाना अस्वाभाविक नहीं है। भाषा की अर्वाचीनता प्रक्षिप्त अंशों के कारण है। उनमें प्राचीन मूल भाषा के रूप बराबर विद्यमान हैं।

दोनों पक्षों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान समय में विद्वानों ने डॉ० ओझा तथा उनके पक्षवालों के तर्कों के उत्तर देने प्रारम्भ कर दिए हैं। प्रामाणिक सिद्ध करने वालों को प्रारम्भ में कुछ-कुछ खींचतान और कृष्ट-कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने सं० १९८६ की 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में 'पृथ्वीराज रासो' की अनैतिहासिकता सिद्ध करने की चेष्टा की थी। इतने पर भी 'रासो' का महत्त्व कम नहीं हो जाता। हाल में श्री रामनारायण दूगड़ को उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हॉल में एक पुस्तक मिली, जिसके एक छन्द के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दरदास के कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उदयपुर के अमरसिंह प्रथम ने (यद्यपि श्री नरोत्तमस्वामी द्वितीय को मानते हैं) १७वीं शताब्दी के समय में चन्द के बिखरे हुए छन्द एकत्र कराए और तब से 'रासो' का वर्तमान रूप प्रचलित हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भवतः उससे पहले 'रासो' लिपिबद्ध भी नहीं हुआ था, जिसके परिणाम-स्वरूप उसके कथात्मक अंशों, भाषा आदि में परिवर्तन हो गए होंगे। इसके अतिरिक्त 'रासो' के भिन्न-भिन्न रूपान्तर मिलते हैं—वृहत् रूपान्तर (संवत् १७५० के बाद की प्रतियाँ) मध्य रूपान्तर (संवत् १७५० के बाद की प्रतियाँ), मध्य रूपान्तर (संवत् १७५० के बाद की प्रतियाँ), लघु रूपान्तर (१७वीं शताब्दी) और लघुतम रूपान्तर (संवत् १६६७)। चारों रूपान्तरों में आदि पर्व, दिल्ली किल्ली कथा, अनंगपाल दिल्ली दान, पंग यज्ञ विध्वंस, संयोगिता नेम आचरण, कमास वध, षट्रितु वर्णन, कनवज कथा, बड़ी लड़ाई, बान वोध—ये प्रसंग-समान रूप से मिलते हैं, किन्तु उनके विस्तार में भेद है। लघुतम रूपान्तर की जो प्रति प्राप्त हुई है, वह बीकानेर-नरेश महाराजा कल्याण-मल्ल के पुत्र और प्रसिद्ध दानवीर महाराज रायसिंह के लघु भ्राता, राजा भाण के पुत्र भगवानदास के लिए लिखी गई थी। 'रासो' के लघु रूपान्तर का उद्धार कूरम अर्थात् कछवाहा वंशी राजा सूरसिंह के पुत्र चन्द्रसिंह ने किया था। यह चन्द्रसिंह या चाँदसिंह सम्भवतः प्रसिद्ध महाराजा मानसिंह का भतीजा था। इस प्रकार लघु रूपान्तर संग्रह जयपुर राज्य में हुआ। मध्य रूपान्तर के उद्धारक का पता नहीं, वृहत् रूपान्तर के सम्बन्ध में उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। वास्तव में अभी तक "रासो' के वृहत् रूपान्तर का ही पता था, पर अब 'रासो' का एक छोटा रूप भी प्रकाश में आया है। पंजाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उसकी एक प्रति मिली, उसके आधार पर पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने 'रासो' की प्रामाणिकता सिद्ध करने की चेष्टा की। कुछ वर्ष श्री मुनि जिनविजय को 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में उल्लिखित चन्द कवि के चार छन्द (अपभ्रंश में) मिले, जिनमें से तीन परिवर्तित रूप में 'रासो' में मिल गए और जिनसे 'रासो' में प्रक्षिप्त अंशों के होने की पुष्टि हुई। ये छन्द 'रासो' में तो मिलते ही हैं, साथ ही वे 'पृथ्वीराज विजय' से भी कोई वैषम्य स्थापित नहीं करते। उनसे 'रासो' की भाषा के प्राचीनतम रूप का संकेत भी प्राप्त होता है। इन बातों से मुनि जी का अनुमान हुआ कि 'रासो' एकदम जाली ग्रन्थ नहीं है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी उनका समर्थन किया। इधर डॉ० दशरथ शर्मा (बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में मिले रूप का अध्ययन) और उदयपुर के श्रीयुत मोहनसिंह राव के महत्त्वपूर्ण कार्य के फलस्वरूप 'रासो' के सम्बन्ध में अतिपूर्ण दृष्टिकोण हट रहे हैं। निष्पक्ष रूप से विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि 'रासो' ग्रन्थ का फुटकर या प्रबन्ध रूप से अस्तित्व अवश्य था। अब उसके वास्तविक मूल रूप को खोज निकालने की आवश्यकता है। 'रासो' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर विचार करते समय यह भी स्मरण रखने की आवश्यकता है कि वह कोरा इतिहास-ग्रन्थ नहीं है। वह काव्य-ग्रंथ है—ऐतिहासिक चरित-काव्य है और अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की एक कड़ी है। उसमें इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओं को स्थान देते हुए कवि कल्पना का मोह नहीं छोड़ सका। उसमें प्रक्षिप्त अंश अवश्य हैं, किन्तु वह एकदम अप्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। उसमें कुछ प्रामाणिक अंश अवश्य हैं, जैसे आरम्भिक अंश, इंछिनी विवाह, शशिव्रता का गान्धर्व विवाह, तोमर पाहार का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शहाबुद्दीन को पकड़ना, संयोगिता का जन्म, विवाह आदि। उसका कथानक-संगठन देखते हुए भी उससे एक सुदीर्घ परम्परा का पालन होते हुए मिलता है। उन परम्परागत अंशों की कड़ियाँ जोड़ने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-काल से ही कथा-संगठन की कुछ विशिष्ट पद्धतियाँ चली आ रही थीं। इन पद्धतियों में कल्पना का मिश्रण करने की पद्धति सर्वप्रमुख थी। ऐतिहासिक कथा में कल्पना का पुट देना या काल्पनिक कथा को ऐतिहासिक आधार प्रदान करना हमारे देश की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है। न जाने कितनी ऐसी कथाएँ लोक-जीवन में प्रचलित हैं, जिनमें राजा भोज, विक्रमादित्य आदि आए बिना नहीं रहते। इसी प्रकार कथाओं में पशु-पक्षियों को भी स्थान दिया जाता रहा है, जिनमें से मृग, हंस, तोता, मैना, कपोत आदि का उल्लेख प्रमुखतः किया जा सकता है। पूर्वानुराग की दृष्टि से स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन और श्रवण-दर्शन ने भारतीय कथा-संगठन की शैली निर्धारित करने में योग दिया है। फिर, नायक-नायिका के प्रेम, उनके संयोग-वियोग का वर्णन करते समय षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासा को उद्दीपन की दृष्टि से स्थान देना अनिवार्य समझा गया। सिंहल द्वीप, पद्मिनी, सुन्दरियों की भीड़भाड़, नायक के अनेक विवाह, नारी-जन्य ईर्ष्या-द्वेष, नायक का किसी सुन्दरी द्वारा भरमाया जाना, मुनि का शाप, मान, प्रेम-मार्ग में कठिनाइयों का आना और उन पर विजय प्राप्त करना, सन्तान की इच्छा आदि बातें भारतीय कथा संगठन की परम्परा स्थापित करने में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। 'कादम्बरी', 'नैषध चरित', 'शुक सप्तति', 'सन्देश रासक' (अब्दुल रहमान), 'पद्मावत' आदि रचनाएँ इस प्रकार के कथा-संगठन की परम्परा को प्रदर्शित करने वाली अत्यन्त प्रमुख एवं प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' में भृङ्ग-भृङ्गी-संवाद और कौतूहल कवि कृत 'लीलावती' कथा में कवि-कविपत्नी-संवाद है। चन्द ने भी शुक-शुकी-संवाद-पद्धति ग्रहण की। रासक होने के कारण चन्द कृत 'रासो' गेय है और उसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुए हैं। कवि ने 'संदेश रासक' की प्रणाली पर जगह-जगह अपनी नम्रता प्रकट की है और पात्रों द्वारा प्रयुक्त छन्दों का उल्लेख किया है। विवाह के समय स्वप्न-दर्शन, हंस-दूतत्व, शुक-दूतत्व कन्या-हरण आदि अनेक परम्परागत प्रसङ्ग, कथानक-रूढ़ियाँ, छन्दबहुलता, उपमान आदि का उसमें प्रयोग हुआ है। अस्तु, 'रासो' एक ऐसी रचना है जो अभी तक नितान्त अप्रामाणिक समझी जाती थी, किन्तु जो अब अर्द्ध-प्रामाणिक रचना कही जा सकती है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार लघु पाठ ही मूल के निकट प्रतीत होता है। लघुतम को वे संकलन मात्र और मूल से कुछ दूर मानते हैं। 'रासो' या 'रासक' रचना के लक्षणों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि वह मूलतः छोटा रहा होगा। श्री गोवर्धन शर्मा ने अपने गुजराती ग्रन्थ 'महाकवि चन्द अपने पृथ्वीराज रासो' (१९४७) में 'रासो' को प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा की है।

इस समय उपलब्ध 'रासो' के बृहत् रूपान्तर में ऐतिहासिक प्रामाणिकता भले ही न हो, उसमें भले ही अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियाँ हों, किन्तु वह निस्सन्देह एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। उसमें अनेक कवित्वपूर्ण स्थल और सुन्दर वर्णन हैं। उसके पारायण से विशेष प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। रासक-शैली में लिखा हुआ वह एक, ऐसा चरित-काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें तत्कालीन युग की वास्तविकता और जीवन के विविध पक्षों का सजीव चित्रण सामन्ती जीवन के श्रेष्ठ प्रतिनिधि पृथ्वीराज की गाथा के सहारे हुआ है। प्रधान और प्रासंगिक कथाओं में चन्द ने मार्मिक स्थल पहचानने और कथा-प्रवाह बनाए रखने की क्षमता प्रकट की है। शुक और शुकी के संवाद द्वारा कहलाई गई यह कथा कथोपकथन की पौराणिक शैली प्रस्तुत करती है। यद्यपि कथा के विविध अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने और चमत्कार-पूर्ण अंश प्रस्तुत करने में कवि ने कोई विशेषता प्रकट न कर सीधी-सादी परम्परागत शैली ग्रहण की है, तो भी शृङ्गारपूर्ण तथा वीरतापूर्ण प्रसंगों और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में चन्द ने अपनी कवित्व-शक्ति का विशेष मौलिक परिचय प्रस्तुत किया है। पृथ्वीराज-इंछिनी-शशिव्रता-संयोगिता प्रसंग इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। अवसर प्राप्त होने पर चंद ने सुन्दर षट्ऋतु-वर्णन भी प्रस्तुत किए हैं। उनसे उनकी अद्भुत वर्णन-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है और अलंकारों की सुन्दर छटा दृष्टिगोचर होती है। चन्द भाव-प्रवण कवि थे। विविध भावों का चित्रण करते समय चन्द की भाषा चित्रोपम हो उठती है। उपयुक्त अलंकारों, उपयुक्त शब्दावली, उपयुक्त छंदों आदि के प्रयोग से उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी है। भावावेग के साथ-साथ उनकी रचना में भाषा-प्रवाह भी देखने योग्य है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से तो वह अमूल्य भण्डार है—वैसे 'रासो' की भाषा के सम्बन्ध में सम्मति देना अत्यन्त कठिन है। वृहत् रूपान्तर की भाषा कहीं हिन्दी, कहीं राजस्थानी मिश्रित हिन्दी, कहीं व्रज-भाषा का रूप (ग्राउज़, टेसिटरी, ग्रियर्सन), कहीं ठेठ किन्तु विकृत अपभ्रंश है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कुछ विद्वानों ने उसे केवल व्रजभाषा का ही एक रूप माना है और उसे पिंगल नाम से पुकारा है। कुछ ने उसे 'कन्नौजी' कहा है (तासी) तो कुछ ने उसे 'डिंगल और कुछ ने 'पुरानी राजस्थानी' कहा है। कुछ ने 'षट्भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया' के आधार पर उसे मिश्रित और अव्यवस्थित कहा है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में उपलब्ध कुछ छप्पयों से यह धारणा और भी अधिक दृढ़ हो गई है। मध्य रूपान्तर की भाषा के सम्बन्ध में भी सामान्यतः यही कहा जा सकता है। किन्तु लघु रूपान्तरों में भाषा अधिकाधिक अपभ्रंश के निकट पहुँचने लगती है। अंतिम निर्णय तो उसी समय होगा जब उसका मूल पाठ निर्धारित हो जायगा। किन्तु आधुनिकतम मत उसे व्रज का एक रूप मानने के पक्ष में ही अधिक है। प्रामाणिक समझे जाने वाले अंशों की भाषा अव्यवस्थित नहीं है। उसमें सहज प्रवाह और रस है। वह सुन्दर उपमानों से सुसज्जित और कवि-हृदय की उत्फुल्लता का परिचय देती है। छन्द-परिवर्तन, (साटक, भुजंगप्रयात, दूहा, कवित्त, गाहा, अरिल्ल, पद्धरी, सोरठी, मोतीदाम, चालि, करषा, विअष्षरी, भुजंगी, कुंडलिया, त्रोटक, कंठाभूषना, चौपाई, हनुफाल, चन्द्रायना, नाराच, मूरिल्ल, रसावला, चान्द्रायण, गीतामालची, वृद्धनाराच आदि) अधिक होने पर भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई। 'रासो'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

'मनहु कला ससभान कला सोहत सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय।
बिगसि कमल-स्रिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय।'
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नषसिष अहि घुट्टिय।

●

कुट्टिल केस सुदेस पोइ परिचियत पिक्क सद।
कमल-गंध बयसंघ, हंसगति चलत मंद मद।
सेत वस्त्र सोहे सरीर नष स्वाति-बूंद जस।
भवर भवहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द बास रस।

●

'पच्छै भौ संग्राम अग्ग अच्छर बिच्चारिय।
पुछै रम्भ मेनिका अज्ज चित्त किम भारिय॥
तब उत्तर दिय फेरि अरज पहुनाई आइय।
रथ्थ बैठि औथान्त सोझ तह कन्त न पाइय॥
भर सुभर परे भारथ्थ भिरि ठाम-ठाम चुप जीत सथ।
उथकीय पन्थ हल्लै चल्यौ सुथिर सभौ देषीय नथ॥'

जगनिक : 'आल्ह खंड'

इस काल के चौथे प्रसिद्ध कवि जगनिक या जगनायक (११७३) हैं, जिनका ग्रन्थ 'आल्ह खण्ड' है। ग्रन्थ का सम्बन्ध महोबा से है। जगनिक और चन्द बरदाई सम-सामयिक कवि कहे जाते हैं। वे कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ गए थे। राजा परमाल जयचन्द के मित्र थे। ग्रन्थ में देश के दो प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) के वीर-कृत्यों का वर्णन है। आल्हा-ऊदल के साथ-साथ उसमें उनके सुलखे, लाखन आदि भाइयों का भी वर्णन है। 'आल्ह खंड' में सब वीर भाइयों के विवाहों और प्रायः बावन लड़ाइयों का उल्लेख है। स्वयं परमाल भीरु और अशक्त राजा था, किन्तु उसकी पत्नी, मलहना, अपने इन्हीं वीर सामन्तों की सहायता से कई बार पृथ्वीराज तक के आक्रमणों को विफल करने में समर्थ हुई थी। ग्रन्थ के वर्णनों में अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी हैं। अन्त में बड़ा करुणाजनक दृश्य उपस्थित किया गया है। बनाफर युद्ध में सभी वीर मारे जाते हैं और रानियाँ सती हो जाती हैं। केवल दो व्यक्ति, आल्हा और उसका पुत्र इन्दल बच रहते हैं। वे गृह-परित्याग कर किसी कजरी बन में जा बसते हैं।

जगनिक के इस ग्रंथ के ठीक-ठीक रूप का बिल्कुल पता नहीं। उसका अभी तक कोई प्राचीन संस्करण नहीं मिल सका। १२०० से १९०० तक मौखिक रूप में रहने के कारण उसकी भाषा और विषय में अब न पहचाने जा सकने वाले परिवर्तन हो गए हैं। कुछ लेखकों के अनुसार १८६५ और कुछ के अनुसार १८६९ में चार्ल्स

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इलियट ने उसका फर्रुखाबाद में सङ्कलन और संपादन किया, और १९०० में उसे पुस्तक का रूप दिया गया।

हिन्दी-भाषी प्रान्त में 'आल्हा' का गान गाँव-गाँव में सुन पड़ता है। उसका संगीत वीर-दर्प-पूर्ण है। बैसवाड़े और बुन्देलखण्ड में उसका विशेष प्रचार है, किन्तु ग्रंथ में अनेक युद्धों का वर्णन समान रूप से हुआ है और उसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ हैं। वर्णनों में साहित्यिक सौंदर्य कम है। उसमें युद्धों के वर्णनों में बढ़-चढ़ कर भयंकरता का वर्णन है, पुनरुक्तियों और वस्तुओं की लम्बी सूचियों की भरमार है और कथा-विकास में असंबद्धता और शैथिल्य है। कहीं-कहीं तो अतिशयोक्तियाँ हास्यास्पद हो गई हैं। ऐतिहासिक अप्रामाणिकता होने पर भी 'आल्ह खंड' हिन्दू जाति के तत्कालीन पारस्परिक विद्वेष का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है। जगनिक की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"पैदल के संग पैदल भिड़िगै औ असवारन से असवार।
हौदा के संग हौदा मिल गये हाथिन अड़ो दाँत से दाँत ॥
सात कोस लौं चलै सिरोही चारौं तरफ चलै तलवारि।
पैग पैग पै पैदल गिरि गये उनके दुदुइ पैग असवार ॥
बिसे बिसे पर हाथी डारे चोटे पर्वत की उनहारि।
कल्ला कटिगै जिन घोड़न के धरती गिरैं करौंटा खाय ॥
कटि भुजडंडै रजपूतन की चहरा कटे सिपाहिन क्यार।
कटै भुशंडा जब हाथिन के भुंइ में गिरैं भरहरा खाय ॥

अन्य कवि : उपर्युक्त प्रधान कवियों और उनकी रचनाओं के अतिरिक्त भट्ट केदार (११६८) कृत 'जयचन्द प्रकाश' और मधुकर (११८३) कृत 'जयमयंक जस-चन्द्रिका' और श्रीधर (१४००) कृत 'रणमल छंद' (पारण के सूबेदार जफ़रखाँ और रणमल के युद्ध का वर्णन) का उल्लेख किया जाता है। पहले दो ग्रन्थों का सम्बन्ध जयचन्द से है। इन ग्रन्थों का समय बारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध माना जाता है। किन्तु वे नोटिस मात्र हैं। उनका उल्लेख मात्र बीकानेर के राजकीय पुस्तक भण्डार में सुरक्षित सिंघायच दयालदास कृत 'राठौण री ख्यात' में मिलता है। शिवसिंह सेंगर ने इन कवियों का अलाउद्दीन गोरी के दरबार में होना लिखा है। किन्तु इन तथ्यों से ग्रन्थों के सम्बन्ध में अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकलता। यही संदिग्ध परिस्थिति शार्ङ्गधर कवि. (११६३) कृत 'हम्मीर रासो', नल्लसिंह रचित 'विजयपाल रासो' आदि ग्रन्थों के सम्बन्ध में है। पं० रामचन्द्र शुक्ल 'प्राकृत पैंगलम्' में मिले कुछ पद्यों के आधार पर 'हम्मीर रासो' को शार्ङ्गधर की रचना मानते हैं। किन्तु ऐसा मानने के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। राहुलजी उन मिले पद्यों को जज्जल कवि की या किसी जज्जल पात्र की उक्ति मानते हैं। मिश्रबन्धुओं ने 'विजयपाल रासो, में विजयसिंह और पंग राजा की लड़ाई का वर्णन बताया है और उसका रचना-काल सं० ११५५ माना है। किन्तु विद्वानों को इस ग्रन्थ की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता में संदेह है। 'रणमल छंद' चौदहवीं शताब्दी के लगभग अंत की रचना है। किन्तु इन छन्दों के सम्बन्ध में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी अभी निश्चित रूप से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। वीर रचनाओं की इस परम्परा में आगे चलकर उन्नीसवीं शताब्दी में सूर्यमल्ल कृत 'वंश भास्कर' और बीसवीं शताब्दी में वियोगी हरि कृत 'वीर सतसई' महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

वीरगाथा साहित्य की विशेषताएँ

हिन्दी की वीर परम्परा का वैसे तो उत्तरोत्तर विकास होता रहा, किन्तु आदि काल की वीर-भावना अत्यन्त संकुचित और संकीर्ण थी। उसमें वीर रस के उदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। कविगण प्रायः अपने आश्रयदाताओं की उचित-अनुचित प्रशंसा करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठते थे। उन्हें देश या राष्ट्र के व्यापक हित का ख्याल नहीं रहता था। मध्य-युग में भूषण और लाल की भावना अधिक व्यापक थी। उन्होंने जाति का प्रतिनिधित्व भी किया। तत्पश्चात् आधुनिक समय में उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से वीर रस का केवल देश के हित की भावना से प्रेरित होकर वर्णन किया गया है। आधुनिक समय में शारीरिक दृष्टि से वीर का ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से वीर का वर्णन भी वीर रस के अन्तर्गत किया गया है और धर्मवीर, दानवीर, सत्यवीर आदि को भी कवियों ने अपना विषय बनाया है। वास्तव में हिन्दी साहित्य के आदिकालीन वीर-साहित्य के सम्बन्ध में अभी यथेष्ट कार्य करना शेष है। साथ ही उन वीर-रचनाओं का भी अध्ययन करना है, जो भक्ति और रीति काल में निर्मित हुईं। डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने अनेक ऐसे गद्य-पद्य-मिश्रित डिंगल-ग्रन्थों का पता लगाया था, जो आदि काल की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। आदि काल में हमें वीर-गीत और वीर-प्रबन्ध काव्य दोनों प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं। उनमें दूहा, कवित्त आदि छन्दों और प्रधानतः वीर, किन्तु सहायक रूप में शृङ्गार, अद्भुत रौद्र आदि रसों का प्रयोग हुआ है। भाषा का रूप, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनिश्चित, किन्तु मिश्रित है।

आदि काल का महत्त्व

आदि काल के साहित्य का सम्यक् दृष्टि से अध्ययन करने पर अत्यन्त रोचक निष्कर्ष निकलते हैं। इस समय अपभ्रंश का निजी छन्द—दोहा—प्रचलित हो चुका था और उसने आदिकालीन हिन्दी साहित्य को नवीन साहित्यिक स्वर एवं चमत्कार प्रदान किया। वह मुस्तक काव्य का उपयुक्त छन्द बना। दोहा-चौपाई पद्धति (अपभ्रंश की पूर्व प्रचलित घत्ता, कडवक-पद्धति अथवा पश्चिम में प्रचलित पद्धड़िया-बन्ध के लगभग समान), जो सूत्र-बद्ध कथानक के लिए उपयुक्त पद्धति मानी जा सकती है, मूलतः इसी काल के बौद्ध सिद्धों (जैसे सरहपा) की रचनाओं में मिलती है। परवर्ती हिन्दी साहित्य में कथा-काव्य के लिए इन छन्दों का भरपूर प्रयोग मिलता है। आदि काल में रासो-बन्ध काव्य का प्रमुख भेद था और उसमें विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता था—उदाहरणार्थ 'पृथ्वीराज रासो'। रासो-बन्ध चरित्र-काव्य आदि इस काल में काफी लिखे गए और उनकी परम्परा आगे चलकर जायसी और तुलसी जैसे कवियों की रचनाओं में विकसित हुई। छप्पय, कवित्त-सवैया, बरवै, साखी, सबद, फाग, अखरावट, मङ्गल काव्य, चाँचर, लीला-पद, आल्हा आदि अनेक परवर्ती छन्दों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और काव्य-रूपों का बीज रूप में प्रयोग इसी काल में मिलता है। फिर, भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा की ओर से आई अनेक विदेशी जातियों के आगमन के कारण भाषा में नवीन तत्त्वों का समावेश भी इसी समय हुआ और साथ ही शब्दों का संकोचन, प्रसारण, सानुनासिकता, संयुक्त वर्णों की प्रमुखता, दीर्घ को ह्रस्व, ह्रस्व को दीर्घ करने की प्रवृत्ति (छन्द के कारण), द्वित्व वर्णों का प्रयोग, 'अ', 'उ', 'इन' 'उल्ल' आदि प्रत्यय, अनुस्वार द्वारा छन्द-निर्वाह आदि विशेषताओं से युक्त ऐसे भाषा-रूप मिलते हैं जिनका सम्बन्ध परवर्त्ती भाषा-रूपों से स्थापित किया जा सकता है। ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर लिखे गए काव्य-ग्रन्थों ('हर्षचरित') की परम्परा वैसे तो संस्कृत और अपभ्रंश से चली आ रही थी, किन्तु इस काल में वह खूब फूली-फली। ये रचनाएँ स्तुत्यात्मक हुआ करती थीं। साथ ही ये रचनाएँ इतिहास कम, काव्य-रचनाएँ अधिक होती थीं। आश्रयदाताओं के विवाहों, विजयों, क्रीड़ाओं, विहारों, नृत्य आदि का वर्णन करना कवियों का मुख्य लक्ष्य रहता था। अपने आश्रयदाताओं का वर्णन करने में कल्पना का मिश्रण कर दिया करते थे और पुराणों तथा लोक-कथाओं की कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करते थे।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य रसपरक तो बहुत अधिक नहीं है, तो भी उसका अपना महत्त्व है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश-ग्रन्थों के अतिरिक्त आदिकालीन हिन्दी ग्रन्थों का महत्त्व ऐतिहासिक प्रमाण खोजने की दृष्टि से भी है। उन्नीसवीं शताब्दी में इस काल के साहित्य ने इसी दृष्टि से देशी-विदेशी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। इस साहित्य को अधिक-से-अधिक प्राचीन सिद्ध करने और उससे ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा की गई। इसके अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से भी इस साहित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया। किन्तु इस साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उससे भारत का एक सुदीर्घ सांस्कृतिक परम्परा पर प्रकाश पड़ता है और वह तत्कालीन मनुष्य को उसकी आशा-आकांक्षाओं, सबलताओं-दुर्बलताओं आदि के साथ लाकर खड़ा कर देता है। उदाहरणार्थ, गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग-सम्प्रदाय का अध्ययन करने से तत्कालीन अनेक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है (जैसे, इस्लाम के साथ हुए संघर्ष का)। उस समय के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायों (स्थविरवाद, नीलपटा, निरंजन आदि) का इतिहास इस दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। इसी प्रकार योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थों से अनेक उलटबासियों का संग्रह किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल इतिहास, भाषा, रस और अलंकार की दृष्टि से इस साहित्य का महत्त्व भी कम हो सकता है, किन्तु सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से वह सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा। काव्य-शैलियों, काव्य-रूपों छन्दोविधान, ब्राह्मण-विरोधी प्रवृत्तियों आदि की विशाल परम्पराओं के अध्ययन की दृष्टि से आदि काल का साहित्य महान् निधि है। अलिखित साहित्य के साथ-साथ आदिकालीन साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन महान् सांस्कृतिक उथल-पुथल का परिचय प्राप्त होता है। इस साहित्य के आधार पर अब सांस्कृतिक अध्ययन भी होने लगे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व है, क्योंकि (१) उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भिन्न-भिन्न विषय प्रस्तुत कर मनोविनोद और मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की, (२) अपभ्रंश-मिश्रित भाषा और डिंगल भाषा के स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली और व्रजभाषा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया —एक प्रकार से जनसाधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया और भाषा के क्षेत्र में अपना महत्त्व स्थापित किया, (३) उनकी रचनाओं में भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के समन्वय का पता चलता है, और अन्त में, (४) उनकी रचनाओं से लोक-भावनाओं का परिचय प्राप्त हो जाता है।

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था और उनका जन्म कुछ लेखकों के अनुसार एटा जिले के पटियाली गाँव में और कुछ लेखकों के अनुसार पटियाला १२५३ में हुआ था। वे निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और उनका सम्बन्ध गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और मुबारकशाह तक कई पठान राज-दरबारों से रहा। उन्होंने गुलाम-वंश के पतन से लेकर तुगलक वंश के प्रारम्भ होने तक का समय देखा था। उनका रचना-काल तेरहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में माना जाता है। उनकी मृत्यु १३२५ में हुई।

अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं में उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता मिलती है। उनका साहित्य केवल मनोरंजन करने वाला साहित्य है, न कि गम्भीर तत्त्वों का विवेचन और निरूपण करने वाला। उन्होंने पहेलियाँ, मुकरियाँ, ढकोसले, दो-सखुने आदि लिखे और सरल, स्वाभाविक एवं प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया। उनकी रचनाओं से कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

दो-सखुन— 'सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ?—परदा न था'

मुकरी— 'मेरा मोसे सिंगार करावत
आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन न कोउ दीसा
ऐ सखि साजन ना सखि सीसा'

खुसरो ने कुछ दोहे भी अत्यन्त सुन्दर लिखे हैं :

'खुसरो रैनि सुहाग की, जागी पी के सङ्ग।
तन मेरो मन पीऊ को, दोऊ भये इक रङ्ग।

●

'गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥'

मुल्ला दाऊद

जब मुसलमानों का राज्य स्थिर हो गया, तो देश में दो संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क तथा परम्परागत जीवनादर्श के बीच कहीं समन्वय, तो कहीं संघर्ष के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारण जीवन का रूप ही परिवर्तित होने लगा और जीवन की आवश्यकताओं तथा परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नवीन विचारों का जन्म हुआ। इसी समय मुल्ला दाऊद ने 'चंदायन' नामक प्रेम-कथा का निर्माण किया। मुल्ला दाऊद का कविता काल ईसा की चौदहवीं शताब्दी में माना जाता है। वे जिला रायबरेली में डलमऊ के निवासी थे। उनके गुरु जैनदी (जैनुद्दीन या जैनुल आबदीन) और आश्रयदाता खानजहाँ (१३७० ई० में मृत्यु) और फीरोजशाह का मन्त्री और उसका पुत्र जूनाशाह थे। उन्होंने अपना ग्रंथ जूनाशाह के समय में निर्मित किया था।

आधुनिकतम खोजों के आधार पर मुल्ला दाऊद की यह रचना सूफ़ी काव्य-परम्परा की सर्वप्रथम रचना मानी जाती है। ग्रंथ की रचना कुतुबन और जायसी से लगभग १६० वर्ष पूर्व १४वीं शताब्दी में हो चुकी थी। अल बदायूँनी ने 'मुन्तखब-उत्तवारीख' में 'हिंदवी ज़बान में रचित लोरक और चन्दा के प्रेम का मसनवी के रूप में' लिखे जाने और उसकी प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ के कई नाम मिलते हैं—'नूरक-चन्दा', 'चन्दायन' या 'चन्दावत' और 'लोर-कहा'। किन्तु स्वयं अल बदायूनी ने उसे 'चंदायन' नाम से पुकारा है। अन्य कई ग्रन्थों में भी 'चंदायन' नाम ही मिलता है। वैसे भी सूफ़ी प्रेमाख्यानों ने ग्रंथों का नामकरण नायिका के नाम के आधार पर ही किया जाता रहा है। इस ग्रंथ में लोरिक नायक और चन्दा नायिका है। लोरिक का उल्लेख ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्णरत्नाकर' पृथ्वीराज रासो' और 'रूपावती' (१६१२) नामक प्रेमाख्यान में मिलता है। ग्रंथ का रचना-काल १३७९ ई० (७८१ हिजरी) मना जाता है। लोरिक का विवाह जब अगोरी के निवासी महरा की कन्या मंजरी से सम्पन्न हो गया तो 'गउरा' के राजा सहदेव ने अपनी कन्या चन्दा का विवाह सिलहट के किसी दूसरे पुरुष से करना चाहा? चन्दा ने युक्तिपूर्वक लोरिक से भेंट की और प्रेम के वशीभूत हो दोनों भाग निकले। तत्पश्चात् कवि ने उनके प्रेम, विरह और अन्त में संयोग का सविस्तार वर्णन किया है। कथा में प्रसंगवश अन्य पुरुष-पात्र और नारी-पात्र भी आते हैं। उसमें अनेक प्रसङ्ग 'पद्मावत' के समान हैं। लोरिक चन्दा की प्रेमकथा बिहार, मिर्जापुर, भोजपुरी क्षेत्र, छत्तीसगढ़, रायपुर, बुन्देलखण्ड, राजस्थान आदि में लोकगाथा के रूप में प्रचलित रही है। 'चन्दायन' की भाषा में अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रण है। उसमें 'प्रेम की पीर' और रहस्यवादी रूपकात्मकता की प्रवृत्ति मिलती है। उसके प्रेम में अपार्थिवता की ओर संकेत है। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से 'चन्दायन' एक सफल रचना है। उसमें प्रवाह है, रस-परिपाक है और कवि में मर्मस्पर्शी स्थल पहचानने की क्षमता है। रूप-सौंदर्य, विरह-वर्णन आदि के उसमें सुन्दर वर्णन मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए।

'जरम न छूट परम (पेम) कर बाँधा।
परम (पेम) काँड आइह बिस साँधा।
जेहि हिय चोट लागि सो जानी।
कइ लोरिक कइ चाँदा रानी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुखी न जान दुख काहू केरा ।
जानइ सोई परई जेहि बेरा ।
परम (पेम) आँच जेहि हियरे लागइ ।
नींद जाइ तपि तपि निसि जागइ ।
सात सागर जउ बरिसहि आई ।
परम (पेम) आगि कैसेहुँ न बुझाई ।
चिनगि एक जउ बाहिर मारी एहिं रे परम (पेम) कइ झार ।
भसम होइ जरि खिन एक धरती सरग पतार ।।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सात | मध्य काल (१३१८-१८४३)
[१—पूर्व-मध्य काल या भक्ति काल : १३१८१६४३]

मध्य काल की पीठिका : राजनीतिक

हिन्दी साहित्य के आदि काल में हिन्दी प्रदेश की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और विविध राजवंश निरन्तर पारस्परिक युद्ध में संलग्न रहते थे। ऐसी परिस्थिति में ही ईसा की दसवीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। इस्लामी बन्धुत्व की डोर से बँधे हुए इन मुसलमानों में संगठन और अरब-देशीय राष्ट्रीय भावना का प्राबल्य था। इस्लाम का प्रचार और अरब साम्राज्य का विस्तार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। भारतवर्ष आने से पूर्व वे सिन्ध से लेकर स्पेन तक इस्लामी झंडा फहरा चुके थे। दसवीं शताब्दी के अन्त में ग़ज़नी के तुर्कों ने देश पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए। तुर्क अरब साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे। ग़ज़नी भारत की सीमा से लगा हुआ राज्य था। इन तुर्क आक्रमणकारियों में महमूद ग़ज़नवी (९९७ १०३०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १०१४ और १०१८ के बीच उसने पंजाब से लेकर कन्नौज तक विजय प्राप्त की और १०२५ में गुजरात पर हमला कर उसने सोमनाथ का मन्दिर लूटा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी शासन-भार न सँभाल सके। फलतः हिन्दी प्रदेश के राज्य फिर स्वतन्त्र हो गए। महमूद ग़जनवी के बाद मुहम्मद ग़ोरी, बार-बार दिल्ली के चौहान-नरेश महाराज पृथ्वीराज से परास्त होने पर भी, अन्त में अपने साहस और संगठित शक्ति के बल पर ११९४ में कन्नौज तक बढ़ गया। तत्पश्चात् उसने काशी पर अधिकार कर लिया। १२०६ में महमूद की मृत्यु के बाद उसका गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। (महमूद ग़ज़नवी ने इस देश में अपनी कोई राजधानी नहीं बनाई थी) कुतुबुद्दीन के समय में बिहार, बंगाल और कलचूरि के अतिरिक्त सारा हिन्दी प्रदेश उसके शासनान्तर्गत आ गया था। १२०६ से लेकर १५२६ तक तुर्क-अफ़गानों के गुलाम (१२०६-१२९०), खिलजी १२९०-१३२०), तुग़लक (१३२०-१४१४), सैयद (१४१४-१४५१) और (लोदी) (१४५१-१५२६) वंशों ने भारत में साम्राज्य विस्तार किया। इस बीच में मंगोल भी भारतवर्ष पर आक्रमण करते रहते थे। इल्तुतमिश के समय (१२२१) में चंगेज़ खाँ ने पंजाब पर अपना अधिकार भी स्थापित कर लिया था। राजपूत नरेशों के संघर्षों, विदेशी आक्रमणों और सुल्तान के निर्बल होते ही सभी अमीर-उमरावों और प्रान्तीय सूबेदारों की स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति ने जब तुर्क अफ़गान शासन को दुर्बल बना दिया था, तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतिहास-प्रसिद्ध तैमूरलंग (१४०५ में मृत्यु) ने १३९८ में दिल्ली पर आक्रमण किया। सैयद और लोदी वंशों तक तुर्क अफ़ग़ान-साम्राज्य सिकुड़कर दिल्ली-आगरे के समीपवर्ती भूमि-भाग तक रह गया था। हिन्दुओं के अतिरिक्त अब अनेक मुसलमान शासक भी स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य करने लगे। १५२५ में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया। उस समय देश की राजनीतिक शक्ति क्षीण थी। केवल मेवाड़ का सिसौदिया वंश ही अधिक शक्तिशाली था। इस वंश में राणा सांगा (१५०८) जैसे इतिहास-प्रसिद्ध वीर हुए, जिन्होंने इब्राहीम लोदी (१५१७-१५२६) पर विजय प्राप्त कर आगरा, ग्वालियर धौलपुर, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड तक अपनी राज्य-सीमा का विस्तार कर लिया। वास्तव में इस समय हिन्दी प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर मेवाड़ के सिसौदिया वंश का ही राज्य था।

तैमूर की मृत्यु के पश्चात् बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी को परास्त कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। किन्तु अभी उसे राणा सांगा का मुक़ाबला करना था। १५२७ में सीकरी के समीप उसे यह विजय भी प्राप्त हुई। उसकी तोपों के सामने राणा सांगा के नेतृत्व में राजपूतों और बहुत से तुर्क-अफ़गानों की सम्मिलित वाहिनी ठहर न सकी। १५३० में जब बाबर की मृत्यु हुई तो लगभग समस्त उत्तर भारत उसके अधीन हो चुका था। वहीं से देश में मुग़ल शासन की जड़ जमी।

किन्तु अभी यह जड़ मजबूत नहीं हुई थी कि बाबर के पुत्र हुमायूँ (१५५६ में मृत्यु) को परास्त कर शेरशाह सूरी नामक अफ़ग़ान ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया (१५४०)। शेरशाह सूरी ने भी अपने शासन का विस्तार समस्त उत्तर भारत में कर लिया था। किन्तु १५४५ में उसकी मृत्यु के बाद हुमायूँ ने ईरान के शाह तहमास्प की सहायता से १५५५ में फिर भारत पर आक्रमण किया और शेरशाह के वंशज सिकन्दर शाह को परास्त कर दिल्ली में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। हुमायूँ के बाद उसके पुत्र अकबर (१६०५ में मृत्यु) को शेरशाह के अफ़ग़ान उत्तराधिकारियों को दुर्बल बनाने में कुछ समय लगा। १५५६ में जब अकबर ने हेमू को पराजित किया तब उसके बाद उत्तर भारत के राजनीतिक जीवन में फिर एक बार स्थिरता आई। अकबर चतुर नीतिज्ञ था। उसने मुग़ल साम्राज्य को दृढ़ बनाने के लिए एक तो राजपूतों के साथ सहयोग स्थापित करने की चेष्टा की और दूसरे अफ़ग़ानों की शक्ति क्षीण करने की ओर ध्यान दिया। केवल वीरकेसरी राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजवंश ने अपना संघर्ष लगातार जारी रखा। राणा प्रताप ने अनेक कष्ट और यातनाएँ सहन करते हुए भी अकबर की अधीनता किसी भी रूप में स्वीकार न की। वैसे अकबर उदार और सहिष्णु शासक था। उसने हिन्दुओं को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया। जो पौधा बाबर ने लगाया था, उसकी जड़ अकबर ने सींचकर उसे एक ऐसे विशाल वृक्ष का रूप दिया, जिसकी छाया दक्षिण में गोदावरी के तट तक पहुँचती थी। अकबर के दो उत्तराधिकारियों जहाँगीर (१६२६ में मृत्यु) और शाहजहाँ (१६६६ में मृत्यु) ने न केवल मुग़ल साम्राज्य को अधिकाधिक विस्तृत और दृढ़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही बनाया, वरन् अकबर की नीति को भी बहुत कुछ बनाए रखा। अकबर के समय से लेकर शाहजहाँ के समय तक उत्तर भारत में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रही—यद्यपि स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने वाले राज्यों से कभी-कभी संघर्ष भी छिड़ जाया करता था। किन्तु जब औरङ्गजेब (१७०७ में मृत्यु) ने १६५८ में मुगल साम्राज्य का शासन-सूत्र अपने हाथ में ग्रहण किया तो परिस्थिति बदल गई। उसका दृष्टिकोण इस्लामी रंग में रँगा हुआ था। फलतः जिन हिन्दुओं के साथ सहयोग स्थापित कर उसके तीन पूर्वजों ने मुग़ल साम्राज्य की नींव मज़बूत बनाई थी, उनकी सहानुभूति से उसे हाथ धोना पड़ा। उसने जज़िया कर लगाया, मथुरा, काशी और गुजरात के मन्दिर तुड़वाए, हिन्दू-मुस्लिम का भेद-भाव किया, हिन्दुओं के धार्मिक पर्वों पर प्रतिबंध लगाए और उन्हें राज्य के उच्च पदों से हटाकर मुसलमानों को नियुक्त किया। इस नीति का परिणाम मुग़ल साम्राज्य के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ और जाटों, सिक्खों, राजपूतों और मरहठों की प्रबल शक्तियों ने उसकी सुदृढ़ प्राचीरों में दरारें डाल दीं। भारत की जो एकता पिछले मुग़ल सम्राटों के शासन-काल में उत्पन्न हो चली थी। वह फिर विच्छिन्न हो गई। औरंगजेब की बहुत बड़ी शक्ति शिवाजी से संघर्ष करने में क्षीण हुई। महाराज शिवाजी के नेतृत्व में मुग़लों की अधीनता से मुक्त होने की भावना निरन्तर दृढ़ होती गई। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मरहठे दिल्ली तक आ पहुँचे। पेशवाओं के समय में मरहठों की शक्ति और भी बढ़ी। औरंगजेब के उत्तराधिकारी अशक्त और दुर्बल थे, वे आपस में लड़ते, और विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। ऐसे समय में जब मरहठों, सिक्खों, राजपूतों और जाटों के प्रहारों के आघात से मुग़ल साम्राज्य अन्तिम साँस ले रहा था, तब १७३९ में ईरान के नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली को अच्छी तरह लूटा। इससे रही-सही मुगल सत्ता भी समाप्त हो गई। मुगल सम्राट् मरहठों के हाथ में कठपुतली बन गए। १७५७ और १७६१ में ईरान के अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किए। सदाशिव राव भाउ और पेशवा विश्वनाथ राव की संगठित शक्ति ने पानीपत के मैदान में उसका डटकर मुक़ाबला किया था। किन्तु उनकी पराजय हुई। तत्पश्चात् मराठों की संघशक्ति को जबर्दस्त धक्का पहुँचा। उसके बाद वे पूर्णतः संभल न सके। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग का अन्त होते-होते भारतीय राजनीतिक जीवन फिर विशृङ्खल और अराजकतापूर्ण हो गया और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अँगरेजी राज्य की जड़ जमने लगी।

धार्मिक

धार्मिक दृष्टि से उस समय वैदिक धर्म का अत्यन्त क्षीण रूप मिलता है। सर्वसाधारण में शक्ति या वैष्णव धर्म के विभिन्न रूपों का प्रचार था। विदेशी लोग सभी धार्मिक सम्प्रदायों के मानने वालों को 'हिन्दू' नाम से पुकारते थे। उस समय जो भक्ति-आन्दोलन प्रचलित हुआ, उसने सामाजिक एकता पर जोर दिया और जनता की भाषा का प्रयोग किया। इस दृष्टि से बौद्ध सुधारों और आलोच्य काल के सुधारों में बहुत साम्य पाया आता है। बौद्ध काल में आचरण पर जोर दिया गया था, किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस काल में भक्ति-भावना पर अधिक जोर दिया गया। दार्शनिक दृष्टि से इन सुधारों की नींव में वेदान्त था। इष्टदेव के रूप में स्वयं विष्णु प्रधान न रहकर उनके दो प्रधान रूप राम और कृष्ण प्रधान हो गए। साथ ही कर्मकांडों का भी इस समय विशेष महत्त्व मिलता है। मध्ययुग के इस धार्मिक आन्दोलन में अनेक प्राचीन बातों के साथ-साथ नवीन बातें भी मिलती हैं। ऐसे समय में इस्लाम धर्म का प्रभाव भी पड़ना प्रारम्भ हो गया था। उत्तर भारत में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इन सम्प्रदायों का न तो जीवन दुरूह था और न साहित्य तथा दार्शनिक विचारावली ही। उन सबने अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रचार जनता की बोली में किया। जाति, वर्ण-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में उनके विचार उदार थे। भक्ति और धर्म का मार्ग सबके लिए खोल दिया गया। वास्तव में देश में ज्यों-ज्यों अराजकता कम होती गई, जीवन में स्थिरता आती गई, त्यों-त्यों धार्मिक आन्दोलन भी अत्यन्त तीव्रता के साथ समाज में अपना प्रभाव प्रकट करने लगे। ग्रियर्सन और पंडित रामचन्द्र शुक्ल का यह मत कि मध्ययुग में नैराश्य-जनित अवस्था के कारण लोगों का ध्यान भगवान् के सुमिरन की ओर गया, पूर्णतः ठीक नहीं है।

सामाजिक

सामाजिक दृष्टि से वर्तमान समय में जो जाति-व्यवस्था प्रचलित है, उसका निश्चित रूप इसी काल में निर्धारित हुआ। विवाह और खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्धों का भी अधिक कट्टरता के साथ निर्वाह किया जाने लगा। इसका प्रधान कारण था विदेशियों के साथ सम्पर्क। जब विदेशियों ने देश की धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था में हाथ लगाना शुरू किया तो सुरक्षा की भावना से प्रेरित हो समाज ने अपने नियम अधिक कठोर बना दिए और जाति तथा धर्म के क्षेत्र में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। राजनीतिक परिस्थिति के कारण स्त्रियों की सामाजिक अवस्था में परिवर्तन हुआ। बाल-विवाह, सती प्रथा आदि और भी अनेक अंधविश्वास तथा कुरीतियाँ प्रचलित होकर सामाजिक जीवन को क्षीण बनाने लगीं। विधवाओं की समस्या भी एक जटिल समस्या बन गई थी। वास्तव में समाज की छिन्न-भिन्न अवस्था एक तो पहले से ही चली आ रही थी, दूसरे राजनीतिक परिवर्तनों के कारण वह और भी अव्यवस्थित हो गई।

* * *

मुसलमानों के भारतागमन के फलस्वरूप गङ्गा की घाटी में दो संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ। प्रारम्भिक लूट-मार, संघर्ष और विद्रोहों के बाद मुसलमानों और भारतवासियों में पारस्परिक सम्पर्क बढ़ने लगा और दोनों ने एक दूसरे को समझने की चेष्टा की। तुर्क-अफ़ग़ानों के प्रथम सौ-डेढ़ सौ वर्ष सैनिक शक्ति के भय तथा आतंक और इस्लामी जोश पर आधारित रहे।

भारतीय नरेश पराजित अवश्य हुए थे, किन्तु अभी तक उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों का शासन एकदम स्वीकार नहीं कर लिया था। राजपूत नरेश अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने की बराबर चेष्टा किया करते थे। हिन्दी प्रदेश के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन में यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी। अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१६) और मुहम्मद तुग़लक (१३२५-१३५१) जैसे प्रतापी शासक भी राजपूतों को पूर्णतः अपने अधीन बनाने में सफल न हो सके—हिमालय और राजस्थान पर वे विजय प्राप्त न कर पाए। इब्नबतूता ने अपने यात्रा-ग्रन्थ में इस काल का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि राजनीतिक अशांति रहने पर सभी शासकों को देश-हित की चिन्ता बनी रहती थी। किन्तु अशांति रहने के कारण देश में उस समृद्धि का जन्म न हो सका, जो आगे चलकर अकबर के राज्यान्तर्गत मिलती है। मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। जज़िया लगा हुआ था। प्राणमोह या धन और शक्ति के मोह में पड़कर अनेक हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म भी स्वीकार किया। धार्मिक मतभेद होते हुए भी दोनों जातियों में सम्पर्क स्थापित होने लगा था। इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दुओं को पहले तो राज-कार्य से अलग रखा गया, किन्तु विवश होकर जब उन्हें विभिन्न सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाने लगा तो वे न केवल शासकों और हिन्दुओं के बीच की कड़ी बने, वरन् उनके माध्यम से इस्लामी संस्कृति के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। फ़ारसी भाषा का देश में प्रचार हुआ और उससे तत्कालीन हिन्दी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। बाहर से आए हुए मुसलमानों के इस देश में उत्पन्न वंशजों ने तत्कालीन हिन्दी (हिन्दवी) सीखनी प्रारम्भ की। साथ ही तुर्क-अफ़ग़ान शासकों ने ज्योतिष, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थों के अनुवाद फ़ारसी भाषा में कराए। आदान-प्रदान का जो क्रम हिन्दी साहित्य के आदिकाल में चला था, वह अब थोड़ा और तीव्र हुआ। वास्तु-कला के क्षेत्र में भी मुसलमानों ने जो विशाल भवन और मकबरे बनवाए, उन पर भारतीय प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। ये भवन और मकबरे कला की दृष्टि से उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। उनके बनानेवाले कारीगर भारतीय ही थे। इसलिए इस काल के मुसलमानी भवनों तथा मकबरों पर भारतीय प्रभाव दीख पड़ना आश्चर्यजनक नहीं। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तुर्क-अफ़ग़ान सत्ता का पतन प्रारम्भ हो जाने पर यदि एक ओर भारतीय नरेशों में स्वतन्त्रता की आकांक्षा उत्पन्न होने लगी तो दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों में सम्पर्क भी बढ़ता गया। धार्मिक और सामाजिक भेद-भाव तो बना रहा, किन्तु दोनों एक दूसरे को समझने की अधिकाधिक चेष्टा करने लगे। तत्कालीन जौनपुर, गुजरात, मालवा और बङ्गाल में इस पारस्परिक आदान-प्रदान से स्पष्ट चिह्न दिखाई पड़ते हैं। फिर, ख्वाजा मुईनुद्दीन के चिश्तिया सम्प्रदाय के साथ जिस सूफ़ी धर्म का भारत में प्रवेश और प्रचार एवं प्रसार हुआ, उसका प्रभाव उच्च वर्ग और साधारण जनता दोनों पर पड़ा। सूफ़ियों ने भारत में खूब भ्रमण किया। उनमें धार्मिक कट्टरता अधिक न होने के कारण भारतीय जन उन्हें आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनके प्रेम-मार्ग ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई पाटने में सहायता प्रदान की। इस्लाम धर्म में दीक्षित होने वाले हिन्दुओं ने उधर क़ब्रों और दरगाहों की पूजा शुरू कर दी। फलतः पन्द्रहवीं शताब्दी में एक नवीन सांस्कृतिक चेतना और उथल-पुथल मिलती है। भारत में भी इस्लाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रभाव तो दृष्टिगोचर होता ही है। किन्तु स्वयं सगुणोपासना को केवल ब्राह्मणों तक सीमित न रखकर उसे व्यापक आधार देने की चेष्टा की गई। 'हरि को भजै सो हरि का होई' का सरल, व्यावहारिक और प्रेम-प्रधान मार्ग जनता के सामने रखा गया। इस नवीन सांस्कृतिक चेतना से हिन्दी के भक्ति-आन्दोलन को प्रेरणा और तीव्रता प्राप्त हुई। राजनीतिक जीवन भले ही संघर्षपूर्ण रहा हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यह समय रचनात्मक कार्यों और पुनर्मूल्यांकन के प्रारम्भ होने का समय था। मुग़ल-साम्राज्य के अन्तर्गत अर्थात् सोलहवीं शताब्दी और उसके बाद सांस्कृतिक समन्वय की भावना अधिकाधिक तीव्र होती गई। तुर्क-अफ़गान तो अधिकतर साम्राज्य का विस्तार करने और विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहे। उसमें भी उनके सैन्य-बल और धार्मिक जोश का प्रधान हाथ था। मुग़लों के समय में राजनीतिक एकीकरण की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। भाषा, साहित्य, चित्र-कला, सङ्गीत-कला, वास्तु-कला, वेश-भूषा आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक आदान-प्रदान से मुगलकालीन भारतीय जीवन में समन्वय की एक पुष्ट भावना मिलती है। स्वयं सम्राट् अकबर ने एकीकरण की प्रवृत्तियों और सहिष्णुता को प्रश्रय दिया। उसके समय में जनता सुखी थी। वह स्वयं अपने साम्राज्य के विस्तार और धनधान्य से संतुष्ट था। इसलिए उसके राजत्व-काल में सामंजस्य और समन्वय की भावना पराकाष्ठा को पहुँच गई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मुग़ल-साम्राज्य की समृद्धि के फलस्वरूप राजा और प्रजा दोनों में अलंकरण और विलास की प्रवृत्ति प्रबल हुई—विशेष रूप से अकबर के राजत्व-काल के बाद। अलंकरण में बारीकी बरती गई, पच्चीकारी की गई। भवनों में, चित्रों में, वेशभूषा में और काव्य तक में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। मुग़ल-सम्राटों का ललित कला-प्रेम प्रसिद्ध है।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में पूर्ण समन्वय स्थापित हो गया। समाज और धर्म की दृष्टि से तब भी दोनों में पार्थक्य था—अकबर की सहिष्णुता के रहते हुए भी। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों सम्राट् धार्मिक संकीर्णता लिये हुए थे और औरंगजेब तो कट्टरता का साक्षात् अवतार था। संभवतः अकबर के समय की सामंजस्य और समन्वय की भावना अपवाद-स्वरूप थी। इस्लाम ने फिर संकीर्णता प्रकट की जिसके फलस्वरूप देश का वातावरण विषाक्त होने लगा। यद्यपि ऐसे सन्तों और साधुओं का अभाव नहीं था, जो भेद-भाव की भावना में परे थे, तो भी देश के वातावरण में विघटनकारी शक्तियों का जोर अनुदिन बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि गुरु नानक द्वारा स्थापित धर्म को भी सैनिक संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। सम्राटों की संकीर्णता, अकबर के व्यापक दृष्टिकोण के अभाव का जनता पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था—विशेषतः जब भारतीय जनता सांस्कृतिक मामलों में राजा का मुँह ताकने की अभ्यस्त थी। इस धार्मिक संकीर्णता और अत्याचार का प्रभाव राजनीतिक परिस्थिति पर भी पड़ा और बुन्देलों, जाटों, सिक्खों और शिवाजी के नेतृत्व में मरहठों ने स्वतन्त्र होने की चेष्टा की। मुग़ल सम्राटों के संकीर्णतापूर्ण व्यवहार से जनता भी विक्षुब्ध हो उठी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थी। इस संघर्ष और विघटन-कार्य में धार्मिक भावनाएँ निश्चित रूप से कार्य कर रही थीं। नानक, कबीर, रामानन्द आदि द्वारा स्थापित मतों की भी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हो गईं और इस प्रकार राजनीतिक के साथ-साथ धार्मिक विघटन ने भी भारतीय एकता और व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण को आघात पहुँचाया। मध्ययुग के अन्त तक आते-आते इन शक्तियों के साथ-साथ विलास, अलंकरण एवं शृङ्गार की प्रवृत्ति प्रबल होती गई। भारत के जीवन में सर्वाङ्गीण और चौमुखी ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। कोई क्षेत्र अछूता न बचा। अकबरकालीन सहिष्णुता, व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण, समन्वय एवं रचनात्मक प्रवृत्ति और उच्च आदर्श के स्थान पर अब जीवन में विघटनकारी शक्तियों, पृथकता की भावना, संकीर्णता, रूढ़िप्रियता, कूपमण्डूकता, बाह्याडंबर और असहिष्णुता का प्रचार हुआ। स्वयं औरंगजेब के जीवन-काल में ही काल-चक्र घूम चुका था। उसकी मृत्यु (१७०७) के बाद तो उसकी गति अनुदिन तीव्र हुई जिसका अन्त अठारहवीं शताब्दी की भीषण अराजकता में हुआ। मुगल सत्ता नाम मात्र के लिए रह गई और मुगल-सत्ताधारी राजदण्ड धारण करने के स्थान पर संगीत, काव्य और सौन्दर्य के पुजारी बन बैठे। फिर, 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति तो देश में हमेशा से चली आ रही थी। अठारहवीं शताब्दी के जीवन की इन विशृङ्खल और अराजकतापूर्ण परिस्थिति में ही अँगरेजों ने अपनी सत्ता स्थापित की जिसके फलस्वरूप देश की अच्छी-बुरी कायापलट होते देर न लगी।

मध्ययुग का महत्त्व

अपने मूल और शुद्ध रूप में भक्ति आन्दोलन का जन्म मुसलमानों के आने से पूर्व हो चुका था, विशेषतः दक्षिण भारत में। दक्षिण के आलवार भक्त प्रसिद्ध हैं। उस समय भारत में वज्रयानी और नाथ-पन्थी योगियों की विचारधारा का प्रचार था। दक्षिण भारत का आन्दोलन भगवान्-लीला-रूप लेकर आया, जिसमें भक्ति और प्रेम प्रधान थे। कोई भी उसका आनन्द उठा सकता था। बौद्ध और नाथ-सिद्ध यह विश्वास न दे पाए थे। इस भक्ति ने विशृङ्खल होते हुए हिन्दू समाज को सम्भाल लिया और उसे महान् आदर्शों से अनुप्राणित किया। मुसलमानों के आगमन से उत्पन्न एक नवीन परिस्थिति के कारण उत्तर भारत में उसका अधिक प्रचार हुआ और सन्त (कबीर), सूफ़ी (जायसी) तथा वैष्णव (सूर, तुलसी) कवियों ने अपनी स्निग्ध वाणी द्वारा जनता में भक्ति का संचार कर उसकी रक्षा की। सत्रहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में तो फिर अनेक धार्मिक सुधारकों, जैसे दादू, गुरु गोविन्द सिंह, प्राणनाथ आदि का उदय हुआ और हिन्दी जनता की मानसिक एवं अध्यात्मिक पिपासा शान्त हुई। सिक्खों के 'ग्रन्थ साहब' का संग्रह भी इसी समय हुआ। कवियों के ग्रन्थ भाषा, भाव, काव्य-शास्त्र, काव्य सौन्दर्य आदि की दृष्टि से हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इस काल में हिन्दी भाषा और संस्कृति सन्धिकालीन परिस्थिति से निकलकर अपने वास्तविक रूप में स्थापित हुई। ब्रजभाषा और अवधी जैसी जनता की भाषाएँ साहित्य के सिंहासन पर आसीन हुईं और महाकवियों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हाथ में पड़कर उनका पूर्ण विकास, परिमार्जन और परिष्करण हुआ, उन्हें प्रौढ़त्व प्राप्त हुआ। ब्रजभाषा और अवधी के जायसी, सूर, तुलसी, केशव, मीरा, बिहारी, मतिराम आदि अनेकानेक कवि हुए और कबीर की वाणियाँ, (जायसी कृत) 'पद्मावत', 'सूरसागर', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'मीरा-पदावली', 'बिहारी सतसई', 'रसराज' आदि प्रसिद्ध एवं उच्च कोटि की रचनाओं का निर्माण हुआ। इन कवियों तथा उनके ग्रन्थों ने हिन्दी भाषा तथा साहित्य की गतिविधि निर्धारित की और भारतीय जीवन तथा संस्कृति पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी। कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन के कारण ब्रजभाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति ही नहीं बढ़ी वरन् आगे चलकर उसका कलात्मक शृङ्गार भी हुआ। पद-शैली, दोहा-चौपाई-शैली, कवित्त-सवैया-शैली, बिहारी की दोहा-शैली आदि अनेक साहित्यिक शैलियों का जन्म हुआ और प्रबन्ध ('रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका') तथा मुक्तक (सूर, मीरा आदि के पद) रचनाओं का प्रणयन हुआ। इस समय हिन्दी में गीतितत्त्व की प्रमुखता भी मिलती है। (सूर, मीरा आदि की रचनाओं में)। मध्ययुग में ही हिन्दी में रीति का विवेचन हुआ, अनेक लक्षण-ग्रन्थ लिखे गए और रीतिकालीन तथा शृङ्गारी कवियों ने भाषा का कलात्मक शृङ्गार कर उसकी अभिव्यंजना-शक्ति परा-काष्ठा पर पहुँचा दी। वास्तव में हिन्दी प्रदेश के वर्तमान मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन का गठन बहुत कुछ इसी युग में हुआ। इसी समय हिन्दी साहित्य की चिन्ता-धारा अत्यन्त उच्च भाव-भूमि पर स्थित हुई, जिसके द्वारा हिन्दी प्रदेश का स्वाभा-विक जीवन मुखरित हो उठा। हिन्दू जाति के अन्तरतम को स्पर्श कर लेनेवाले और हमारे सांस्कृतिक जीवन के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कवि फिर बाद को नहीं हुए। इन्हीं सब कारणों से इस युग, विशेषतः १६वीं और १७वीं शताब्दियों को साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस युग में हिन्दी जनता की मूल प्रेरक शक्ति द्वारा साहित्य, कला और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व एवं चौमुखी उन्नति मिलती है। इतिहास की दृष्टि से वह मुग़ल काल था और भारत का यूरोपीय लोगों से सम्पर्क स्थापित होना प्रारम्भ हो रहा था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से हिन्दी साहित्य में पिष्टपेषण और ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। वास्तव में चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी के धार्मिक और लौकिक साहित्य का समन्वय हमें चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दियों में मिलता है। यह साहित्य प्रामाणिक भी है और वस्तुतः 'हिन्दी साहित्य' के नाम से विभूषित होने वाला साहित्य है, क्योंकि इसी समय अपभ्रंश की रूढ़ि से जकड़ी भाषा के स्थान पर ब्रजभाषा का सहज रूप सामने आया।

भक्ति-आन्दोलन का जन्म : सगुण और निर्गुण

सगुण : बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद आठवीं शताब्दी में जगद्गुरु शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की और अद्वैत मत का प्रचार किया। सैद्धान्तिक दृष्टि से शांकर अद्वैत में संकीर्णता का अभाव और समाज को एकता के सूत्र में बाँध देने की शक्ति है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह सफल न हो सका। शांकर अद्वैत को आधार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानकर आगे दक्षिण में चार प्रधान मतों की स्थापना हुई—रामानुजाचार्य (१०१७-११३७) का विशिष्टाद्वैत मत, निम्बार्क (बारहवीं शताब्दी) का द्वैताद्वैत मत, विष्णुस्वामी (चौदहवीं शताब्दी के लगभग) का शुद्धाद्वैत मत और माधवाचार्य (तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) का द्वैत मत। हमारे देश में 'वेदान्त' दार्शनिक पद्धति के चरम विकास के रूप में ग्रहण किया जाता है। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता—ये प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में कथित तत्त्वज्ञान 'वेदान्त' है—यद्यपि 'वेदान्त' का शब्दार्थ वेद का अन्त या सिद्धान्त है। श्रुति के रहस्यात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही उसमें है। उपर्युक्त विविध आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी का प्रतिपादन कर विविध दार्शनिक मतों की स्थापना की, जिसमें से सर्वप्रथम स्थान शांकर अद्वैत का है। शंकर के मतानुसार ब्रह्म एक, निर्विकल्प और निर्विकार है। वह सगुण और निर्गुण दोनों ही है। ब्रह्म सत्य और ज्ञानरूप है। सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ही उसका वास्तविक रूप है। माया से संवलित हो जाने के कारण वह सगुण रूप धारण करता है और संसार के उद्भव, स्थिति और लय का कारण बनता है। सृष्टि-निर्माण में उसका कोई प्रयोजन नहीं; यह तो लीला मात्र है। ईश्वर उपादान और निमित्त कारण दोनों है। मकड़ी की भाँति वह अपने में से जगत् की सृष्टि करता है। अग्नि की दाहिका शक्ति की भाँति माया ब्रह्म की शक्ति है। माया सत् या असत् न होकर अनिर्वचनीय है और इसी के कारण ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और उपादान दोनों बनता है। जीव ब्रह्म के ही समान है, अद्वैत है। शुद्ध चैतन्य जीव त्रयातीत (जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के परे) और पंचकोषातिरिक्त (अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों से परे) अज्ञान के कारण ही इस शुद्ध-चैतन्य अल्पज्ञ जीव का रूप धारण करता है। ज्ञान से उसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अद्वैत-ज्ञान हो जाने पर जीव बन्धनों से मुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत शंकर के मायावाद का विरोध करता है। वे चित् = जीव या भोक्ता, अचित् जगत् और ईश्वर + सर्वान्तर्यामी—यह तत्त्वत्रय मानते हैं। ईश्वर नियामक है, जीव नियम है। जीव ईश्वर पर अवलम्बित है। शांकर अद्वैत की जीव-कल्पना से यह भिन्न दृष्टिकोण है (अद्वैत में आत्मा एक तथा विभु है। विशिष्टाद्वैत में आत्मा अनन्त, एक दूसरे से भिन्न है) विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव और जगत् दोनों स्वतन्त्र हैं, परन्तु ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर समस्त विश्व में व्याप्त है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर की सगुण रूप में कल्पना की गई है, निर्गुण रूप में नहीं यह सारा जगत् ईश्वर का रूप है। जीव तथा जगत् से सम्बन्धित रहने पर भी ईश्वर अविकारी रहता है। ईश्वर स्वतन्त्र सत्ताधारी है। जीव और जगत् उसके अधीन हैं। साथ ही ईश्वर और जीव तथा जगत् का पार्थक्य भी स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रलय काल में जीव और जगत् अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ईश्वर में निवास करते हैं। क्योंकि ईश्वर के साथ जीव और जगत् की अद्वैतता तो है, किन्तु विशिष्टता के साथ, इसलिए रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्म अखंड है, जीव उसका अंश है। रज-तम के मिश्रण से सृष्टि का निर्माण होता है। इस मत के अनुसार दास्य भक्ति ही चरम लक्ष्य मानी गई है। 'स्नेहपूर्व-मनुध्यानं भक्ति', 'भगवत् कैंकर्य', 'प्रपत्ति' (आत्मसमर्पण) भगवदनुग्रह की प्राप्ति के लिए उपासना, गुरु चतुर्व्यूह (वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) आदि बातें रामानुज के मत की प्रमुख विशेषताएँ हैं। मोक्ष प्राप्त करने पर जीव के अप्राकृत शरीर, ज्ञान और आनन्द की सत्ता बनी रहती है और वह भगवान् की सेवा तथा सान्निध्य द्वारा 'अभिज्ञान-सम्मिलन' प्राप्त करता है, 'नित्यविभूति' का आनन्द उठाता है। स्वामी रामानन्द ने कुछ परिवर्तन के साथ विशिष्टाद्वैत मत ही ग्रहण किया था। रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय श्री वैष्णवों का सम्प्रदाय कहा जाता है, तो रामानन्द का रामावत या केवल रामानन्दी सम्प्रदाय है। रामानन्द ने 'ॐ रां रामाय नमः' को मूल मन्त्र के रूप में स्थापित कर राम को ईश्वर, सीता को अचित् (प्रकृति) और लक्ष्मण को चित् माना।

द्वैताद्वैत के व्याख्याता निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म और जीव का, व्यावहारिक या सांसारिक दृष्टि से भेदयुक्त सम्बन्ध है, किन्तु परमार्थ दशा में अद्वैत सम्बन्ध है। इसी को ब्रह्म-जीव का भेद-भेद सम्बन्ध कहते हैं। अभेद अवस्था में दोनों चैतन्य स्वरूप रहते हैं। इसी सम्बन्ध को स्वर्ण और स्वर्ण से बने कुण्डल के उदाहरण से व्यक्त किया जाता है। रामानुज के समान निम्बार्क-मत में भी तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की गई है—चित्, अचित् और ईश्वर। जीव और जगत् ईश्वर पर आश्रित रहने के कारण अभिन्न हैं (अद्वैत), परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वे भिन्न हैं (द्वैत)। रामानुज ने अपने मत में केवल अद्वैत को प्रमुख स्थान दिया। निम्बार्क ने द्वैत और अद्वैत दोनों को महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने जीव को ईश्वर के आश्रय में ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता माना है। ईश्वर अंशी का जीवन अंश है और वह मुक्त और बद्ध दो प्रकार का होता है। जीव का अज्ञान दूर करने के लिए भगवान् की कृपा अपेक्षित है। निम्बार्क भी प्रकृति (महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक विभिन्न पदार्थ) को ईश्वराधीन मानते हैं। सगुण ब्रह्म ही ईश्वर है। यह चित् अचित् का नियामक और स्वतन्त्र है। श्रीकृष्ण ही ईश्वर हैं और युगल-उपासना में राधा की उपासना प्रधान है। निम्बार्क राधा को कृष्ण की स्वकीया मानते हैं। राधा-कृष्ण की भक्ति मोक्ष-प्रदायिका है। यह भक्ति अनुराग या प्रेमस्वरूपा है, न कि रामानुज के समान, ध्यान या उपासना-प्रधान। निम्बार्क के सम्प्रदाय में अष्टयाम, निकुंज-लीला और राधा-कृष्ण की शृङ्गारी लीला का प्रमुख स्थान है। वल्लभाचार्य कृष्ण के बाल-रूप और वात्सल्य के उपासक थे। निम्बार्क का सम्प्रदाय सनक या सनकादि संप्रदाय कहा जाता है।

शुद्धाद्वैत का मूल विष्णुस्वामी के मत में पाया जाता है, जिसकी दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत के नाम से और भक्ति की दृष्टि से पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत व्याख्या महाप्रभु वल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) ने की। वल्लभाचार्य का प्रभाव भारत के एक विस्तृत भूमि-भाग पर पड़ा और उससे ब्रजभाषा-साहित्य पुष्ट हुआ। प्रस्थानत्रयी के साथ-साथ श्रीमद्भागवत को भी उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ माना। उन्होने वेदान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के 'अणुभाष्य' की भाँति भागवत की 'सुबोधिनी' टीका की रचना भी की। शंकराचार्य ने माया से संवलित ब्रह्म को सृष्टि का आदि कारण माना था। वल्लभाचार्य ने माया-रहित शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण बताया और ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूप सत्य माने (शंकर ने सगुण रूप हीन माना था)। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, सच्चिदानन्द हैं। वे आत्मा में रमण करने के अतिरिक्त बाह्य दृष्टि से भी रमण करते हैं। वैकुण्ठ उनकी नित्य लीलाओं का स्थान है। गोलोक उसका एक भाग है। वे वृन्दावन में विराजते हैं। जब वे अवतार ग्रहण करते हैं तो वैकुण्ठ गोकुल के रूप में तथा उनकी अनंत शक्तियाँ राधा, चन्द्रावली, यमुना आदि के रूप में प्रकट होती हैं। वैदिक ऋचाएँ ही रसास्वादन की दृष्टि से गोपियों के रूप में अवतरित हुईं। ब्रह्म की प्राप्ति अनन्या भक्ति से होती है। वल्लभाचार्य के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म अविकृत भाव से अपने को जगत्-रूप में परिणत कर देता है, जैसे कुण्डल के रूप में स्वर्ण अविकृत रहता है। साथ ही वे जगत् का उत्पन्न होना नहीं, आविर्भाव होना मानते हैं। सत्, चित् और आनन्द इन्हीं तत्त्वों का ब्रह्म आविर्भाव-तिरोभाव करता रहता है। अविद्या मनुष्य को भ्रमाती है और जीव (जिसे वल्लभाचार्य ने 'अणु' माना है) ब्रह्म से उसी प्रकार आविर्भूत होता है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी। 'कृष्णानुग्रह' ही पुष्टि है। इसी पुष्टि को प्राप्त करना वाल्लभ भक्त का चरम लक्ष्य है। भक्त तन, मन, धन सब कुछ कृष्णार्पित कर देता है। इस संप्रदाय में राधा परकीया न होकर स्वकीया हैं। विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय या तो उन्हीं के नाम से प्रचलित है अथवा रुद्र सम्प्रदाय और पुष्टि मार्ग का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

मध्वाचार्य का मत दार्शनिक क्षेत्र में द्वैत मत और व्यावहारिक क्षेत्र में भक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। द्वैत मत ने मायावाद का सबसे अधिक खण्डन किया। माध्व मत में भगवान् उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष के कर्ता माने गए हैं। विष्णु ही परमात्मा हैं। उनकी शक्ति लक्ष्मी भिन्न होते हुए भी उनके अधीन है। वह सर्वव्यापक और नाना रूपधारिणी है, किन्तु भगवान् से न्यून है। जीव भगवान् का अनुचर है और भगवान् के अधीन रहना ही उसका जीवन-साफल्य है। अपनी अल्पज्ञता और अल्प शक्ति के कारण वह भगवान् के आश्रित रहता है। संसार में कोई दो जीव अभिन्न नहीं हैं। मुक्ति की दशा में भी वे अभिन्न नहीं होते। ज्ञानादि गुणों के कारण उनकी आनन्दावस्था में भेद बना रहता है। इसे माध्व मत का तारतम्य-भेद कहते हैं। यह मत जगत् को पूर्णतः सत्य मानता है। भगवान् जब सत्य है, तो उसका बनाया हुआ यह जगत् असत्य क्यों? जीव को वास्तविक सुख की अनुभूति प्राप्त होना ही मोक्ष है। जीव अमला या अहैतुकी भक्ति प्राप्त कर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। मध्वाचार्य का सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा स्वतंत्रास्वतंत्रवाद कहा जाता है।

बंगाल का चैतन्य (१४८५-१५३३) मत माध्व मत की गौड़ीय शाखा है—यद्यपि दोनों में सिद्धान्तगत भेद हैं। चैतन्य ने अचिंत्यभेदाभेद का पोषण किया जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति रस से आप्लावित है। अपार शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण 'स्वयंरूप' आदि कारण और विभिन्न रूपों में प्रकट होनेवाले हैं। मध्वाचार्य ने ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण माना था। चैतन्य ने उसे निमित्त और उपादान दोनों कारणों के रूप में माना। उन्होंने जगत् को सत्य और प्रेम को परम पुरुषार्थ माना है। माधुर्य भाव के अन्तर्गत राधाभाव ही चैतन्य की रस-साधना का मूल मन्त्र है। रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' चैतन्य सम्प्रदाय का प्रधान ग्रंथ है।

श्री, सनकादि, ब्रह्म, विष्णुस्वामी, रुद्र या पुष्टि मार्ग, गौड़ीय—इन प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त महापुरुषिया सम्प्रदाय (असम, शांकरदेव १४४९-१५६८), रामदासी सम्प्रदाय (सतारा, स्वामी रामदास १६०८-१६८१), उद्धवि सम्प्रदाय (अहमदाबाद, स्वामी सहजानन्द या स्वामी नारायण, १७८१-१८२९), राधावल्लभजी सम्प्रदाय, हरिव्यासी सम्प्रदाय, हरिदासी या टट्टी सम्प्रदाय आदि अनेक वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हुए, जिनके विस्तृत उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

हिन्दी साहित्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन्हीं विभिन्न मतों से प्रभावित होकर भक्ति-धारा प्रवाहित हुई। इन चारों ने शांकर पद्धति का प्रतिपादन अपने-अपने ढंग से किया, जाति-बन्धन शिथिल किया, गुरु को परब्रह्म का प्रतिनिधि मान, वैकुण्ठ-प्राप्ति को चरम उद्देश्य बताया और महर्षि शांडिल्य कृत भक्ति-सूत्रों का अनुसरण किया। इन्हीं चार आचार्यों से प्रेरणा ग्रहण कर उत्तर भारत में रामानन्द (चौदहवीं शताब्दी), चैतन्य (पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में), वल्लभाचार्य (१६ वीं शताब्दी) ने वैष्णव मत का प्रचार कर भक्ति-आन्दोलन को जन्म दिया। चैतन्य का प्रभाव अधिकतर बङ्गाल तक सीमित रहा। किन्तु रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदि चैतन्य के भक्तों ने सखी भाव के प्रचार से कृष्ण के साथ राधा की पूजा आदि की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की भावधारा, विचार-दर्शन और उपासना-पद्धति को प्रभावित अवश्य किया। रामानन्द ने राम की उपासना पर अधिक ज़ोर दिया, तो वल्लभाचार्य ने कृष्ण की उपासना पर; दोनों ने अवतारवाद को जनता के सामने रखा। रामानन्द ने रामानुज के विचारों को व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया। उसका सम्बन्ध निर्गुणोपासकों और सगुणोपासकों दोनों से है। 'भक्तमाल' में उनके बारह शिष्य बताए गए हैं—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरासुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन भक्तों के भी भक्त हुए, जिनसे भक्ति की धारा शतधा होकर प्रवाहित हुई। वल्लभाचार्य ने सिद्धान्ततः तो विष्णुस्वामी के मत का पालन किया, किन्तु व्यावहारिक रूप में निम्बार्क मत को भी स्थान दिया। वल्लभाचार्य ने भक्ति का जो स्वरूप रखा, वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह-रूप में था। अनुग्रह का नाम ही पुष्टि है। इस प्रकार शुद्ध पुष्टि का आश्रय ग्रहण कर वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की। इन आचार्यों ने धर्म का लोकरंजक रूप सामने रखा। इन दोनों आचार्यों ने इस काल के साहित्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को विशेष रूप से प्रभावित किया और हिन्दी भाव-धारा को निर्गुण, राम और कृष्ण, इन तीनों धाराओं को प्रस्फुटित किया।

निर्गुण : सन्त मत

वैष्णव धार्मिक आन्दोलन के साथ सन्त सम्प्रदाय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कबीर उसके प्रधान प्रवर्तक माने जाते हैं। कबीर ने रामानन्द से दीक्षा ग्रहण की थी। किन्तु उन्होंने भक्ति का जो रूप प्रचलित किया, वह रामानन्द की भक्ति से भिन्न था। वास्तव में कबीर तथा सन्त मत पर इस्लाम, सूफ़ी, अद्वैत आदि विभिन्न मतों का प्रभाव है। सन्त मत और सिद्धों तथा नाथों के परस्पर सम्बन्ध की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है। इधर डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने अपने 'ध्यान-सम्प्रदाय' नामक ग्रंथ में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि ध्यान सम्प्रदाय (अपने नाम का सार खोजना) बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अन्तर्गत एशिया का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था, जिसके संस्थापक दक्षिण भारत के योगी बोधिधर्म (आविर्भाव काल ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी) थे। इस सम्प्रदाय का जन्म भगवान् बुद्ध की बोधि से हुआ माना जाता है और चीन, जापान, कोरिया आदि में भी इसका प्रचार हुआ। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने उसकी महान् साहित्यिक एवं कलात्मक उपलब्धियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और उन्होंने एक ओर ध्यान सम्प्रदाय और दूसरी ओर भारतीय अद्वैत, सिद्ध-नाथ-सम्प्रदायों तथा सन्त मत में समानताएँ बताई हैं। सन्त मत में अपरोक्षानुभूति, ब्रह्म, सहज भाव, नाम-महिमा, गुरु-महिमा, योग, निर्गुण-साधना, रहस्य-साधना, सत्-असत्, ज्ञान-गरीबी, सबद-सुरति-योग, हठयोग, आदि गुरु, परमहंस, अवधूत, मन, सुरति-निरति, सुन्न आदि से सम्बन्धित भावना का स्रोत उन्होंने ध्यान सम्प्रदाय में खोजा है। सिद्धों, नाथों और निर्गुण-पंथियों की साधना और रहस्यवाद का प्रवाह उन्हें ध्यान सम्प्रदाय में मिला है। ध्यान सम्प्रदाय की भाँति कबीर तथा अन्य सन्तों की वाणी में 'अनुभव' का विस्तार मिलता है। सन्तों के 'अंग' शब्द पर भी ध्यान सम्प्रदाय का (अर्थात् बौद्ध प्रयोग का) प्रभाव है। यहाँ तक कि कबीर की उलटबाँसियों (बौद्ध-परम्परा-नुसार, 'अन्ध-वेणु' = अंधों का बाँस = बाँस को उल्टा कर देना अर्थात् अंधे का अंधे को बाँस पकड़कर ले जाने अर्थात् ब्राह्मण-परम्परावादी धारा से उल्टी बात कह कर चौंकाना। (इस अन्ध-परम्परा का सिद्धों, नाथों, कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने बहुत उल्लेख किया है) और सांकेतिक शब्दावली का मूल रूप भी ध्यान सम्प्रदाय में पाया जाता है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय के ग्रन्थ से सन्त मत की विचारधारा पर नया प्रकाश पड़ता है और भारत की एक विशेष चिन्तनधारा में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित होता है। उनका दृष्टिकोण विचारणीय है। कालगति देखते हुए कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की भावना का प्रचार किया, जो हिन्दू-मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो सकती थी। मूर्ति-पूजा, विविध प्रकार के कर्म-काण्डों आदि का उन्होंने खण्डन किया, माया के बन्धन से मुक्त होने का उपदेश दिया और योग द्वारा ईश्वरानुभूति प्राप्त करने का साधन बताया। अद्वैतवाद और सूफ़ीमत के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिश्रण से कबीर के रहस्यवाद का जन्म हुआ। अपनी गहनतम अनुभूतियों को साधारण भाषा में प्रकट न कर सकने के कारण कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने रूपकात्मक भाषा का प्रयोग किया।

सूफ़ी मत

इस काल में तीसरा धार्मिक प्रभाव सूफ़ी मत का है। सूफ़ी कवियों ने प्रेमाख्यानों द्वारा अपने सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने भारतीय जीवन से सम्बन्धित भारतीय पात्रों से युक्त कथानक चुने। वास्तव में इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव ने जहाँ एक ओर सन्त मत का मार्ग तैयार किया, वहाँ दूसरी ओर सूफ़ी मत को गति प्रदान की। सन्त मत और सूफ़ी मत स्पष्टतः मुसलमानी शासन के प्रभाव हैं। सूफ़ियों के लौकिक कथानकों पर मसनवी शैली (मूल काव्य प्रारंभ करने से पूर्व परमात्मा का गुणानुवाद, पैग़म्बर की स्तुति, 'मीराज' की चर्चा, समकालीन शासक की प्रशंसा, काव्य रचना की प्रेरणा आदि का उल्लेख) की छाप है।

'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ़' ऊन, =सफ़ा, सफ्फे अव्वल आदि शब्दों से मानी जाती है। ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी के आसपास इस्लामी संसार-त्यागी साधक ऊन का प्रयोग करते थे, इसलिए उन्हें 'सूफ़ी' कहा गया। जो विद्वान् इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सफ़ा' से मानते हैं उनका कहना है कि क्योंकि ये साधक पवित्र एवं सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे। वे पाक़ीज़ा-मिज़ाज थे, स्वच्छात्मा थे, इसलिए उन्हे 'सूफ़ी' कहा गया। ये सूफ़ी ब्रह्मज्ञानी थे, अध्यात्मवादी थे, सब धर्मों से प्रेम करने वाले थे और 'तसव्वुफ़' (सूफ़ियों का दर्शन) के अनुयायी थे इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफ़ी 'रहस्यवादी' साधक माने जाते हैं। हिन्दी में 'सूफ़ी आख्यान काव्य' को ही 'प्रेमाख्यानक काव्य' कहते हैं, क्योंकि इन कवियों ने 'तसव्वुफ़' के अनुसार 'प्रेम की पीर' को ही अपनी साधना का मूल मन्त्र माना है। उन्होंने अपने कल्पित या इतिहास-मिश्रित अर्द्ध-कल्पित आख्यानों में हृदय का प्रेम ('इश्क') ही व्यक्त किया है। सूफ़ियों की साधना का आदि-अंत यह 'अलौकिक प्रेम' है। सभी प्रकार की कठिनाइयाँ और विघ्न-बाधाएँ सहन करते हुए सूफ़ी साधक प्रियतम परमात्मा से मिलन प्राप्त करता है। भारतीय कथानक रूढ़ियों (श्रवण-दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, सिंहल द्वीप की पद्मिनी आदि) का प्रयोग कर सूफ़ी कवियों ने अधिकतर ईरानी मसनवी शैली और भारतीय परम्पराओं का समन्वय उपस्थित किया है।

'तसव्वुफ़' में आत्मा-परमात्मा, जगत् आदि के परस्पर संबंध पर विचार किया गया है। सूफ़ी एकेश्वरवाद में विश्वास तो करते हैं, किन्तु कट्टर इस्लाम की भाँति नहीं। इस्लाम धर्म के कट्टर अनुयायी परमात्मा को दृश्यमान जगत् से भिन्न मानते हैं। सूफ़ी लोग परमात्मा को जगत् में सर्वत्र व्याप्त मानते हैं। वे उसे सर्वव्यापी परम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि से सृष्टि असत् है। परमात्मा ही परम सत्ता के रूप में सत्य है। यह असत् जगत् ही उस परमात्मा को समझने में सहायक होता है, क्योंकि परमात्मा अपनी अनन्त विभूति और सौन्दर्य में से ही जगत् की सृष्टि करता है। सृष्टि उस विभूति का प्रतिबिंब मात्र है। प्रतिबिंब कभी सच्चा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होता। इसलिए वह सत्ता ही वास्तविक है। मनुष्य में, सृष्टि में सत्-असत् दोनों अंश हैं। सत् ही परमात्मा है; असत् नाशवान् है। इसलिए साधक को असत् नष्ट कर, अपने को स्वच्छ बना कर परमात्मा के साथ एक हो जाना है। यह कार्य साधना से पूर्ण हो सकता है। यह साधना-पथ (सफ़र) ही 'सूफ़ी मार्ग' है। वैसे तो ईरान का सूफ़ी मत संप्रदायों में विभक्त हो गया था और सूफ़ी साधना के संबंध में विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं, किन्तु स्थूल रूप से सूफ़ी साधना की चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं—१. 'नासूत' = मनुष्य जब कुरान में बताए गए विधि-निषेधों का पालन करते हुए सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; २. 'मलकूत = जब साधक भौतिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है और 'तरीक़ा' (पवित्रता) ग्रहण करता है; ३. 'मारिफ़त' (आध्यात्मिक ज्ञान) = साधक 'जबरूत' की अवस्था प्राप्त कर अन्तिम मिलन के मार्ग की सभी विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, और ४. 'हक़ीक़त'—'लाहूत' की अवस्था प्राप्त कर जब वह विशुद्ध अन्तिम सत्य प्राप्त कर लेता है और 'फ़ना' होकर 'बक़ा' के लिए प्रस्तुत हो जाता है। सूफ़ियों ने ईश्वर की भावना स्त्री (दैवी) रूप में और भक्त की पुरुष के रूप में की है। उसके मत में निःस्वार्थ प्रेम का अत्यधिक महत्त्व है। माया के स्थान पर वे शैतान को मानते हैं और शैतान से बचने के लिए गुरु की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। वास्तव में सूफ़ी कवियों ने लौकिक प्रेम द्वारा पारलौकिक प्रेम की ओर संकेत किया है। भारतीय आदर्श और वातावरण ग्रहण करते हुए भी उनके निष्कर्ष मुसलमानी सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। भारतवर्ष के 'चिश्तिया', 'कादिरिया', 'सुहरवर्दिया' और 'नक्शबन्दिया' इन चार सूफ़ी सम्प्रदाओं में से सर्वप्रथम ही अधिक प्रसिद्ध है। भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने उसकी स्थापना की थी।

अस्तु, हम देखते हैं कि चौदहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक सगुण और निर्गुण नाम से भक्ति-काव्य की दो धाराएँ बराबर चलती रहीं। निर्गुण शाखा की दो उप-शाखाएँ हो गई थीं—(१) कबीर की शाखा (सन्त सम्प्रदाय और (२) शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफ़ियों की)। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन का संक्षेप में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :

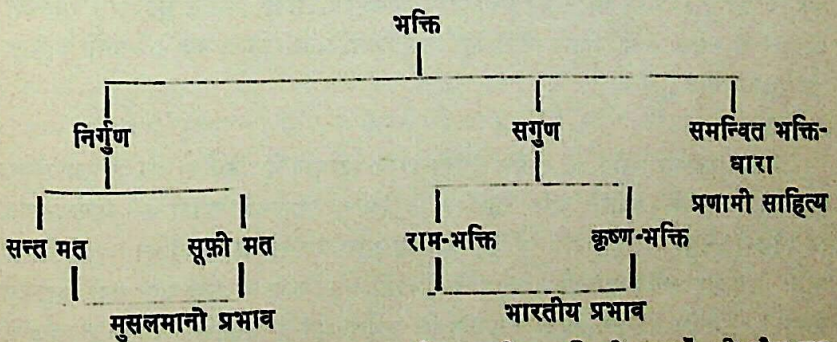

इसके अतिरिक्त उस समय वीरगाथात्मक और हठयोग आदि की धाराएँ भी गौण रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रवाहित होती रहीं। रामानन्द के कुछ शिष्यों का नाथ-पंथी योगियों से सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था।

यद्यपि कबीर से पूर्व नामदेव (तेरहवीं शताब्दी) तथा महाराष्ट्र के अन्य संत कवियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने हिन्दी में रचनाएँ कीं और जिसका उल्लेख तासी ने अपने इतिहास में किया है, तो भी हिन्दी में भक्ति-काल के उत्थान के समय हमें पहले-पहल कबीर की रचनाएँ मिलती हैं। इसलिए पहले सन्त-काव्य पर विचार करना ठीक होगा।

संत-काव्य

यह पहले कहा जा चुका है कि मुसलमानों ने देश में अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के साथ-साथ इस्लाम धर्म का भी प्रचार किया। स्वयं भारतवर्ष में विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे और एक उच्चवर्गीय धर्म तथा दूसरा निम्न-वर्गीय धर्म प्रचलित था। उच्चवर्गीय भक्तों में शास्त्रीय मर्यादाएँ मान्य थीं। वे केवल भगवद्-विमुखता से असन्तुष्ट थे। निम्नवर्गीय भक्तों में वैदिक आदर्श के प्रति असन्तोष था। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में सिद्धों और नाथों की परम्परा भी इस असन्तोष की ओर संकेत करती है। कबीर पंथ को अनेक प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों से निबटना पड़ा था। 'कबीर वानी' और 'अनुरागसागर' से इस प्रतिद्वन्द्विता का आभास प्राप्त होता है। मुसलमानों के आने से और भी संकट उपस्थित हो गया। इस्लाम के कारण भारतवर्ष की समूची सामाजिक व्यवस्था को आघात पहुँचने की आशंका उत्पन्न हो गई। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के मूल धार्मिक सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत किया, अथवा यह कहना चाहिए कि मुसलमानी धर्म की वे बातें, जो हिन्दू धर्म से मिलती-जुलती पाई गईं, सन्त मत में हैं। सन्तों ने सनातन धर्मवाले रूप का विरोध किया, सन्त साहित्य में भक्ति और साधना की चरम अभिव्यक्ति तो अवश्य हुई है, किन्तु काव्य की दृष्टि से वह अधिक उच्च कोटि का नहीं है। उसमें हृदय की झलक तो अच्छी पाई जाती है, लेकिन काव्य-शास्त्र के नियमों और परम्पराओं का निर्वाह नहीं किया गया। उसकी विचार-धारा मुक्तक रूप में—पदों, दोहों आदि में....प्रकट हुई है। सन्त कवियों की यह परम्परा किसी-न-किसी रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक मिलती है। सन्त काव्य की प्रधानता उन्नीसवीं शताब्दी में घट गई थी। बीसवीं शताब्दी में इसका कोई महत्त्व नहीं रह गया, यद्यपि वर्तमान समय में सन्तों के केन्द्र अवश्य विद्यमान हैं।

कबीर

भक्ति-काल की इस निर्गुण सन्त-काव्य-परम्परा में कबीर का प्रमुख स्थान है। कबीर उसके प्रवर्तक माने जाते हैं। कबीर सिकन्दर लोदी के राजत्व-काल (१५१७-१५२६) में हुए थे। अनेक लौकिक और अलौकिक बातों का समावेश हो जाने से कबीर के जीवन-वृत्त के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं (हंटर—संवत् १४३७ में जन्म, बिल्सन—संवत् १५०५ में मृत्यु; रेव० वेस्टकट—संवत् १६४७ में जन्म और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संवत् १५७५ में मृत्यु) कबीर-पन्थियों में उनकी जन्म-तिथि १३१९ (संवत् १९५६) और मृत्यु-तिथि १५१८ मानी जाती है, जिनके अनुसार कबीर एक सौ बीस वर्ष जीवित रहे। कबीर के जन्म और जाति के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत प्रचलित हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि कबीर नाममात्र के मुसलमान थे। संभवतः वे एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे और नीरू तथा नीमा द्वारा पालित-पोषित थे। स्वयं कबीर ने कई स्थानों पर अपने को जुलाहा कहा है। सम्भवतः वे जुलाहा जाति में पालित-पोषित थे। वे नाथ-पन्थी विश्वासों से परिचित थे। कबीर स्वभाव ही से धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वे लोगों को उपदेश दिया करते थे। किन्तु लोग उन्हें निगुरा कहते थे—गुरु-हीन। अन्त में वे रामानन्द के शिष्य हुए और राम-राम मन्त्र लिया। नाभादास ने 'भक्तमाल' में उन्हें रामानन्द के २२ शिष्यों में से बताया है। उनमें से अधिकतर शिष्य निम्न जाति के थे। कबीर ने खूब पर्यटन किया और सन्तों तथा सूफ़ियों का सत्सङ्ग किया। कहते हैं, कबीर का विवाह किसी जमखण्डी वैरागी कन्या लोई से हुआ था, किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि लोई उनकी शिष्या थी। सम्भव है, विवाह तो किया हो, किन्तु शिष्या-भाव से रखा हो :

'नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी बड़ा विकार ॥'

कमाल और कमाली उनकी सन्तानें कही जाती हैं। वास्तव में कबीर के जीवन के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाओं का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि मृत्यु के समय वे काशी से मगहर चले आए थे। उनके शव को लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा हुआ। अंत में जब क़फ़न हटाया गया तो फूलों का ढेर मिला। आधे हिन्दुओं ने लेकर काशी में जलाए और शेष मुसलमानों ने मगहर में दफना दिए। मृत्यु के बाद इनके एक शिष्य धर्मदास ने छत्तीसगढ़ वाली शाखा और दूसरे शिष्य सुरत गोपाल ने काशी वाली शाखा चलाई।

कबीर साक्षर नहीं थे। उनकी कही जानेवाली रचनाएँ दूसरे व्यक्तियों द्वारा संगृहीत हैं। कबीर की रचनाओं का संग्रह 'गुरु ग्रन्थ साहब' (१६०५) में और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तथा डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' में हैं। तीसरा संग्रह कबीर-पंथियों का 'बीजक' है, जिस पर पूरनदास की 'त्रिज्या' टीका (१८९२ में प्रकाशित) और महाराज विश्वनाथसिंह जू देव कृत 'पाखण्डखण्डनी' टीका (१९०४ में बम्बई से प्रकाशित) बहुत प्रसिद्ध है। स्थूल रूप से कबीर की वाणी का संग्रह बीजक' (वर्तमान रूप १८वीं शताब्दी का) के नाम से प्रसिद्ध है जिसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। साखियों (सलोक या श्लोक में दोहा छन्द के माध्यम द्वारा साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अब यह निश्चित हो चुका है कि कबीर की भाषा में मूलतः खड़ी बोली के रूपों की अधिकता है। उसके साथ ब्रज, अवधी, बनारस तथा मगहर की बोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि के रूप भी मिलते हैं। यह भाषा तत्कालीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दवी कही जा सकती है, जिसका उस समय अपना एक राष्ट्रीय रूप था।[1] उसके लिए 'सधुक्कड़ी', 'पंचमेल' आदि नाम अवैज्ञानिक सिद्ध हो चुके हैं। रमैनी (चौपाई-दोहा में) बीजक का महत्त्वपूर्ण अंश है। सबद (पद) के अन्तर्गत गाने के पद आते है।

कबीर बहुश्रुत थे और यद्यपि वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और उन्होंने 'राम' शब्द का प्रयोग भी किया है, तो भी उनके राम दाशरथि राम नहीं हैं। उन्होंने 'राम' का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में किया है।

'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
रामनाम का मरम है आना॥"

अथवा

'निर्गुण राम, निर्गुण राम जपहु रे भाई।'

अथवा

'जाहि राम को कर्ता कहिये तिनहूँ को नहिं काल ने राखा'

वास्तव में कबीर के 'राम' अपनी निजी विशेषता लिये हुए हैं। उन्हें तो कभी-कभी निर्गुण भावना में भी स्थूल भावना का आभास मिलता है। इसीलिए वे राम को निर्गुण और सगुण दोनों से परे मानते हैं :

'अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं जब जग कीया कौन भला कौन मन्दा।'

वास्तव में कबीर की रचनाओं में भारतीय निर्गुण ब्रह्मवाद, सूफिया का रहस्यवाद, योगियों की साधना[2], अहिंसा आदि बातें होते हुए भी स्वामी-सेवक के सम्बन्ध की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का उल्लेख हो गया है। कबीर ने एकेश्वरवाद (अर्थात् ब्रह्म, जीव और जगत् की भिन्न सत्ता) के स्थान पर ब्रह्मवाद (अर्थात् शुद्ध, चैतन्य और

---

१. दे० श्री माताबदल जायसवाल : 'कबीर की भाषा' (१९६४), इलाहाबाद।

२. कबीर तथा कुछ अन्य सन्त कवियों ने योग सम्बन्धी विशिष्ट शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है। इस दृष्टि से जानने योग्य हैं—प्राणायाम, मेरुदण्ड (पीठ में), स्वयंभू लिंग (मेरुदण्ड जो सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में है) 'अग्निचक्र (जहाँ स्वयंभू लिंग त्रिकोण चक्र में अवस्थित है), कुंडलिनी (त्रिकोण या अग्निचक्र में स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति), मूलाधार चक्र (कुंडलिनी के ऊपर चार दलों का कमल), स्वाधिष्ठान चक्र (मू० च० के ऊपर नाभि के पास छः दलों का कमल), मणिपूर चक्र (स्वा० च० के ऊपर दस दलों का कमल), अनाहत चक्र (म० च० के ऊपर हृदय के पास बारह दलों का कमल), विशुद्धाख्य चक्र (अ० च० के ऊपर कण्ठ के पास सोलह दलों का कमल), आज्ञा चक्र (भ्रू-मध्य में दो दलों का कमल) और सहस्रार चक्र या शून्य (सबसे ऊपर जहाँ ब्रह्मा का निवास है। कुण्डलिनी इसी में मिलती है)। अनाहत चक्र में जीवात्मा का निवास माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब कुछ ब्रह्म है) का समर्थन किया। यह नाना रूपात्मक जगत् ब्रह्ममय है। जो पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है और उसी में वह लीन हो जाती है। माया दुःख का कारण है। वही विषय-वासनाओं का मूल कारण है। आत्मज्ञान द्वारा माया का बन्धन कट सकता है। कबीर ने निर्गुण भक्ति का आश्रय ग्रहण किया। किन्तु निर्गुण ब्रह्म शुष्क चिन्तन का विषय और दुर्बोध्य होने के कारण कबीर ने पारलौकिक और लौकिक दोनों प्रकार के प्रेम का उपदेश दिया। यह प्रेम व्यक्तिगत साधना से ही प्राप्त हो सकता है। सच तो यह है कि निर्गुण ब्रह्म इतनी सूक्ष्मता लिए हुए है कि लौकिक भाषा और भाव ग्रहण किए बिना उसे दूसरों को समझाया नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, कबीर की भगवान्-भावना में 'माधुर्यभाव' विद्यमान है :

'हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।'

यह 'राम की बहुरिया' प्रियतम से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की बाधाओं का अनुभव करती है और तीव्र विरह-वेदना से पीड़ित होती है। इसी प्रकार आत्म-भर्त्सना करते हुए वे इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं।

'जागु पियारी अब क्या सोवे।
रैन गई अब दिन काहे खोवे॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहुँ न पिय की सेज सँवारी।
तैं बौरी बौराहन कीन्हा, भर जोबन पिय अपने न चीन्हा॥
जागु देख पिय सेज न तेरे, तोहि छाँड़ उठि गये सवेरे।'
कह कबीर सोई धुन लागे, सब्द-बान उर अन्तर लागे।'

इसी अज्ञान को मिटाने के लिए उन्होंने आत्म ज्ञान का निर्देश दिया है, जो सतगुरु के उपदेश के बिना प्राप्त नहीं हो सकता :

'हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सतगुरु की कृपया भई सिर तें उतर्‌या बोझ॥'

कबीर ब्रह्म के जिज्ञासु हैं। वे चिंतन के क्षेत्र में ज्ञानी हैं, भावुकता और कल्पना अर्थात् कविता के क्षेत्र में रहस्यवादी हैं। उनमें अज्ञात सत्ता के प्रति जिज्ञासा है। उसका रहस्यवाद ब्रह्म-जिज्ञासा का फल है। वह सर्वात्ममूलक है। उन्हें संसार के प्रत्येक कण और व्यापार में प्रियतम का मधुर रूप ही अथवा अन्य लौकिक सम्बन्ध दिखाई देता है। उन्होंने सारी सृष्टि के साथ परमात्मा का अखण्ड सम्बन्ध देखा है। उनका प्रेम गूँगे का गुड़ है। सूफ़ियों की तरह उन्होंने ब्रह्मानन्द का प्रेमानन्द के रूप में वर्णन किया है और रहस्य-भावना उन्होंने अनेक लौकिक प्रतीकों, रूपकों और उलटबाँसियों द्वारा व्यक्त की है। ब्रह्म की भावना अनन्त सौन्दर्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप में की है। इसी प्रेम अवस्था में वे आत्म-समर्पण करते हैं। और प्रियतम में अपने को पूर्ण रूप से लीन कर देते हैं :

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान के क्षेत्र में यही 'प्रियतम' ब्रह्म के रूप में इस विविधरूपात्मक संसार के कण-कण में व्याप्त है। माया के कारण मनुष्य में भेद-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वह ज्ञान के कारण ही नष्ट हो सकती है जब माया का पर्दा उठ जाता तो घटाकाश की भाँति सर्वव्यापी ब्रह्म मिलकर एक हो जाता है। भीतर का ब्रह्म बाहर के ब्रह्म में समा जाता है।

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना यहु तत कथौ गियानी ॥'

यही कबीर का अद्वैत है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ज्ञानोपदेश, योग, सन्त-महिमा सत्य, नाम-महिमा, सत्पुरुष-निरूपण, भक्त की दिनचर्या, विनय, प्रार्थना, माया, गुरु-महिमा, स्वर-ज्ञान आदि विषय रखे हैं। साथ ही उन्होंने तीर्थ, पूजा, व्रत नमाज, रोजा, मूर्ति आदि की निन्दा की है। मूर्ति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है :

'पाहन पूजे हरि मिलें तो मैं पूजूँ पहार।

•

'माला तिलक लगाइ कै, भक्ति न आई हाथ।'

कबीर में अदम्य उत्साह और आत्म-विश्वास था उन्होंने केवल बाह्याचारों में फँसे रहनेवाले लोगों को खूब फटकारा। उनके व्यंग्यों से उनका महान् व्यक्तित्व साकार हो उठता है। वास्तव में वे पहुँचे हुए भक्त थे। किन्तु वह भावावेश में वह जानेवाले भक्त नहीं थे। उनका ज्ञान अत्यन्त सरल और व्यावहारिक ढङ्ग से वर्णित है। कबीर स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे। उनके ग्रन्थ उनके शिष्यों के हाथ से लिपिबद्ध किए गए मिलते हैं। इसलिए भाषा, ग्रंथ-संख्या आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है। कबीर का मूल और शुद्ध पाठ आज तक नहीं मिलता।[1] कबीर प्रधानतः उपदेशक और समाज-सुधारक थे। उनकी रचनाओं में काव्यशास्त्रीय सौन्दर्य तो नहीं मिलता, किन्तु उसमें सत्यान्वेषण, हृदय की सच्ची उमंग, प्रगाढ़, अनुभूति उक्ति-चमत्कार, व्यंग्य आदि विशेषतायें मिलती हैं। उनमें जहाँ कहीं काव्य सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे विरह के पदों में, वहाँ वह स्वयमेव आ गया है। कहना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उनमें काव्य कम, काव्यानुभूति अधिक हैं। सन्देश देना उनका प्रधान ध्येय था। वे स्पष्टवादी थे।

मुसलमानों के आने से भारतीय समाज में जब एक अभूतपूर्व परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उस समय कबीर ने एक समन्वयात्मक मध्यम मार्ग का सर्जन किया। उन्होंने दोनों धर्मों के ऐसे आडम्बरपूर्ण कृत्यों का विरोध किया, जो दोनों के बीच में बाधक-रूप थे। उन्होंने परम्परा-पालन और अंधविश्वास तथा अन्य अनेक कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ हटाने की चेष्टा की। वे निर्भय होकर सत्यानुमोदन करते थे। वे हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच की एक कड़ी थे। उन्होंने ऊँच-नीच की भेद-भावना

---

१. पाठ की दृष्टि से हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, के डॉ० पारसनाथ तिवारी द्वारा सम्पादित कबीर की रचनाओं का पाठ देखने योग्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हटाकर एकीकरण का साहस किया और वेद, कुरान आदि धार्मिक ग्रन्थों को महत्त्व न देकर धर्म के वास्तविक तत्त्व पर जोर दिया, क्योंकि इस वास्तविक तत्त्व के अन्तर्गत राम-रहीम में कोई भेद न था। इस प्रकार उन्होंने पाखण्ड, सामाजिक कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ, पारस्परिक कलह और विद्वेष हटाने का सफल प्रयत्न किया और ईश्वर की एकता पर जोर दिया। इस दृष्टि से कबीर का मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय में कबीर-पंथ की पुरानी दो शाखाएँ बनी हुई हैं—कबीरचौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढ़ वाली। स्वयं कबीर सम्प्रदाय-स्थापन के विरुद्ध थे।

उनकी रचनाओं से उद्धृत कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं :

'चल सतगुरु की हाट, ज्ञान बुद्धि लाइये।
कीजे साहिब से हेत, परम पद पाइये।
सतगुरु सब कछु दीन्ह, देत कछु न रह्यो।
हमहिं अभागिनी नारि, सुक्ख तजि दुख लह्यो।
गई पिया के महल, पिया संग ना रची।
हृदे कपट रह्यो छाय, मान लज्जा भरी॥'

'घूँघट का पट खोल रे, तो को पीव मिलैंगे ॥टेक॥
घट-घट में वोहि साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे
(तो को०) ॥१॥
धन जोबन का गर्व न कीजै, झूठा पचरंग चोल रे
(तो को०) ॥२॥
सुन्न महल में दिया ना बारिले, आसा से मत डोल रे
(तो को०) ॥३॥
जोग जुगत से रङ्गमहल में, प्रिय आये अनमोल रे
(तो को०) ॥४॥
कह कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे
(तो० को०) ॥५॥'

रेखता

'करत कलोल दरियाव के बीच में,
ब्रह्म की छोल में हंस झेलैं।
अर्ध और उर्ध की पेंग बाढ़ी तहाँ,
पलटि मन पवन को कँवल फूले॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बेद कत्तेब की गम्म नाहीं तहाँ,
कहैं कब्बीर कोई रमैं सूरा ॥२॥'

अन्य सन्त कवि

रामानन्द के बारह शिष्यों में रैदास भी माने जाते हैं, जो जाति के चमार थे। कबीर के समान वे भी काशी के निवासी बताए जाते हैं। वे भी निर्गुणी थे और परब्रह्म के व्यापकत्व में विश्वास रखते थे। रैदास की केवल स्फुट वाणी मिलती है, जिससे उनके भक्त-हृदय का परिचय मिलता है। उनकी वाणी में सरलता और स्पष्टता है। उनका प्रभाव फ़र्रुखाबाद, मिर्जापुर आदि में अधिक पाया जाता है। धर्मदास (१४१८-१५४३) कबीर के शिष्य और बाँधोगढ़ के निवासी थे। कबीर और धर्मदास की अनेक रचनाएँ परस्पर मिल गई हैं। उनका काव्य आध्यात्मिक संदेश और रहस्यवाद से पूर्ण है। गुरु नानक (१४६९-१५३९) सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक थे और लाहौर से तीस मील दूर तलवंडी गाँव के निवासी थे। वे आत्म-ज्ञानी थे और कबीर की भाँति एक ईश्वर, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के विश्वासी और मूर्तिपूजा तथा कर्मकांड-विरोधी थे। किन्तु उनकी वाणी में कबीर का-सा तीखापन नहीं है और न उनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति ही पाई जाती है। वैसे भी समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण उनके और कबीर के दृष्टिकोण में अन्तर होना स्वाभाविक था। उन्होंने त्याग, उदारता, धैर्य, क्षमा आदि मानवी गुणों के लिए प्रेरणा दी। उनके सच्चे उद्गार सिक्ख जाति में आत्म-शक्ति उत्पन्न करते हैं। भाषा भी उनकी सरल है। वे निरन्तर भगवान् के ध्यान में मस्त रहते थे। उनकी रचनाएँ, 'गुरु ग्रन्थ साहब' में मिलती है, जिनमें गेय पद, दोहाबद्ध साखियाँ, 'जपुजी', 'सोहिला' आदि हैं। तासी ने सिक्खों के गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह आदि कवियों की रचनाओं का भी उल्लेख किया है। इन गुरुओं की रचनाएँ भी 'गुरु ग्रन्थ साहब' में मिलती हैं। गुरु अर्जुनदेव ने ही 'आदि ग्रन्थ' का संपादन किया। गुरु गोविन्दसिंह की रचनाएँ पंजाबी की अपेक्षा ब्रज के अधिक निकट आ जाती हैं। गुरुओं की रचनाओं में सदाचार, ईश्वर-प्रेम, गुरु-महिमा, आत्म-समर्पण, चारित्र्य-बल आदि बातों पर जोर दिया गया है। साहित्य और साधना-क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। दादू (१५४४-१६०३) दादू-पंथ के चलानेवाले हैं। उनका जन्म गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में माना जाता है। उनकी प्रकाशित वाणियों के अतिरिक्त 'अंगबंधु', 'कायाबेलि' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। दादू के जीवन के सम्बन्ध में कबीर के जीवन की भाँति अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। मारवाड़, बीकानेर आदि के आस-पास उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। वहीं पर भराना नामक स्थान दादूपंथियों का प्रधान केन्द्र है। दादू भी निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने प्रेम भाव का अत्यन्त सरस निरूपण किया है। उनकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है और उनमें सहज स्वाभाविकता है। उनकी रचनाओं में न तो कठोर व्यंग पाए जाते हैं और न उनमें खण्डन-मण्डन वाला पक्ष दिखाई देता है। वैसे उनकी वाणी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में वही प्रसंग पाए जाते हैं, जो अन्य सन्त कवियों की वाणी में पाए जाते हैं। वे नम्र और शीलवान् थे। उनकी उक्तियाँ सीधी हैं। सन्त मत की व्याख्या में दादू अधिक सफल हुए। सुन्दरदास (१५९६-१६८९) दादू दयाल के शिष्य थे। उनके सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वे शिक्षित थे। अतः उनकी रचनाओं में परिमार्जन और काव्य-सौंदर्य और चमत्कार मिलता है। 'सुन्दर विलास' में उनके अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ संगृहीत हैं। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन पर भी दृष्टिपात किया। उनकी रचनाओं में शास्त्रानुकूलता मिलती है। दादू की शिष्य-परम्परा में अनेक सन्त हुए। उनके पोष्य पुत्र गरीबदास (१५७९-१६३६) भी उन्हीं के शिष्य थे। उनके सम्प्रदाय में रज्जब, जगन्नाथ और सुन्दरदास अत्यन्त प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सतनामी संप्रदाय के संस्थापक भी इसी संप्रदाय की परम्परा में थे। मलूकदास (१५७४) खत्री थे और उनका जन्म कड़ा, ज़िला इलाहाबाद में हुआ था। अन्य के अतिरिक्त, 'ज्ञानबोध' और 'रामलीला' उनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। 'ज्ञानबोध' में ज्ञान, भक्ति वैराग्य, प्रवृत्ति, निवृत्ति आदि का निरूपण हुआ है और 'रामलीला' में राम-चरित्र वर्णित है। अन्य सन्तों की भाँति उनकी रचनाओं में काव्य-सौंदर्य तो नहीं, भाव-सौंदर्य मिलता है। इन प्रसिद्ध सन्त-कवियों के अतिरिक्त सेना, पीपा, धना आदि सन्तों की स्फुट रचनाएँ 'गुरु ग्रंथ साहब' में मिलती हैं। अकबर के समय में बावरी साहिबा एक सन्त महिला भी हुईं।

सन्तों की परम्परा आगे भी बराबर चलती रही और समय-समय पर नए-नए पंथ निकलते रहे। कबीर की सन्त-परम्परा में प्रणामी सम्प्रदाय (पन्ना), चरणदासी संप्रदाय (१७३०, दिल्ली), सिवनारायणी संप्रदाय (१७३४), चंदावर (गाज़ीपुर), गरीबदासी संप्रदाय। (१७४०, रोहतक), रामसनेही संप्रदाय (रामचरण द्वारा स्थापित, १७५०) आदि स्थापित हुए। १७५० के लगभग लखनऊ और अयोध्या के बीच में कटवा नामक स्थान में जगजीवन ने सतनामी संप्रदाय का संगठन किया। तत्पश्चात् १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हाथरस के तुलसी साहब हुए और उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में दयालबाग़ (आगरा) के राधास्वामी सत्संग की स्थापना हुई। सन्त-परम्परा से रैदास, केशवदास, यारी साहब, पलटू साहब, भीखा साहब, सहजोबाई, दयाबाई, दूलनदास, शेख़ फ़रीद (नानक के समकालीन), अक्षर अनन्य, धरणीदास, गुलाब साहब, प्राणनाथ आदि अनेक संत-कवि हुए जिनकी वाणियाँ उपलब्ध हैं। इन संत-कवियों की विचार-परम्परा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं मिलता—वही सिद्धान्त-निरूपण और खण्डन-मण्डन जो कबीर में दृष्टिगोचर होता है। उनमें कोई निश्चित दार्शनिक परम्परा नहीं है, केवल सामान्य ज्ञान और भक्ति है। सन्त-साहित्य से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :

'आज दिवस लेऊँ बलिहारा।
मेरे गृह आया राम का प्यारा॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आँगन बँगला भवन भयो पावन ।
हरिजन बैठे हरिजस गावन ॥१॥
करूँ डंडवत चरन पखारूँ ।
तन मन धन उन ऊपरि वारूँ ॥२॥
कथा कहैं अरु अर्थ विचारैं ।
आप तरैं औरन को तारैं ॥३॥
कह रैदास मिलैं निज दास ।
जनम-जनम के काटैं पास ॥४॥' —रैदास

•

'सब कछु जीवत को ब्यौहार ।
माता पिता भाई सुत बाँधव, अरु पुनि गृह की नारि ॥१॥
तन से प्रान होत जब न्यारे, टेरत प्रेम पुकार ।
आँध घरी कोऊ नहिं राखै, घर ते देत निकार ॥२॥
मृग-तृस्ना ज्यों जग-रचना यह, देखो हृदे विचार ।
कहु नानक भजु राम-नाम नित, जा तें होत उधार ॥३॥

•

—ननक

'कागा रे करंक परि बोलै ।
खाई मांस अरु लगहीं डोलै ॥टेक॥
जा तन लौं रवि अधिक सँवारा ।
सो तन ले माटी में डारा ॥१॥
जा तन देखि मन में गरबाना ।
मिलि गया माटी तजि अभिमाना ॥२॥
दादू तन की कहा बड़ाई ।
निखम माहिं माटी मिलि जाई ॥३॥

•

—दादू

'गुरु बिन और न जान मान मेरो कहो ।
चरनदास उपदेश विचारत ही रहो ॥
बेद रूप गुरु होहिं, कि कथा सुनावहीं ।
पंडित को धरि रूप, कि अर्थ बतावहीं ॥
कल्पवृच्छ गुरुदेव, मनोरथ सब सरैं ।
कामधेनु गुरुदेव, छुधा तृस्ना हरैं ॥'

•

—चरणदास

'पानी का सा बुलबुला, यह तन ऐसा होय ।
पीव मिलन की ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
हरिये ना पड़ि सोई, बहुरि नहिं मनुखा देही ।
आपन ही कूँ खोजु, मिलै तब राम सनेही ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरि कूं भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार।
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरैगो करतार॥'

—सहजोबाई

सन्त-साहित्य की विशेषताएँ

सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने-अपने मत से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदायों की रचनाएँ तो अनेक मिलती हैं, किन्तु उनमें साहित्यिकता का अभाव है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सन्त-मत का प्रचार निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों में ही अधिक रहा। और उन्होंने यदि, एक ओर गुरु, भक्ति, साधु-सङ्ग, दया, क्षमा, संतोष आदि का उपदेश दिया है, तो दूसरी ओर कपट, माया, तृष्णा, कामिनी, कांचन, तीर्थ, व्रत, मांसाहार, मूर्तिपूजा आदि का खण्डन किया है। सन्त कवियों में प्रेम की भावना प्रधान है और वे ईश्वर से विविध लौकिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से वे शुद्ध निर्गुणवादी सिद्ध नहीं होते। वास्तव में संत-मत ध्यान सम्प्रदाय और सिद्ध-नाथ पंथ का ही एक विकसित रूप माना जा सकता है। उसके निर्माण में दो संस्कृतियों और दो धार्मिक प्रवृत्तियों (इस्लामी और भारतीय) का हाथ है। संत-साहित्य में पुनरावृत्ति अधिक और मौलिकता कम है। किन्तु तब भी वह मध्य युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है—ऐसी विचारधारा जिसका सीधा सम्बन्ध जन-जीवन से है और जैसा कि पीछे उल्लेख हो चुका है, ईसा की अठारहवीं शताब्दी में अनेक सन्त-संप्रदायों का जन्म हुआ। महान् सन्त कबीर की इच्छा के यह विरुद्ध था। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न सम्प्रदायों में सत्य के स्थान पर पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी, साधना के स्थान पर बाह्याचार रह गए और अनुभूति के स्थान पर शब्दाडंबर। इस काल के साहित्य में पुरानी पिटी-पिटाई शब्दावली ही मिलती है। उसमें साहित्यिकता का अभाव है। वास्तव में यह सम्प्रदाय कालांतर में रूढ़िबद्ध और कर्मकाण्डग्रस्त हो गया, विशेष रूप से जब कि सन्त-संप्रदाय में अशिक्षितों की संख्या ही अधिक है।

प्रेम-काव्य

जिस समय भारतवर्ष में मुसलमानी शासन स्थापित हुआ था, उसी समय देश में धार्मिक संघर्ष छिड़ गया था। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब कि हिन्दुओं को इस्लाम या मृत्यु इन दो में से एक को चुनने का अवसर दिया जाता था। किन्तु साथ ही ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं था, जो दोनों धर्मावलंबियों में सौहार्द्र भाव उत्पन्न करने की आकांक्षा रखते थे। शेरशाह हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णुता और उदारता का भाव रखता था। अनेक साधारण मुसलमान ऐसे थे, जो एक ओर तो सूफ़ी धर्म की प्रचार-भावना में विश्वास रखते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म के आदर्शों को सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम-काव्य प्रेमाख्यानक काव्य की रचना का मूलाधार यही भावना है।

लोक-प्रचलित और ऐतिहासिक, कल्पित एवं अर्द्ध-कल्पित कथाओं के आधार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर प्रेम-ग्रन्थों का निर्माण करने की परम्परा देश में बहुत समय से चली आ रही थी। ऐसे ग्रन्थ लोकप्रिय भी होते थे। जैसा कि पिछले एक अध्याय में दिखाया जा चुका है, प्राकृत और अपभ्रंश में ऐसी कथाएँ प्रचलित थीं।

भारतवर्ष में सूफ़ी मत का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आविर्भाव-काल से माना जाता है। उनके बाद पन्द्रहवीं शताब्दी तक कई और सूफ़ी सम्प्रदाय स्थापित हुए। सूफ़ी लोग अपने सरल-साधारण जीवन और उच्च आध्यात्मिक विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। सूफ़ी कवियों ने लोक-प्रचलित कथानक लेकर अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यंजना की। उनकी कथाएँ आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में रहती हैं। सभी सूफ़ी कवियों ने पुरुष के उत्कट प्रेम और प्रियतमा को प्राप्त करने की साधना का उल्लेख किया है। प्रेम (इशक) के समान संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं। उसी के द्वारा सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है। उसका अन्त सुखद और आनन्दमय होता है। वह मनुष्य को अमरत्व प्रदान करता है। किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुन्दर है, उतना ही कण्टकाकीर्ण भी। प्रेमी साधक मार्ग के कंटकों की चिन्ता न करते हुए अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है। उसे अपने हित-अनहित की भी चिन्ता नहीं रहती। प्रेम मदिरा के समान है। जिसने उसे पी लिया, वह मतवाला हुआ, संसार को तुच्छ समझता है। वह अपने आपको खो देता है। समुद्र में बूँद की भाँति वह अपने अस्तित्व को मिटाने में ही आनन्द प्राप्त करता है। यह प्रेम ही नित्य और आनन्दप्रद है। इससे एकनिष्ठा उत्पन्न होती है और प्रेमी प्रेमास्पद का ही होकर रह जाता है। वह पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है। सूफ़ी मत के अनुसार जीवात्मा प्रीति की रीति में बँधकर ही विरह-व्यथा से पीड़ित होती है और यह व्यथा समस्त ब्रह्मांड पर अपना प्रभाव छोड़ती है। इस प्रेम के लिए साधक को अन्तर्जगत के साधने की आवश्यकता पड़ती है। फलतः प्रेम-मार्ग में बाह्य शारीरिक पक्ष गौण और आन्तरिक पक्ष प्रधान है। उसका अन्तिम लक्ष्य आत्म-दर्शन है। इसीलिए सूफ़ी कवियों ने प्रेम को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। सूफ़ी कवियों के अनुसार ईश्वर एक है जिसे हक़ कहते हैं। उसमें और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। उनमें अद्वैत भावना है। आत्मा या बन्दा इश्क़ के सूत्र से हक़ तक पहुँचता है। अन्तिम दशा मारिफ़त में पूर्ण सम्मिलन के बाद बन्दा फ़ना होकर 'बक़ा' के लिए प्रस्तुत होता है। निःस्वार्थ, निष्काम प्रेम ही सब कुछ है। प्रेम के नशे ही में ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है और शैतान साधक को निर्दिष्ट मार्ग से विचलित करने का प्रयास करता है। शैतान से बचने के लिए पीर (गुरु) की आवश्यकता होती है। इन्हीं व्यापक सिद्धान्तों को लेकर प्रेम-काव्य चला है। इन्हीं सिद्धान्तों पर जायसी तथा अन्य सूफ़ी कवियों का रहस्यवाद आधारित है। प्रिय के समागम के लिए उनकी प्रकृति भी उतनी ही व्याकुल और उत्कंठित पाई जाती है। सभी सूफ़ी कवियों ने अवधी भाषा और दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग कर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है। कथा-शैली भी सबमें समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाई जाती है—स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या शुक-सारिका द्वारा प्रियतमा का रूप-वर्णन, मिलने के लिए उत्सुकता, मार्ग की कठिनाइयाँ आदि। इन ग्रन्थों में मधुर भाव का अनुसरण करते हुए पुरुष भक्ति का प्रतीक है और ईश्वर की भावना स्त्री रूप में है।

सूफ़ी-काव्य-परम्परा

आदि काल के लगभग अन्त में मुल्ला दाऊद ने 'चंदायन' नामक प्रेम-काव्य की रचना की थी। वह अलाउद्दीन खिलजी का शासन-काल था। हो सकता है 'चंदायन' के बाद और भी प्रेम-गाथाएँ लिखी गई हों, किन्तु इस समय वह उपलब्ध नहीं हैं। स्वयं जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' में अपने से पूर्व की परम्परा का उल्लेख करते हुए 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'खंडरावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती' नामक ग्रंथ गिनाए हैं। 'मृगावती' और 'मधुमालती' तो मिली भी हैं और प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त दामो कृत 'लक्ष्मणसेन-पद्मावती' नामक ग्रंथ भी मिलता है जो १४५९ का है।

'मृगावती' शेख बहादुर के शिष्य कुतुबन की रचना है और उसका रचनाकाल १५०१ है। इस ग्रंथ में कंचनपुर की राजकुमारी मृगावती और चंद्रगिरि के राजकुमार का प्रेम-वर्णन है। भाषा अवधी है और दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। ग्रंथ में कोई साहित्यिक सौन्दर्य नहीं है।

'मधुमालती' मंझन की रचना है। 'मृगावती' की अपेक्षा उसमें कहीं अधिक भावात्मक सौन्दर्य है। उसमें कनेसर के राजपुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती का प्रेम-वर्णन है। भाषा और शैली 'मृगावती' जैसी है कवि ने प्रेम के वर्णन में विरह को अधिक स्थान दिया है।

जायसी

प्रेम-काव्य-धारा के सर्वप्रथम कवि अब मुल्ला दाऊद ('चंदायन') माने जाते हैं किन्तु इस काव्य-धारा के श्रेष्ठ और प्रमुख कवि जायसी हैं। अवध में जायस नामक स्थान से सम्बन्धित होने के कारण वे 'जायसी' कहलाए। वे प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त थे और चिश्तिया निज़ामिया की शिष्य-परम्परा में सैयद मुहीउद्दीन के शिष्य थे। पहले वे शेरशाह के आश्रय में रहे, फिर गाज़ीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव के आश्रय में, और अन्त में अमेठी-नरेश के आश्रय में रहे। जायसी के आशीर्वाद से अमेठी-नरेश के पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उससे वे उन्हें बहुत मानते थे। वे शारीरिक सौन्दर्य से नितान्त विहीन थे। उनकी मृत्यु १५४२ (९४९ हिजरी) के लगभग अमेठी में हुई।

जायसी के 'पद्मावत' तक आते-आते हिन्दी प्रेम-काव्य-परम्परा काफ़ी प्रौढ़ हो गई प्रतीत होती है। जायसी ने सूफ़ी सिद्धान्तों को भारतीय कथा में पिरोया और हिन्दू-हृदय को आकर्षित किया अब तक के सूफ़ी कवियों की रचनाएँ केवल कल्पना पर आधारित थीं। जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश भी किया। चित्तौड़ के साथ अलाउद्दीन का संघर्ष होने के कारण 'पद्मावत' का यथेष्ट प्रचार हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'पद्मावत'[1]

'पद्मावत की रचना ९२७ हिजरी (१५२० के लगभग) में प्रारम्भ हुई थी और सम्भवतः १९ या २० वर्ष पश्चात् शेरशाह के शासन-काल (९४७ हिजरी या १५४० के लगभग) में वह पूर्ण हुआ। 'पद्मावत' के अतिरिक्त जायसी की 'अखरावट' 'आखिरी कलाम' (९३६ हिजरी, १५२९ के लगभग) 'मसलानामा' आदि अन्य रचनाएँ भी हैं। 'अखरावट' में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सूफ़ी सिद्धान्त के सम्बन्धी बातें चौपाइयों में कहीं गई हैं। उसमें जायसी ने ईश्वर, सृष्टि, जीव आदि सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं। 'आखिरी कलाम' में क़यामत का वर्णन किया गया है। ये सब ग्रन्थ छोटे-छोटे हैं। किन्तु जायसी की कीर्ति का प्रधान आधार 'प्रेम की पीर, से भरा हुआ 'पद्मावत' ग्रन्थ ही है।

भारतीय साहित्य में पद्मावती को लेकर काव्य-रचना की एक निश्चित परंपरा मिलती है। संस्कृत, अपभ्रंश और गुजराती साहित्य में पद्मावती की कथा प्रचलित थी। इसी लोकप्रिय कथा को लेकर जायसी ने रचना की। पद्मावत में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। हीरामन सूए के द्वारा संसार की अनिंद्य सुन्दरी पद्मावती के सौन्दर्य, रत्नसेन की रानी नागमती की ईर्ष्या, राजा की सूए बिना व्याकुलता, सूए के साथ जोगी के वेश में रत्नसेन का घर से निकल पड़ना, मार्ग की अनेकानेक कठिनाइयाँ सहन करते हुए पद्मावती और रतनसेन का विवाह, राघव चेतन को लेकर रत्नसेन और अलाउद्दीन में संघर्ष, अन्त में रत्नसेन की मृत्यु और नागमती तथा पद्मावती दोनों रानियों के शव के साथ जल जाने आदि का कवि ने अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। जायसी ने सादृश्यक-मूलक अलंकारों का प्रयोग द्वारा पद्मावती के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिसके पढ़ने मात्र से माधुर्य की सृष्टि होती है और कवि बराबर सांकेतिक शब्दावली द्वारा परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करता जाता है। सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। विवाह तक की कथा (पूर्वार्द्ध) पूर्ण रूप से काल्पनिक है। अलाउद्दीन के साथ संघर्ष (उत्तरार्द्ध) का आधार इतिहास है। कथा के लोक-पक्ष और अध्यात्म-पक्ष दोनों हैं। लोक-पक्ष में वह एक सुन्दर प्रेम-कथा है। अध्यात्म-पक्ष की दृष्टि राजा रत्नसेन भक्त है, रानी पद्मावती ईश्वर है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह घर-बार छोड़कर अनेक कष्ट सहन करता हुआ निकल पड़ता है। हीरामन तोता गुरु है। इस प्रकार अध्यात्म-पक्ष लेकर कवि ने उसका सुन्दर विकास किया है। 'पद्मावत' के इस अध्यात्म रूप की ओर कवि ने इस प्रकार संकेत दिया है :—

---

१. जायसी के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का रूपान्तर बंगाली कवि अलाओल (या अलाउल, १७वीं शताब्दी) ने आज से लगभग ३०० वर्ष पूर्व बँगला में 'पद्मावती' नाम से किया। यह ग्रन्थ क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, द्वारा प्रकाशित (१९६२) हो चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'मैं एहि अरथ-पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घर माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेहि पंथ देखावा। दिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि॥'

कथा में अनुभूति प्रधान है। अध्यात्म-पक्ष के कारण कथा-संगठन को कहीं-कहीं आघात पहुँचा है और उसमें अस्वाभाविकता आ गई है। किन्तु कुतूहल और रसात्मकता में किसी प्रकार कमी नहीं होने पाई। प्रधान कथा रत्नसेन-पद्मावती की है। कथा घटना-प्रधान है, न कि चरित्र-प्रधान।

ग्रन्थ की भाषा बोलचाल की अवधी है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की भाषा भी अवधी है, किन्तु वह साहित्यिक अवधी है। जायसी की भाषा में कहावतें और मुहावरे भी कहीं-कहीं मिलते हैं, किन्तु वे अत्यन्त स्वाभाविक रूप में आए हैं। उनकी वाक्य-रचना यद्यपि स्वच्छ है, किन्तु तुलसी की भाँति व्यवस्थित नहीं है। शब्दों का अंग-भंग नहीं किया। उन्होंने अधिकतर दो पदों के समासों का प्रयोग किया है और वह भी फ़ारसी के ढंग पर जैसे, 'किरिन-रवि' (न कि 'रवि-किरिन)। वैसे जायसी की भाषा पर फ़ारसी का प्रभाव कम ही दिखाई देता है। वह पूर्णतः देशी साँचे में ढली हुई है। उसमें स्वाभाविक माधुर्य और अनूठापन है।

कवि ने दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों की कथाओं से अलग एक प्रेम-कहानी प्रस्तुत करने में जायसी को अपनी विशेषता है। उससे उनकी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय प्राप्त होता है।

जायसी की विशेषताएँ

जायसी ने जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय कथा के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अभिव्यंजना की और सूफ़ी-सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत की। रत्नसेन और पद्मावती के घोर शृङ्गार-वर्णन से आध्यात्मिकता को आघात पहुँचता है। वास्तव में किसी एक घटना का अन्त होने पर उन्हें तुरन्त आध्यात्मिकता याद आ जाती है। उनका अध्यात्मवाद समान रूप से सम्पूर्ण कथा में घटित नहीं होने पाया। कबीर और जायसी के दृष्टिकोण में समानता होते हुए भी उनके व्यावहारिक रूप में अन्तर है। दोनों ही धर्म का भेद-भाव भुलाकर प्रेम की स्थापना करना चाहते थे, दोनों में रहस्यवाद और सूफ़ी मत का प्रभाव पाया जाता है, और दोनों ही संसार के प्रत्येक कार्य या वस्तु में परोक्ष सत्ता का अनुभव करते थे। किन्तु कबीर अपना कार्य अन्य मतों का खंडन कर करते थे। जायसी ने न तो अन्य मतों की आलोचना की और न तीर्थ, व्रत, रोजा-नमाज आदि की निन्दा की। उन्होंने सब धर्मों को समान दृष्टि से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखा और कबीर की भाँति लोक-व्यवस्था का तिरस्कार नहीं किया। कबीर ने वेदों तथा अन्य शास्त्रों का खण्डन किया था, किन्तु जायसी का कथन है :

'विधना के मारग हैं जेते। सरग नखत तन रोआँ जेते।'

तो भी जायसी ने अपने मुसलमान-रूप का बिल्कुल परित्याग नहीं कर दिया था :

'सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा.....'

●

'वह मारग जो पावै सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होई अनतहि तेहि लूटा बटमार॥'

'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तीनों ग्रन्थों में उनका यह रूप मिलता है। कबीर की भाँति उन्होंने बिल्कुल ही स्वतन्त्र पथ का अनुसरण नहीं किया था।

जायसी ने 'पद्मावत' की रचना फ़ारसी मसनवी-शैली पर की है—कथा का खंडों में विभाजन, कथा-प्रारम्भ के पूर्व ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद आदि पैग़म्बरों और तत्कालीन शासक शेरशाह की वंदना, आत्म-परिचय, छोटी-छोटी बातों का विस्तृत वर्णन, विरह-वर्णन में वीभत्सता आदि बातें मसनवी-शैली से अपनाई गई हैं। साथ ही उन्होंने षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, रस, अलंकार आदि की दृष्टि से और चरित्र-चित्रण में आदर्श की दृष्टि से भारतीय परम्परा का अनुसरण किया है।

किन्तु प्राकृतिक दृश्यों का जायसी ने स्वतन्त्र वर्णन नहीं किया। मानवी भावनाओं से जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, वहीं तक उनका ध्यान प्राकृतिक दृश्यों की ओर जाता है। कष्ट और भय के विचार से ही उन्होंने अमराइयों का वर्णन किया है :

'करहुँ दीठि थिर होइ बटाऊ। आगे देखि धरहु भुंइ पाऊ॥
जोरे उबट होइ परे भुलाने। गए मारि, पथ चलै न जाने॥
पायँन पहिरि लेहु सब पौंरी। कांट धँसै न गड़ै अँकरौंरी॥
परे आइ बन परबत माहाँ। दंडाकरन बोझ बन जाहाँ॥
सघन ढाक-बन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख पाव उहाँ कर भूला॥
झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पंथा। हिलगि मकोंय न फारहु कंथा॥'

षट्ऋतु, बारहमासा आदि का वर्णन भी उद्दीपन मात्र की दृष्टि से हुआ है। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की उसमें झलक मात्र मिलती है। वियोग के अन्तर्गत एक वर्णन देखिए।

'अद्रा लाग, लागि भुइँ लेई।
मोहिं बिन पिउ को आदर देई?॥
सावन बरस मेह अति पानी।
धरनि परी, हौं बिरह भुरानी॥
भा परगास कांस बन फूले।
कंत न फिरे, बिदेसहि भूले॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कातिक सरद चंद उजियारी
जग सीतल, हौं बिरहै जारी ॥
टप-टप बूंद परहि, औ ओला।
बिरह पवन होइ मारै झोला ॥
तरिवर झरहिं, झरहिं बन ढाखा।
भई ओनन्त फूलि फरि साखा ॥
बौरे आम फरै अब लागे।
अबहुँ आउ घर, कंत सभागे ॥'

किन्तु कहीं-कहीं कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय भी दिया है :

'चमक बीजु, बरसै जल सोना।
दादुर मोर सबद सुठि लोना ॥'

अथवा, बैसाख के एक रूपक-वर्णन में भी यही सौन्दर्य मिलता है :

'सरवर हिया घटत निति जाई।
टूक-टूक होइ कै बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु, पिउ ! टेका।
दीठि-दवँगरा मेरवहु एका ॥'

जायसी ने विविध प्रकार की वस्तुओं, रूप-सौंदर्य, युद्ध-यात्रा आदि के वर्णन में भी अपनी प्रतिभा प्रकट की है। उदाहरणार्थ, पद्मावती का सौन्दर्य अलौकिक और दिव्य है। उसमें सृष्टि-व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना पाई जाती है :

'बेनी छोरि झार जौ बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा ॥'

पद्मावती के शुभ्र हास का प्रभाव सरोवर के बीच अनेक रूप धारण कर विकीर्ण होता है :

'बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा।
भइ तहँ ओप जहाँ जा देखा ॥
पावा रूप, रूप जस चहा।
ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा ॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर ॥'

उनके पात्र सत् और असत् दो प्रकार के हैं। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, नागमती-पद्मावती नारीत्व का आदर्श है, गोरा-बादल आदर्श वीर हैं और अलाउद्दीन, राघव चेतन आदि तामसी पात्र हैं। कवि ने अन्त में पुण्य की विजय दिखाई है। रानियों के सती होने से कथा दुःखान्त कही जा सकती है, किन्तु सूफ़ीमत के अनुसार मरण के बाद ही प्रियतम से वास्तविक मिलन होता है।

जायसी की रचना के उदाहरण-रूप में पद्मावती की माँग का वर्णन इस प्रकार है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं ॥
बिन सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैन महँ कीआ ॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी ॥
सुरुज-किरिन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी ॥
खाँड़ै धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ बेनी पर धरा ॥
तेहि पर पूरि धरे जो मोती। जमुना माँझ गंग कै सोती ॥
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सिंदूरू ॥
कनक दुवादस बानि होइ चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत सब उवै गगन जस गाँग ॥'

जायसी के बाद प्रेम-काव्य-परम्परा

जायसी के बाद हिन्दी प्रेम-काव्य-परम्परा में उसमान, शेख नबी, कासिमशाह और नूर मुहम्मद के नाम उल्लेखनीय है। उसमान ने 'चित्रावली' (१६१३) की रचना की जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजान कुमार और चित्रावली का प्रेम और विवाह-वर्णन है। उसमें आध्यात्मिकता, नीति, भूगोल आदि का उल्लेख है। शेष नबी (१६१९) की रचना का नाम 'इमन दीप' है। कासिमशाह (१७३१ के लगभग) दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और 'हंस जवाहिर' कथा में उन्होंने राजा हंस और रानी जवाहिर की कथा का वर्णन किया है। नूर मुहम्मद बादशाह मुहम्मद शाह के समकालीन और जौनपुर जिले के रहनेवाले थे। उनके 'इन्द्रावती' (१७४४) और 'अनुराग बाँसुरी' (१७६४) नामक दो ग्रंथ हैं। 'इन्द्रावती' में कालिंजर के 'राजकुँवर' और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी है 'अनुराग बाँसुरी' में कवि ने जीवात्मा और मनोवृत्तियों को लेकर एक रूपक खड़ा किया है। इस ग्रन्थ की भाषा काफ़ी संस्कृतगर्भित है और चौपाई तथा बरवै छन्दों का प्रयोग हुआ है। इन्होंने तथा इस परम्परा के अन्य कवियों ने जनता की अवधी का और फ़ारसी अक्षरों का व्यवहार किया।

प्रेम-काव्य से कुछ अन्य उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं :

'ऋतु बसन्त नौतन बन फूला। जहँ-तहँ भौंर कुसुम रंग भूला ॥
आहि कहाँ सो भवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसन्त उजारा ॥
रात बरन पुनि देखि न आई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई ॥
रतिपति-दुरद ऋतु पती बली। कानन-देह आई दलमली ॥

—उसमान : 'चित्रावली'

'मुहम्मद शाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि केर बखानू ॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजू। नावहिं सीस जगत के राजू ॥
रूपवंत दरसन मुँह राता। भागवन्त ओहि कीन्ह विधाता ॥
दरबवन्त धरम महँ पूरा। ज्ञानवन्त खड़ग महँ सूरा ॥'

—कासिमशाह : 'हंस जवाहिर'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ ॥
मन इसलाम मिस्किलै माँजेउँ। दीन जेंवरी करकस भाजेउँ ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावनहारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। अच्छा असुर सुर काज न आवै ॥'

—नूर मुहम्मद : 'अनुराग बाँसुरी'

प्रेम-काव्य की सामान्य विशेषताएँ

सूफ़ी प्रेम-काव्य की परम्परा में अधिकतर मुसलमान कवि ही हुए। केवल पुहकर, काशीराम, प्रेमचन्द, मृगेन्द्र आदि कुछ हिन्दू कवियों के नाम मिले हैं। किन्तु उनकी रचनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वास्तव में यह परम्परा भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के सम्मिलन का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। इन कवियों ने हिन्दू धर्म की निन्दा नहीं की। वर्णनात्मक काव्य के लिए दोहा-चौपाई वाली शैली इन्हीं सूफ़ी कवियों ने प्रचलित की, जो गोस्वामी तुलसीदास द्वारा भी गृहीत हुई। यद्यपि उन सब पर फ़ारसी की मसनवी-शैली का प्रभाव है, किन्तु वे भारतीय प्रभाव से बच नहीं सके। आख्यायिका साहित्य का विकास करने में सूफ़ी कवि अग्रगण्य हैं। उनकी परम्परा उतनी ही लोकप्रिय सिद्ध हुई जितनी सन्त-परम्परा। धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व से पूर्ण सूफ़ी काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थान में 'वात' कही जानेवाली अनेक विशुद्ध लौकिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक कथाएँ भी लिखी गईं, जिनका उल्लेख श्री मोतीलाल मैनारिया ने 'राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' में किया है। ये रचनाएँ १७वीं-१८वीं शताब्दी की हैं और जिनके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

राम-काव्य

सोलहवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग उपस्थित करती है। इसी युग में तुलसी, सूर, केशव आदि हुए और उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा मध्ययुगीन साहित्य का चौमुखी विकास उपस्थित किया।

यह पहले कहा जा चुका है कि शंकर ने अद्वैत मत का निरूपण किया था। सैद्धान्तिक दृष्टि से आकर्षक होने पर भी, व्यावहारिक रूप में अद्वैत मत अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका। इस बात की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है कि शांकर अद्वैत के आधार पर रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया और भक्ति का मार्ग सुगम बनाया। इस भक्तिमार्ग ने जनता को अधिक आकृष्ट किया और विष्णु या नारायण की उपासना-पद्धति प्रचलित हुई। आगे चलकर रामानन्द (रामानुज से १४ पीढ़ी बाद) ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानुज की अनेक बातें ग्रहण करते हुए भी विष्णु के स्थान पर उनके अवतार राम का लोकरंजनकारी रूप प्रचलित किया। उन्होंने एक सबल सम्प्रदाय की स्थापना की और उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को सगुण भक्ति का अधिकारी बताया। उन्हें शास्त्र की सभी मर्यादाएँ मान्य थीं, किन्तु उपासना के क्षेत्र में वे कोई भेद-भाव उपस्थित करना न चाहते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थे। रामानन्द के शिष्यों में कबीर, सेन, पीपा, धना आदि विभिन्न वर्णों के व्यक्ति पाए जाते हैं। निर्गुण-मार्गी और सगुण-मार्गी दोनों ने उनसे राम-नाम का मन्त्र ग्रहण किया।

तुलसीदास

राम-भक्ति का प्रचार रामानन्द और उनकी लम्बी शिष्य-परंपरा द्वारा तो हो ही रहा था, किन्तु उसका पूर्ण विकास गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के माध्यम द्वारा हुआ। कबीर ने भी रामनाम का प्रयोग किया था, किन्तु सन्त-मत ने राम-नाम के रूप को एक भिन्न ढङ्ग से स्थापित किया। राम-साहित्य के प्रधान कवि तुलसी-दास हैं, जो एक महान् लोकनायक और धर्मात्मा थे। देशी-विदेशी सभी विद्वानों ने उनकी महत्ता स्वीकार की है। अभी तक दोहा-चौपाइयों में राम-कथा कहने वाले सर्वप्रथम कवि तुलसीदास ही माने जाते थे। किन्तु हाल की खोजों से सातवीं शताब्दी के चतुर्भुज स्वयंभू और १२८५ के भूपति कवि द्वारा रचित राम-कथाओं की सूचना प्राप्त हुई है। तुलसी से पहले भगवतदास और चन्द नामक दो कवियों के नाम मिलते हैं, जो तुलसी की काव्य-परंपरा से संबद्ध किए जा सकते हैं। कहा जाता है कि स्वयं तुलसी के समय में मुनिलाल कवि ने १५८५ में रीतिशास्त्र की प्रणाली के अनुसार 'रामप्रकाश' ग्रन्थ की रचना की जो, रीति-परंपरा में गिना जाता है। किन्तु हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप, लोक-शिक्षा और आदर्श की कल्पना तुलसी ने ही की।

तुलसीदास की जीवनी

तुलसीदास का जीवन अभी पूर्णतः प्रामाणिक रूप से हमारे सामने नहीं आ पाया। उनके जीवन-चरित्र के दो प्रधान आधार हैं—(१) अन्तःसाक्ष्य, अर्थात् जिन बातों का उल्लेख स्वयं उन्होंने किया है और, (२) बाह्य साक्ष्य, अर्थात् जिन बातों का उल्लेख उन केपरवर्ती कवियों और लेखकों ने किया है।

अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस', 'विनयपत्रिका', 'बरवै रामायण', 'कवितावली', 'दोहावली' और 'पार्वती मङ्गल' नामक ग्रन्थ सहायक हैं। उन सबके आधार पर तुलसीदास का जीवन संक्षेप में इस प्रकार है :

तुलसी की माता का नाम हुलसी था और वे उच्च जाति में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म का नाम रामबोला था, बाद को तुलसीदास नाम हुआ। तुलसीदास ने 'कवितावली' में कहा है :

'मातु पिता जग जाई तज्यो,
विधिहू न लिख्यो कुछ भाल भलाई।

इसी प्रकार 'विनयपत्रिका' में भी उनका कथन है :

'जनक जननि तज्यो जनमि,
करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे॥'

अथवा,

'तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों,
तज्यो मातु पिता हू'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इससे यह प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी के माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था। अथवा बाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था और उन्हें रोटियों के लिए तरसना पड़ा था। भिक्षा माँगकर वे जीवन व्यतीत करते थे, क्योंकि 'कवितावली' में निम्नलिखित पंक्तियाँ आई हैं :

'बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत सो चारि फल चारि ही चनक कों।'

इस आत्मग्लानि के कारण उन्होंने अपने को मंगन-कुल का कहा है। 'कवितावली' के एक छन्द में उन्होंने लिखा है :

'जायौ कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।'

उनके गुरु 'नरहरि' थे और उनसे उन्होंने सूकर क्षेत्र (सोरों) में राम-कथा सुनी थी :

'बदौं गुरु-पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
'महा-मोह-तम-पुंज जासु बचन रवि-कर-निकर'॥
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥'

—मानस

किन्तु 'नररूप हरि' का अर्थ उनके गुरु का नाम 'नरहरि' लगाना सर्वमान्य नहीं है। कुछ विद्वान् उसका अर्थ केवल 'नर रूप में नारायण' लगाते हैं।

तुलसी का विवाह हुआ था, किन्तु सम्भवतः कोई सन्तान नहीं थी! उन्होंने अपने वैराग्य से पूर्व की कथा का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने चित्रकूट, काशी, वरिपुर, दिगपुर, अयोध्या आदि स्थानों का पर्यटन किया था। उनकी वृद्धावस्था अत्यन्त कष्ट के साथ व्यतीत हुई और उस समय उनकी बाहु में बड़ी पीड़ा हुई। बाहु की पीड़ा के शमन के लिए उन्होंने शिव, पार्वती, राम और हनुमान की स्तुति की। अपने जीवन की परिस्थिति से तुलसी को बड़ा असन्तोष था। उनके समय का राजनीतिक वातावरण भी ठीक नहीं था—किसान खेती में मन नहीं लगाता था, जीविका कठिनाई से प्राप्त होती थी, चारों ओर पाखण्ड फैला था आदि। काशी में उस समय महामारी (सं० १६७३-८०) का प्रकोप फैला हुआ था :

'संकर सहर सर नर नारि बारिचर
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात
भभरि भगात जल-थल मीचमई है॥'

—कवितावली : उत्तरकाण्ड, १७६

उन्हें अपने जीवन में काफ़ी यश प्राप्त हुआ :

'राम नाम को प्रभाउ पाउँ महिमा प्रताप।
तुलसी के जग मानियत महा मुनि सो॥'

—कवितावली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु इतना होने पर भी उन्होंने नम्रता न छोड़ी। वे अपने को पापी ही समझते रहे। महाप्रयाण के समय उन्हें क्षेमकरी पक्षी के दर्शन हुए थे। तुलसीदास ने अपनी जन्म-तिथि का कोई उल्लेख नहीं किया। हाँ, उन्होंने रुद्रबीसी (१६५६ वि०—१६७६ वि०) और मीन की सनीचरी (चैत्र-शुक्ला २, सं० १६६९ से ज्येष्ट, सं० १६७१ तक) का अवश्य उल्लेख किया है। अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने संवत् १६३१ 'मानस' की तिथि, जय संवत् १६४३ 'पार्वती मङ्गल' की तिथि और संवत् १६५६-१६८० के बीच 'कवितावली' की रचना का संकेत दिया है। (महामारी, रुद्रबीसी और मीन के शनि के आधार पर)। संवत् १६४२ में उनकी 'सतसई' का निर्माण हुआ।

वास्तव में तुलसी के ग्रन्थों से उनके व्यक्तित्व पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। वे अत्यधिक शीलवान् व्यक्ति थे और अपने इष्टदेव में अगाध विश्वास रखते थे। उनमें उनकी एकनिष्ठ भक्ति थी। अपने इष्टदेव का सौन्दर्य-वर्णन करते समय वे भाव-विभोर हो जाते हैं।

बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत उनके परवर्ती लेखकों ने उनके जीवन पर प्रकाश डाला है। किन्तु उन्होंने या तो तुलसी के काव्य की या भक्ति की प्रशंसा ही अधिक की है। कवि के व्यक्तित्व और जीवन पर सम्यक् विचार नहीं हुआ। ऐसे ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ मुख्य हैं :

१. 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—गोकुलनाथ कृत, १५६८।
२. 'भक्तमाल'—नाभादास कृत, १५८५।
३. 'गोसाईं चरित'—बेणीमाधवदास कृत, १६३०।
४. 'तुलसी चरित'—बाबा रघुबरदास कृत, समय अज्ञात।
५. 'भक्तमाल की टीका'—प्रियादास कृत, १७१२।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे, वे राम के अनन्य भक्त थे, काशी में रहते थे और उन्होंने भाषा में रामायण की रचना की। 'वार्ता' के अनुसार तुलसीदास ने ब्रज-यात्रा भी की थी और वे वहाँ नन्ददास से मिले थे। तुलसीदास राम के सिवाय अन्य किसी के सामने मस्तक नहीं झुकाते थे। ब्रज-यात्रा में वे गोस्वामी बिट्ठलनाथ से भी मिले थे। नाभादास के 'भक्तमाल' के एक छप्पय के अनुसार वे राम के अनन्य भक्त थे और संसार के लाभ के लिए' वाल्मीकि ने उनके रूप में अवतार लिया और रामायण की रचना की :

'संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लिए।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए॥'

बेणीमाधवदास ने 'गोसाईं चरित' में तुलसीदास का प्रारम्भ से अन्त तक तिथियों और घटनाओं के आधार पर जीवन-वृत्त दिया है। यह जीवन-वृत्त बहुत विस्तृत है और उसमें तुलसीदास की अनेक रचनाओं की तिथियों और ऐतिहासिक तथा साहित्यिक व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है। किन्तु यह ग्रन्थ अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। रघुबरदास के 'तुलसी चरित' में चार खण्ड हैं—(१) अवध, (२) काशी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) नर्मदा और (४) मथुरा। इस ग्रन्थ की छन्द संख्या १३३९६२ बताई जाती है, किन्तु केवल ५३ छन्द प्रकाश में आए हैं। अतः अभी उसके आधार पर तुलसीदास के सम्बन्ध में कुछ कहना असंगत है। प्रियादास ने अपनी टीका में केवल अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया है।

किन्तु अंतःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य तथा आधुनिकतम खोजों का अध्ययन करने के बाद तुलसीदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :

तुलसीदास के जन्म के सम्बन्ध में १४९७ ई० (सं० १५५४), १५२६ ई० (सं० १५८३), १५३२ ई० (सं० १५८९) और १५४३ ई० (सं० १६०००) तिथियाँ प्रचलित हैं। किन्तु आधुनिक विद्वानों के निष्कर्षानुसार तुलसीदास का जन्म १५३२ (१५८९ संवत्) में हुआ था। उनका जन्म-स्थान सोरों था या राजापुर, यह कह कहना कठिन है। उनकी माता का नाम हुलसी था, जिसके प्रमाण में रहीम का यह दोहा कहा जाता है :

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥"

और पिता का नाम संभवतः आत्माराम था। उनका जन्म संभवतः दरिद्र कुल में हुआ था और बाल्य-काल में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। भिक्षा द्वारा वे उदर-पूर्ति करते थे। सन्तों के ज्ञानोपदेश से बचपन में राम के प्रति आसक्ति हो गई थी और हनुमानजी में अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। वे ब्राह्मण अवश्य थे, सरयूपारी थे या कान्यकुब्ज, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। नन्ददास के चचेरे भाई थे और दोनों ने नृसिंह या नरसिंह चौधरी से शिक्षा प्राप्त की थी। नरसिंह चौधरी सोरों-निवासी थे और रामानन्द की शिष्य-परम्परा में से थे। तुलसीदास के अतिरिक्त उनका रामबोला नाम भी था। उनका विवाह सन् १५५४ के लगभग बदरिया ग्राम के निवासी दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। उनका वैवाहिक जीवन कुछ ही वर्षों तक सुखमय रहा। वे अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे और स्त्री के कारण ही उन्होंने वैराग्य धारण किया (इस सम्बन्ध में कथा प्रसिद्ध ही है)। संभवतः उनके तारापति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु अल्पावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई। वैराग्य धारण करने के बाद तुलसीदास ने काशी, चित्रकूट, अयोध्या, प्रयाग और कदाचित् बदरीनारायण की यात्रा की। अयोध्या में कुछ दिन रहने के बाद काशी को उन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया और मृत्यु-पर्यन्त वहीं रहे। गङ्गाराम, टोडर और रहीम उनके स्नेही मित्रों में से थे। मानस की रचना के बाद कवि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई और वे वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे। तुलसीदास की ख्याति से चिढ़कर कुछ लोग उन्हें नीचा दिखाने की चेष्टा करने लगे थे। भाषा में राम का गुणगान करने पर भी झगड़ा हुआ। यद्यपि वे स्वयं वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे और ब्राह्मणों की सेवा का महत्त्व जानते थे, तो भी रूढ़ि-ग्रस्त ब्राह्मणों ने जाति-पाँति के आधार पर उनका विरोध किया। इसी प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि स्वयं उन्होंने शिवोपासना को काफी महत्त्व दिया, तब भी काशी के शिवोपासकों ने उनका विरोध किया और तरह-तरह की यातनाएँ दीं। अन्त में अपनी भक्ति के बल पर तुलसीदास ने इन विरोधों और संकटों पर विजय प्राप्त की। तुलसीदास के जीवनकाल में रुद्रबीसी और मीन की सनीचरी पड़ी थी। उस समय काशी में उपद्रव, दुर्भिक्ष आदि के कारण लोग पीड़ित हुए। रुद्रबीसी कवि के जीवन-काल में दो बार पड़ी—(१) १५३९ ई० (१५९६ वि०) से १५५९ ई० (१६१६ वि०) तक और (२) १५९९ ई० (१६५६ वि०) से १६१९ ई० (१६७६ वि०) तक। किन्तु सम्भावना दूसरे समय की ही अधिक है। उस समय तुलसीदास प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो चुके थे। मीन की सनीचरी के सम्बन्ध में शनि का मीन में प्रवेश दो बार माना जाता है—(१) १५८३-१९८५ ई० (चैत्र शु० ५, १६४० वि० से ज्येष्ठ सं० १६४२ तक) और (२) १६१२-१६१४ (चैत्र शु० २, १६६९-१६७१ वि०)। उनमें से दूसरा ही अधिक युक्ति-सङ्गत है। १६१६ और १६२३ के बीच में ताऊन का प्रकोप हुआ और तुलसीदास भी उससे पीड़ित हुए। तत्पश्चात् उनकी दाईं भुजा में पीड़ा हुई, जो धीरे-धीरे तमाम शरीर में फैल गई। साथ ही उनके शरीर में फोड़े निकल आए थे। राम, शिव और हनुमान की प्रार्थना करने से उनके रोग का शमन हुआ :

'बाहुक सुबाहू नीच लीचर मरीच मिलि
मुँह परि केतुजा कुरोग जातुधान हैं।
रामनाम जप याग कियो चाहौं सानुराम
काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं॥
सुमिरे सहाइ रामलखन आखर दोई
जिनके साके समूह जागत जहान हैं।
तुलसी संभारि ताड़िका सँहारि भारी यह
बेधे, बरगद से बनाइ बान बान हैं॥'
—'बाहुक'।

कवि को यह पीड़ा संभवतः १६१२ ई० से पहले हुई थी। गोस्वामीजी की मृत्यु के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। सम्भवतः इसी रोग से उनकी मृत्यु भी हुई। १६३२ (संवत् १६८०, श्रावण कृ० ३) उनकी मृत्यु-तिथि है। 'गोसाईं' उनकी उपाधि थी।

तुलसीदास की रचनाएँ

गोस्वामी तुलसीदास की प्रधान रचनाएँ कालक्रमानुसार इस प्रकार हैं :

(१) 'रामलला नहछू'	(१५५५ के लगभग)
(२) जानकीमङ्गल'	(१५६३ ")
(३) 'रामाज्ञा प्रश्न'	(१५६४ ")
(४) 'वैराग्य संदीपनी'	(१५३९ ")
(५) 'रामचरितमानस'	(१९७४) समाप्त १५७६ में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६) 'सतसई'	(१५८५)
(७) 'पार्वती मंगल'	(१५८७)
(८) 'कृष्णगीतावली'	(१५९३ के लगभग)
(९) 'बरवै'	(१६०७ ,,)
(१०) 'विनयपत्रिका'	(१६०९ ,,)
(११) 'गीतावली'	(१६०९ ,,)
(१२) 'दोहावली'	(१६२३ ,,)
(१३) 'बाहुक'	(१६२३ ,,)
(१४) 'कवितावली'	(१६२३ ,,)

पहले कहा जा चुका है कि स्वयं तुलसीदास ने 'मानस', 'सतसई' और 'पार्वती मंगल' की तिथियाँ दी हैं, अतः उनके सम्बन्ध में कोई शंका नहीं हो सकती। शेष तिथियाँ विद्वानों ने अपने अध्ययन के आधार पर निर्धारित करने की चेष्टा की है। उनमें परिवर्तन की सम्भावना हो सकती है।

तुलसीदास का महत्त्व

जिस समय गोस्वामी जी ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय हिन्दी में वीरगाथाओं की छप्पय-शैली, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया-पद्धति, सूफ़ी कवियों की दोहा-चौपाई-पद्धति और नीति कवियों की केवल दोहा-पद्धति, ये सभी रचना-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। तुलसीदास ने इन सभी पद्धतियों पर अपना पूरा अधिकार प्रदर्शित किया। उदाहरण के लिए, उनकी छप्पय-पद्धति की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

'डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिमभानू संघटित होत परस्पर॥
चौके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

इसी प्रकार विद्यापति और सूर की शैली पर गीत-पद्धति की रचनाएँ 'विनयपत्रिका' और 'गीतावली' में मिलती हैं। 'गीतावली' के एक पद में मातृ-हृदय का चित्रण इस प्रकार है :

"ह्वैहौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
रामलखन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्‌यौ भैया॥
बाल-विभूषन-बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारने जैहौं॥
छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुकक-ठुमक कब धैहौं।
कल बल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ॥'....

'कवितावली' में कवित्त-सवैया द्वारा भावों की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें, समुझाइ कछु मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, 'अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै, बिगसीं मनो मंजुल कंज-कली।'

दोहे तो गोस्वामी जी के 'मानस' में बिखरे पड़े हैं, किन्तु उनकी 'दोहावली' नामक रचना में भक्ति और उपदेश सम्बन्धी सुन्दर दोहे मिलते हैं :

'राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर॥
सीता लषनु समेत प्रभु, सोहत तुलसीदास।
हरषत सुर, बरसत सुमन. सगुन सुमङ्गल बास॥
सिला सुतिय भइ, गिरि तरे, मृतक जिए जग जान।
राम अनुग्रह सगुन सुभ, सुलभ सकल कल्यान॥'

दोहा-चौपाई-पद्धति में रचित 'रामचरितमानस' से तो प्रत्येक भारतीय परिचित ही है। 'बरवै रामायण' में बरवै-शैली का सफल प्रयोग हुआ है :

'सिय तुव अङ्ग-रङ्ग मिल अधिक उदोत।
हारि बेलि पहिरावौं चंपक होत॥
जनम-जनम जहँ-जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु॥'

वास्तव में प्रत्येक शैली पर गोस्वामीजी को पूर्ण अधिकार था। वे केवल नाटक या रूपक की रचना न कर सके। इसके अतिरिक्त उस समय वीर-रचनाओं की परम्परा में पोषित द्वित्व वर्णवाली एक विशेष भाषा थी, जिसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। कबीर तथा अन्य सन्त कवियों की भाषा भद्दी और अव्यवस्थित थी। सूरदास ब्रजभाषा का शिष्ट-सामान्य रूप जनता के सामने रख रहे थे। प्रेम-काव्य के सूफ़ी रचयिताओं ने बोलचाल की अवधी का रूप सामने रखा था। किन्तु तुलसीदास ने ब्रज और अवधी ('मानस') पर समान रूप से अधिकार प्रकट किया। गोस्वामीजी की भाषा परिमार्जित और साहित्यिक है। उन्होंने भावमय, सरस एवं कोमल संस्कृत शब्दों का चयन किया। भद्दे ग्रामीण शब्द उनकी रचनाओं ने नहीं मिलते। उनका शब्द-चयन भावानुकूल और विषयानुकूल है। उनकी भाषा में भोजपुरी, बुन्देलखण्डी और सर्वप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्द भी मिल जाते हैं। उससे उनकी भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति बढ़ी है। उनकी भाषा में सहज और स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, 'मीलित' की सहायता से कवि अंग के रंग का वर्णन करता है :

'चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुंभलाइ॥'

—बरवै रामायण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'मानस' से 'उत्प्रेक्षा' का एक उदाहरण देखिए :

'रुधिर गाढ़ भरि-भरि जम्यो ऊपर धूरि उड़ाइ।
जन अँगार रासीन्ह पर मृतक धूम रह्यो छाइ॥'

'दृष्टान्त' का प्रयोग करते हुए कवि कहते हैं :

'प्रभु अपने नीचहुँ आदरहीं।
अगिन धूम गिरि सिर तृनु धरहीं॥'

वैसे तो उनकी रचनाएँ नवरस-सिद्ध हैं, किन्तु शृङ्गार का जितना शिष्ट, मर्यादापूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है वह अत्यन्त दुर्लभ है। निम्नलिखित पंक्तियों में रति-भाव कितनी सूक्ष्मता और मर्मज्ञता के साथ प्रकट किया गया है :

'कंचन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं॥'

कला की दृष्टि से तुलसीदास काव्य-कुशलता, चरित्र-चित्रण, प्रबन्धपटुता, सहृदयता, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना, संवाद, मार्मिक स्थलों की पहचान आदि की दृष्टि से एक महान् कलाकार सिद्ध होते हैं। 'कवितावली में एक स्थान पर उन्होंने स्नेह का अत्यन्त मार्मिक और सुन्दर चित्र उपस्थित किया है :

'जल को गए लक्खन हैं लारिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
तुलसी रघुवीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि विलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो पुलको तनु वारि बिलोचन बाढ़े॥'

'मानस' में अयोध्या वापस आते समय सुमंत्र के शोकोद्वेग का चित्रण देखिए :

लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी॥
हानि-गलानि बिपुल मन व्यापी। जमपुर पन्थ सोच जिमि पापी॥
बचनु न आइ हृदय पछिताई। अवधि काहि मैं देखब जाई॥ ....
हृदय न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतम नीरु।
जानत हौं मोंहि दीन्ह विधि यहु जातना सरीरु॥'

इसी प्रकार 'गीतावली' में लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विलाप अत्यन्त प्रभावपूर्ण है :

'मो पै तो न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भलो विधि भायप चल्यो लखन सो भाई।
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन विपति बँटाई।
ता सङ्ग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौ न मान पठाई।
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरिक दरार न आई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तात-मरन तिय-हरन गीध-बध भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहिं कालिमा लाई।'

गोस्वामी तुलसीदास की कला के ऐसे ही अन्य अनेक मार्मिक एवं सुन्दर उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं। सूर ने जिस विषय पर लेखनी उठाई, उसकी समता करने वाला दूसरा कवि नहीं है, यह ठीक है। किन्तु तुलसीदास-जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा भी अन्य किसी कवि में नहीं मिलती। उनकी रचनाओं में भावों का सुन्दर, सजीव और हृदयग्राही चित्रण मिलता है, जो उनकी अपनी विशेषता है। तुलसी के चरित्र गतिशील, प्रभावशाली और लोकोत्तर आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। उनके पात्र मानव-जीवन के किसी-न-किसी अंग पर प्रकाश डालते हैं और मनुष्य के हृदय में सद्वृत्ति जगाते हैं। उन्होंने भगवान् की नर-लीला के माध्यम द्वारा मनुष्य को अपना चरम लक्ष्य बनाया। प्रकृति और काव्यालंकार तो उन्होंने परम्परा के रूप में ग्रहण किए।

साहित्यिक प्रौढ़ता के अतिरिक्त सांस्कृतिक जीवन की दृष्टि से भी तुलसीदास का भारतीय इतिहास में अत्यन्त ऊँचा स्थान है। प्रायः कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चलते थे। वीर कवि केवल उत्साह को, सन्त और सूफ़ी कवि केवल ज्ञान और प्रेम को और रीतिकालीन कवि केवल शृङ्गार को ही अपने साहित्य में स्थान दे सके थे। स्वयं सूर ने शृङ्गार को व्यापक अर्थ में लेकर उसी तक अपने को सीमित रखा। किन्तु तुलसीदास ने जीवन को समग्र रूप से देखा। उन्होंने व्यक्तिगत पक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय उपस्थित किया। कबीर की वाणी से समाज की मर्यादाएँ भंग हो रही थीं। तुलसीदास ने अपने चारों ओर धार्मिक और सामाजिक विशृंखलता देखी और उसके स्थान पर श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पंथ की कल्पना की। वे आर्य-मर्यादा, वैदिक धर्म, वर्णाश्रम धर्म, राज धर्म, समाज धर्म, गृह धर्म, राष्ट्र धर्म और संयम के पोषक थे। सन्त सम्प्रदाय के कारण फैली अराजकता उन्होंने दूर की। उनकी भक्ति ज्ञान और धर्म के सार के रूप में है। उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भी सामंजस्य और समन्वय उपस्थित करने की चेष्टा की। वास्तव में, धर्म, समाज, साहित्य, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण की। उन्होंने शास्त्रीय मार्ग और लोक-मार्ग दोनों में सामंजस्य उपस्थित किया। इस समन्वय का मूलाधार राम-चरित है। 'रामनाम' तो उस समय प्रचलित था ही। उन्होंने नाम को सबसे बड़ा बताकर तत्कालीन पारस्परिक विरोध कम कर दिया। अवसर मिलते ही वे भगवान का परम अनुग्रहकारी, प्रेममय और शान्तिदायक रूप सामने रख देते हैं। लोक-पक्ष और लोक-संग्रह की भावना उसमें प्रबल है। 'मानस' में धर्म-नीति' समाज-नीति और राजनीति के सुन्दर उदाहरण हैं। उनमें गृहस्वामियों और संन्यासियों दोनों के लिए उपदेश हैं। वास्तव में मर्यादा, आत्मोन्नति, सदाचार, उच्च भाव-प्रदर्शन सुशिक्षा, दृष्टिकोण की व्यापकता, शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण आदि की दृष्टि से तुलसीदास ने सच्ची भारतीय संस्कृति का रूप जनता के सामने रखा। उन्होंने शील और शक्ति के प्रतीक राम के लोक-पावन रूप का वर्णन कर साहित्य और जीवन दोनों को उज्ज्वल बनाया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुलसीदास के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं के लिये अनेक ग्रन्थों से सहायता ली। दार्शनिक दृष्टि से विशिष्टाद्वैत मत में दीक्षित होते हुए भी वे अद्वैत में आस्था रखते थे। वे साम्प्रदायिकता की सीमा में बँधे हुए कवि नहीं थे। धार्मिक दृष्टि से उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता मिटाने का प्रयत्न किया। वास्तव में उनके आध्यात्मिक विचार किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा में बद्ध नहीं थे। वे राम को परब्रह्म और सीता को प्रकृति मानते हैं। समस्त विश्व के मूल स्रोत होने के कारण उनके राम ज्ञान-स्वरूप हैं। मायाधीश होने के कारण वे सगुण ब्रह्म भी हैं। वे मोह से अलग रहते हैं। राम की माया ही उनके इशारे से सृष्टि का निर्माण और संहार करती है। इस लोक में सीता-राम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। समस्त विश्व राम की माया के अधीन है। मायाजनित संसार मिथ्या है। वह राम के सत्त्व से प्रतिभासित होकर सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह मायाजनित है। मानव-शरीर दुर्लभ है। इसलिए मनुष्य को परमार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। मनुष्य का बन्धन राम-भक्ति द्वारा छूट सकता है। हरि-भक्ति प्राप्त हो जाने पर भक्तजन वर्णाश्रम की मर्यादाओं का पालन नहीं करते। भक्ति ज्ञान की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान का पन्थ दुर्गम है। सत्सङ्ग, गुरु-कृपा, नाम-स्मरण, रामतीर्थ की यात्रा, ब्राह्मण-सेवा, माया से निर्लेप, लोक-निरपेक्ष भाव; वासनाहीन प्रेम, शिव आदि भक्ति के पोषक हैं। राम का अवतारी रूप ही ध्यान करने योग्य है। राम के भक्त मोक्ष का निरादर कर सामीप्य की भावना रखते हैं, गोस्वामी तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे और इस नाते उन्होंने सभी देवताओं को आदर की दृष्टि से देखा, किन्तु अनन्य भक्त वे राम के ही थे। उन्होंने राम की दास्य भक्ति स्वीकार की। गोस्वामी जी की कुछ रचनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

'कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय, मन महुँ मुसुकानी॥
तिनहिं विलोकि विलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नयनी। बोली मधुर बचन पिकवयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लषनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितै भौंह कर बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥
भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह रायरासि जनु लूटी॥'

•

'राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुर-तरु तुलसी तोर॥
राम भरोसो, राम बल, राम-नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आपु आपने तें अधिक जेहि प्रिय सीताराम।
तेहि के पग की पानहीं तुलसी तनु को चाम॥'

'अवधेश के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नै सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे॥'

केशवदास

राम-काव्य के अन्तर्गत केशवदास का नाम भी उल्लेखनीय है। किन्तु केशवदास भक्त कवि न थे। उनकी रचनाएँ भक्ति-साहित्य के साथ सम्बद्ध नहीं की जा सकतीं। राम-कथा का विषय लेकर उन्होंने साहित्यिक गौरव की दृष्टि से अपनी रचनाओं का निर्माण किया। उन्होंने जहाँ एक ओर 'रामचन्द्रिका' की रचना राम-काव्य के अन्तर्गत की, वहाँ दूसरी ओर रीति-काव्य के अन्तर्गत 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना की और वीर-काव्य के अन्तर्गत 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' और 'वीरसिंहदेव चरित' की रचना की। इस प्रकार उन्होंने अपने पांडित्य द्वारा प्रत्येक प्रकार की काव्य-धारा में योग दिया। केशवदास कवि की अपेक्षा आचार्य अधिक थे।

केशवदास का जन्म संस्कृत साहित्य के पारंगत विद्वानों के वंश में हुआ था। एक स्थान पर उन्होंने कहा है :

'भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास॥'

वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और प्रसिद्ध नाटक 'प्रतिबोधचन्द्रोदय' के रचयिता श्रीकृष्णदत्त के पौत्र और 'शीघ्रबोध' के रचयिता काशीनाथ के पुत्र थे। 'नखसिख' के रचयिता बलभद्र उनके बड़े भाई थे। उनका जन्म १५५५ के लगभग और मृत्यु १६१७ के आसपास हुई। वे ओरछा-नरेश के आश्रय में रहते थे और तुलसीदास के समकालीन थे। 'बीरसिंहदेव चरित' (१६०७), 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' (१६१२), 'रतनबावनी' और 'विज्ञानगीता' (१६०१) के अतिरिक्त उनके प्रमुख ग्रन्थ तीन हैं—(१) 'रसिकप्रिया' (शृङ्गार रस सम्बन्धित, १५९१), (२) 'कविप्रिया' (काव्य के सभी अंगों के सम्बन्धित, १६०१), और (३) 'रामचन्द्रिका' (राम-कथा, १६०१)। राम-काव्य के अन्तर्गत 'रामचन्द्रिका' ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अतः यहाँ उसी पर विचार किया जायगा।

'रामचन्द्रिका' की रचना 'रामायण' (वाल्मीकि कृत)' 'प्रसन्नराघव', 'अनर्घराघव', 'कादम्बरी', 'नैषध', 'हनुमन्नाटक', आदि संस्कृत-ग्रन्थों के प्रभावान्तर्गत हुई है। संवादों पर 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का बहुत प्रभाव है। उसमें ३९ प्रकाश हैं। कवि ने श्री छन्द (ऽ) से लेकर अनेक वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है। कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि 'रामचन्द्रिका' की रचना राम के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणगान के स्थान पर पांडित्य-प्रदर्शन एवं छन्दों के निरूपण के लिए ही की गई थी। जिस समय 'रामचन्द्रिका' की रचना हुई, उस समय अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी छन्दों की विविधता रहती थी। बहुत जल्दी-जल्दी छन्द-परिवर्तन से कथा का तारतम्य टूट जाता है। कथा में राम-जन्म इत्यादि प्रारम्भिक प्रसंग बहुत संक्षेप में हैं। धनुषयज्ञ का वर्णन सांगोपांग है। कवि का दरबारी जीवन से परिचय होने के कारण यह वर्णन विस्तृत और स्वाभाविक है। ऋतु वर्णन और नखशिख का भी अच्छा वर्णन मिलता है।

'राम सङ्ग शुक एक प्रवीनो। सोय दासि गुण वर्णन कीनो॥
केस पास शुभ श्याम सनेही। दास होत प्रभु! जोव विदेही॥
भाँति-भाँति कवरी शुभ देखी। रूपभूप-तरवारि विशेषी॥
पोय प्रेम प्रन राखनहारी। दीह दुष्ट छल खण्डनकारी॥
किधौं सिंगार सहित सुखकारी। वंचक तानि बहावनिहारी॥
कंचन पानिपाति सोपाना। मनोसिंगार लोक के जाना॥
सीसफूल अरु बेंदी लसै। भाग सोहाग मनो सिर बसै॥
पाटन चमक चित्त चौंधिनी। मानो दमकति घन दामिनी॥
सेंदुर माँग भरी अति भली। तिहि पर मोतिन की अवली॥
गंग गिरा तन सौ तन जोरि। निकसीं जनु जमुना जल फोरि॥'

अंगद-रावण-संवाद में भी उन्होंने अपने राजकीय जीवन का परिचय दिया। केशवदास ने राम-कथा के बहुत के अंश छोड़ भी दिए हैं, जिससे पात्रों के चरित्र पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता।

'रामचन्द्रिका' 'मानस' की भाँति न तो धार्मिक ग्रन्थ है और न दार्शनिक ग्रन्थ। उसमें लोक-शिक्षा का रूप भी नहीं है। उसमें राम-कथा को सांपोपांग दृष्टि से महत्त्व नहीं मिला, वरन् उन्हीं अंशों को महत्त्व मिला है जिसमें अलंकार-कौशल या वाग्विलास प्रदर्शित किया जा सकता था। उदाहरण के लिए सीता के मुख के वर्णन में रसात्मकता के स्थान पर अलङ्कार-कौशल को ही स्थान मिला है :—

'वासों मृग अंक कहैं तोसों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तुहुँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहुँ कलाकलित बखानिये॥
रत्नाकर के हैं दोऊ केशव प्रकाशकर,
अम्बर बिलास कुवलय हितु मानिये।
बाके अति सीत कर तुहूँ सीता सीतकर,
चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिये॥

सीता के मुख के सौंदर्य के स्थान पर इस दंडक छन्द में श्लेष से पुष्ट उपमा का उत्तम उदाहरण है। वास्तव में काव्य-चातुर्य के उपयुक्त स्थलों पर कवि ने अधिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान दिया है। इससे घटना-वैचित्र्य और प्रबन्धात्मकता को आघात पहुँचता है। भक्ति की भावना उसमें कहीं नहीं है। केशव ने अपने आचार्यत्व और पांडित्य को प्रधानता दी है। अनेक छन्द तो ऐसे हैं जिनके कई-कई अर्थ निकलते हैं। पांडित्य के कारण ही रसात्मकता को आघात पहुँचता है। किन्तु 'रामचन्द्रिका' से केशव की संवाद-पटुता का अच्छा परिचय मिलता है :

'कौन के सुत ? बालि के, वह कौन ? बालि न जानिये !
काँख चाँपि तुम्हैं जो सागर सात न्हात बखानिये ॥
है कहाँ वह ? बीर अंगद देव लोक बताइयो।
क्यों गयो ? रघुनाथ बान बिमान बैठि सिधाइयो ॥

उन्होंने बाजार, राजसी ठाटबाट, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि का अच्छा वर्णन किया है। लेकिन कथा के पूर्वापर सम्बन्ध निर्वाह तथा उसमें गम्भीर और मार्मिक स्थलों के पहचानने की शक्ति के अभाव और दृश्यों की स्थानगत विशेषता के कारण प्रबन्ध-निर्वाह सुन्दर नहीं बन पड़ा। उनका प्रकृति-वर्णन वाल्मीकि और कालिदास की शैली पर हुआ है। सूर्योदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है।

'अरुण गात अतिप्रात पद्मिनी-प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरण सिंदूरपूर कैंधों मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो माणिकमयूख पट ॥
कै स्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिगभामिनि के भाल को।

एक अन्य स्थल पर केशवदासजी ने प्रभात का जो वर्णन किया है, उससे भी उनकी प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है :

'व्योम में मुनि देखिए रवि लाल श्री-मुख साजहीं;
सिंधु में बड़वागि की जनु ज्वाल माल बिराजहीं।
पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सोहई ;
सूर बाजिन की खुरी अति तिच्छता तिनकी हई ॥
चढ्यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुन मुख ;
दीन्ह्यो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन ॥'

वैसे भी उनके ग्रन्थ में संस्कृत रचनाओं से ली गई उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। संस्कृत की मौलिक उक्तियों को भाषा में रूपान्तरित करने में वे सर्वत्र सफल ही हुए हों, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में केशव में भावों की तन्मयता और काव्य की सरलता का अभाव है। उनकी भाषा, बुन्देलखण्डी-मिश्रित ब्रजभाषा का माधुर्य बहुत कुछ लुप्त हो गया है। भाषा के अलंकारों की छटा पग-पग पर दिखाई देती है। केशव ने अलंकारों की सहायता से ही कहीं-कहीं पर प्रकृति के सुन्दर चित्रण उपस्थित किए हैं। किन्तु शब्दों के साथ उन्होंने काफ़ी खिलवाड़ किया है और उक्ति-वैचित्र्य को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रधानता दी है। भाषा की कठिनता के कारण ही उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। वस्तुतः केशवदास प्रधानतः रीति काल के आचार्य हैं। यहाँ उनकी 'रामचन्द्रिका' के कुछ उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं :

'बर बाण शिखीन अशेष समुद्रहिं सोखि सखा सुखही तरिहौं।
अरु लंकहि औटि कलंकित की पुनि पंक कनंकहि को भरिहौं॥
भल भूंजि कै राख सुखै करिकै दुख दीरघ देवन के हरिहौं।
सितकंठ के कंठन्हि को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं॥'

•

'बोरों सबै रघुवंश कुठार को धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की वायु उड़ाय के लच्छन लच्छ करों अरिहा समरत्थहिं॥
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूंजौ भरत्थहिं।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं॥'

* * *

राम-काव्य की परम्परा में तुलसी और केशवदास के अतिरिक्त अन्य अनेक कवि हुए, जैसे कृष्णदास पयहारी, अग्रदास, प्राणचन्द्र ('रामायण महानाटक', १५१०) हृदयराम ('भाषा हनुमन्नाटक', १६२३), नाभादास आदि। किन्तु उन सबमें नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि व्रजभाषा में उनकी रामभक्ति सम्बन्धी कविताएँ अवश्य प्राप्त हैं, किन्तु उनका प्रधान ग्रन्थ 'भक्तमाल' (१५८५) है, जिसमें दो सौ भक्तों की भक्ति महिमा-सूचक बातें ३१६ छप्पयों में दी गई है। नाभादास १६०० के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदास की मृत्यु के पीछे तक वर्तमान रहे। १७०२ में प्रियादास ने 'भक्तमाल' पर टीका लिखी, जिसमें भक्तों के अलौकिक कृत्यों और चमत्कारों का ही अधिक उल्लेख है और जिसमें नाथ-सिद्धों और वैष्णवों की विशेषताएँ अलग-अलग स्पष्ट हो जाती हैं।

राम-भक्ति में परिवर्तन

राम-सम्बन्धी काव्य-धारा में अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं और अनेक प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। तुलसीदास की वैधी भक्ति के प्रेम के साथ-साथ श्रद्धा और मर्यादा थी। किन्तु आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी के लगभग अन्त में रामायण वैष्णवों के अन्तर्गत राम-कथाओं में केवल माधुर्य से ओतप्रोत शृङ्गारपूर्ण भावनाओं को ही अधिक स्थान दिया जाने लगा और राम-काव्य कृष्ण-काव्य के प्रभावान्तर्गत आ गया, यद्यपि 'गीतावली' के उत्तर काण्ड में स्वयं तुलसी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रवृत्ति का सूत्रपात एक प्रकार से 'मानस' के टीकाकार जानकीघाट, अयोध्या के महन्त रामचरणदास ने किया, जिन्होंने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलाई। वे सीता को अपनी सौत मानते थे। राम का सम्बन्ध रामलीला, फाग आदि से भी जोड़ा गया। कुछ कवियों जैसे, जीवाराम या युगलप्रिया, अयोध्या के युगलानन्द आदि ने राम से सखी-सम्बन्ध स्थापित किया और उन्होंने राम के क्रीड़ा-कुञ्जों, उसकी तिरछी चितवनों और बाँकी अदाओं के गीत गाए। सीता-राम युगल सरकार हो गए। इन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कवियों के हाथ में पड़कर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का लोक-पावन रूप विलासित के कीचड़ में फँस गया। इस रूप में राम-काव्य अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक मिलता है। पति-पत्नी वाले संप्रदाय का नाम 'स्वसुखी' है और 'लोमश संहिता', 'भुशुण्डि रामायण', 'महारासोत्सव' आदि उसके ग्रन्थ हैं। रामावतार में भगवान् ने ९९ रास किए। शेष बच रहे एक को उन्होंने कृष्णावतार में पूरा किया। 'स्वसुखी संप्रदाय' के पति-पत्नी-भाव के स्थान पर युगलानन्दशरण ने सखी-भाव की स्थापना कर, 'तत्सुखी संप्रदाय' चलाया। अयोध्या के भक्तों की भाँति जनकपुर के महन्त रामप्रियाशरण ने अठारहवीं शताब्दी में 'सीताराम' सम्प्रदाय की स्थापना की और इस सम्प्रदाय के कवियों ने भी सीता-राम की शृङ्गारपूर्ण लीलाओं का वर्णन किया।

कृष्ण-काव्य

भारतवर्ष में श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हो चुका था। विद्वानों का मत है कि सूरदास से पहले भी उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार था। वल्लभाचार्य से उसे प्रेरणा और शक्ति प्राप्त हुई और भागवत पुराण द्वारा उसे प्रोत्साहन मिला। भागवत पुराण मध्य काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें भगवान् कृष्ण के स्वयं रूप के अतिरिक्त उनके अवतार का भी वर्णन है। कुछ जीवों में जैसे, नारद, सनक-सनन्दन आदि में भी भगवान् प्रकट होते हैं। भगवान् को जब लीला-विस्तार की इच्छा होती है, तभी वे अवतारी रूप धारण करते हैं। भागवत में एकान्त भक्ति है और पांचरात्र मत के अनुसार नारायण को मूलाधार मानते हुए चतुर्व्यूह (वासुदेव = निर्गुण ब्रह्म, संकर्षण = जीव रूप में अवतार, प्रद्युम्न = मन, अनिरुद्ध = अहंकार, ईश्वर) को प्रधानता दी गई है। १०वीं, ११वीं शताब्दी में भी लीला-गान की परम्परा थी। चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो' में भी दशावतार का वर्णन हुआ है। मेगस्थनीज़ (१०० ई० पू०) के अनुसार कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर अथवा पश्चिमी भारत में होती थी। संभवतः इस पूजा का प्रारंभ उपनिषदों (महानारायण उपनिषद्) से हुआ था। महाभारत के कृष्ण में देवत्व की भावना पाई जाती है। गीता में कृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार माने गए हैं। किन्तु गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हरिवंश पुराण, वायुपराण और भागवत पुराण में हुआ। मध्ययुग में रामानन्द ने विष्णु के रूप नारायण के रूपान्तर राम की उपासना प्रचलित की, तो वल्लभाचार्य में कृष्ण-भक्ति की पद्धति चलाई। कृष्ण-भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम और आत्मचिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण की भावना प्रधान पाई जाती है। दार्शनिक क्षेत्र में कृष्ण-भक्ति-परम्परा ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया जिसका अनुसरण वल्लभाचार्य ने किया। उन्होंने राधा को भक्ति में स्थान दिया। वास्तव में राधा न महाभारत में हैं और न भागवत में। भागवत में केवल एक ऐसी गोपी का उल्लेख मिलता है, जिसमें श्रीकृष्ण विशेष रूप से अनुरक्त हैं। प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के वीर असुर-निकंदन वाले रूप का ही प्राधान्य था। पुराणों में गोपीजन-वल्लभ का उल्लेख मिलने लगा है (जैसे, विष्णु पुराण, भागवत पुराण, वायु पुराण, अग्नि पुराण, पद्म पुराण में भी गोपियों के प्रेम का उल्लेख मिलता है। भागवत में वह सबसे अधिक है।) अभी तक ज्ञात ग्रन्थों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में, गोपाल तापनी उपनिषद् में सर्वप्रथम राधा का उल्लेख है। वैसे 'गाथा सप्तशती' 'पंचतन्त्र', 'ध्वन्यालोक' और 'पद्म पुराण' में भी राधा का उल्लेख मिलता है। राधा प्रेयसि-रूप में हैं। विष्णुस्वामी और निंबार्क के सम्प्रदायों में भी राधा का निर्देश है। वल्लभाचार्य के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—वेदान्त सूत्र पर लिखा हुआ 'अणुभाष्य' और 'सुबोधिनी टीका'। अणुभाष्य शुद्धाद्वैत मत का मूल है। जयदेव, विद्यापति और सूर ने राधा का महत्त्व बनाये रखा। राधा भगवान् की ह्लादिनी शक्ति है, जो उनकी आनन्दमयता को रूप प्रदान करती हैं। यही कारण है कि राधा अन्य गोपियों से श्रेष्ठ मानी गई हैं। उनमें भक्तों ने महाभाव का आरोपण करने की चेष्टा की है। वे रूप, गुण, शील और औदार्य की प्रतिमूर्ति हैं।

पुष्टिमार्ग और अष्टछाप

वल्लाभाचार्य द्वारा वेदान्त सूत्रों पर लिखित 'अणुभाष्य' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है और उनका मत शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित है जिस भक्ति से कृष्ण या ब्रह्म की अनुभूति होती है वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रहस्वरूप है। इस अनुग्रह (भागवत, २।१०।४,३।२।११) का नाम 'पुष्टि' या 'पोषण' है। पुष्टि चार प्रकार की मानी गई है: १. मर्यादा पुष्टि, २. प्रवाह पुष्टि, ३. पुष्टिपुष्टि और ४. शुद्ध पुष्टि। भगवान् के गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हुए और सामाजिक विधि-निषेध तथा लोक-मर्यादा का पालन करते हुए भक्ति करना 'मर्यादा पुष्टि' है। कर्म या सांसारिक जीवन में रुचि रखते हुए भी भगवान् के प्रति विशेष रुचि रखना 'प्रवाह पुष्टि' है। भगवान् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसी के स्नेह में मग्न रहना 'पुष्टिपुष्टि' है। एकान्त प्रेम-पूर्वक तथा आत्म-समर्पण के भाव से भगवान् के अनुग्रह पर जीवित रहते हुए उसकी लीला, गुण-श्रवणादि में दत्तचित्त रहना 'शुद्ध पुष्टि' हैं। वल्लभाचार्य ने शुद्ध पुष्टि को ही अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया, न कि प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि और पुष्टि-पुष्टि को। शुद्ध पुष्टि के अनुसार केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर हृदय में भक्ति की अनुभूति प्राप्त होती है। यह अनुभूति हृदय को श्रीकृष्ण का स्थान बना देती है और गो, गोप, गोपी, यमुना, कदम्ब आदि के रूप में उसे कृष्णमय कर देती है। पुष्टिमार्ग में अनेक भक्त दीक्षित हुए, जिनमें से अष्टछाप के कवि प्रसिद्ध हैं—सूर, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, नन्ददास, चतुर्भुजदास और गोविन्द स्वामी। अष्टछाप की स्थापना विट्ठलनाथ द्वारा हुई थी। जिन्होंने पहले चार अपने पिता के और दूसरे चार अपने शिष्य के लिये। उनके वर्णन 'चौरासी' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में मिलते हैं। सूरदास और नन्ददास के बाद परमानन्ददास में विशेष कवित्व-शक्ति थी। उनका ग्रन्थ 'परमानन्दसागर' प्रसिद्ध है। शेष साधारण कवि थे। अष्टछाप के कवियों में लीलागान और भगवान् के रूप-माधुर्य का विशेष वर्णन है। इन कवियों ने गीत-परम्परा में नए प्राण फूंके।

विद्यापति

कृष्ण-काव्य की परम्परा सूर से ही चलती हो, यह बात नहीं है। संस्कृत में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जयदेव और हिन्दी से सम्बन्धित कवियों में विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है। विद्यापति को लेकर हिन्दी और बँगलावालों में काफ़ी झगड़ा हुआ है। दोनों ही उन्हें अपनी ओर खींचने में प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु यह वाद-विवाद अब समाप्त हो चुका है। वास्तव में विद्यापति के पदों की भाषा हिन्दी के ही अधिक निकट है।

विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था। उनका वंश विद्वानों का वंश था और वे दरभंगा जिले में विसपी के रहनेवाले थे। वे शिवसिंह, लखमा देवी, विश्वास देवी नरसिंह देवी और कई अन्य राजाओं के आश्रय में रहे। उनका जन्म १३६८ में और मृत्यु १४७५ में मानी जाती है। 'शैव सर्वस्व सार', 'पुरुष परीक्षा', 'लीखनावली', 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' आदि ११ ग्रन्थ संस्कृत में और 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' अवहट्ठ में हैं। 'कीर्तिलता' में आश्रयदाता कीर्तिसिंह का चरित्र होने के कारण उसे ऐतिहासिक चरित-काव्यों की श्रेणी में स्थान दिया जाता है। कवि ने अपने आश्रयदाता का तो सुन्दर सजीव और सहानुभूतिपूर्ण वर्णन किया ही है, साथ ही उसने समसामयिक जीवन का भी अत्यन्त कौशल और सूझबूझ के साथ वर्णन किया है। इतिहास पर आधारित होते हुए भी उसमें काव्य-तत्त्व का प्राचुर्य है। कवि ने प्रसंगानुकूल छन्दों (दोहा, अडिल्ल, भुजंग-प्रयात, छप्पय, मनबहला गीतिका आदि) का चयन कर ग्रन्थ में रोचकता उत्पन्न की है। कवि ने ऐतिहासिक यथातथ्य वर्णन और काव्य-तत्त्व में संतुलन बनाए रखते हुए पाठकों के मूल मनोभावों को उत्तेजित करने की क्षमता प्रदर्शित की है। 'कीर्तिलता' की कथा चार पल्लवों में विभाजित है—वह भृङ्ग और भृङ्गी के वार्तालाप के रूप में तथा गद्य, पद्य दोनों में है. (प्रथम पल्लव में आश्रयदाता के वंश का परिचय है। द्वितीय में असलान तुरुक पर विजय प्राप्त करने और जौनपुर के बादशाह से सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से जौनपुर जाने का वर्णन है। तीसरे और चौथे पल्लवों में युद्ध-वर्णन और आश्रयदाता की विजय)। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण संस्कृत में है। तत्पश्चात् कीर्तिसिंह की प्रशंसा और खलों का स्मरण है। भाषा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश है, जिस पर मैथिली का प्रभाव है। हमारा सम्बन्ध केवल उनकी पदावली से है। मधुर शृङ्गार की दृष्टि से उन्हें 'अभिनव जयदेव' कहा जाता है।

विद्यापति के पद या तो राधा-कृष्ण के प्रेमपूर्ण मिलन के शृङ्गार-सम्बन्धी पद हैं या शिव-प्रार्थना के रूप में भक्ति-सम्बन्धी हैं और या तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के रूप में काल-सम्बन्धी हैं। विद्यापति के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि वे शिव-भक्त थे। इसलिए उनके भक्ति-सम्बन्धी उद्गार देखने के लिए शिव-पदों का अध्ययन करना चाहिए। जहाँ तक उनके कृष्ण-सम्बन्धी पदों का रूप है, उनमें शृङ्गार, विलास और भौतिक प्रेम है। उन्होंने वयःसंधि, नख-शिख, अभिसार, मान, विरह, संयोग आदि के वर्णन में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की है। राधा का सौंदर्य-वर्णन करते समय वे कहते हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'कि आरे नवयौवन अभिरामा ।
जत देखल तये कहये न पारिअ,
छओ अनुपम इकठामा ।।'

सद्यःस्नाता का अनुपम वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

'कामिनि करै सनाने ।
हेरतहि हृदय हनए पंचबाने ।
चिकुर गरै जलधारा ।
जनि मुख ससि उर रोपा अँधारा ।।'

विद्यापति का कृष्ण-सम्बन्धी संसार कामदेव का संसार है। साथ ही उन्होंने वाह्य जगत् का जितना सुन्दर वर्णन किया है, उतना अन्तर्जगत् का नहीं किया। सम्भवतः अपने आश्रयदाताओं के विनोद के लिए उन्होंने ऐसा किया हो। किन्तु उनके पदों में व्यक्तिगत अनुभूति, भावोन्माद, सूक्ष्मता आदि के रूप में गीति-काव्य के लक्षणों और संगीतात्मकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी भाषा मैथिली है। पदों के अतिरिक्त विद्यापति की नचारियाँ भी प्रसिद्ध हैं, जो शिव की भक्ति में नृत्य के साथ गाई जाती हैं। उनके भक्ति-सम्बन्धी पद कम हैं। काल-सम्बन्धी पदों में शिवसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है और उनमें सौन्दर्य भी अधिक नहीं है। 'भावोल्लास' अंश से लिया गया विद्यापति का पद इस प्रकार है :

'सरस वसन्त समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप बचन एक भाखिए मुख सों दूर करु चीरे ।।
तोहर बदन समचान होअथि गहि जइओ जनन बिहि देला।
एक बेरि काटि बनाओल नव कय तइयो तुलति नहि भेला ।।
लोचन तूल कमल नहि भए सक से जग के नहिं जाने।
से फेरि जाए लुकाएल जब भए पंकज निज अपमाने ।।
भनहि बिद्यापति सुनु बर जौबति ई सभ लछमी समाने।
राजा सिवसिंघ रूप नरायन लखिमा देइ पति भाने ।।'

उसका एक विरह पद है :—

'सखि मोर पिया ।
अबहु न आओल कुलिस हिया ।।
नखर खोआओलुं दिवस लिखि लिखि ।
नयन अंधाओलुं पियापथ देखि ।।
जब हम बाला परिहरि गेला ।
किए दोस किए गुन बुझइ न मेला ।।
अब हम तरुनि बुझब रस भास ।
हम जन नहि मोर काहे पिया पास ।।
आएब हेन करि पिया मोर गेला ।
पुरबक जत गुन बिसरति भेला ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भनइ बिद्यापति सुन अब राइ ।
कौनु समझाइत अब चलि जाइ ।।

सूरदास

कृष्ण काव्य में भक्ति की परम्परा में सबसे अधिक श्रेय सूरदास को है। सच बात तो यह है कि सूर व्रजभाषा के एक श्रेष्ठ कवि हैं, यद्यपि सूर से पहले भी व्रजभाषा का साहित्य मिलता है।[1]

सूर लीला-गान किया करते थे और पद लिखने की प्रथा जयदेव (उड़ीसा), बौद्ध साधकों, चंडीदास (बंगाल) विद्यापति (मिथिला) आदि में पाई जाती थी। यह प्रथा पश्चिम और दक्षिण के प्रदेशों के भक्तों में भी प्रचलित थी। व्रज प्रदेश में भी पदों और भजनों का निश्चय ही प्रचार हुआ। तासी ने तानसेन और बैजू बावरा आदि के पदों और भजनों का उल्लेख किया भी है। ये पद शृङ्गार-परक और धर्म-परक दोनों ही प्रकार के होते थे।

सूरदास अष्टछाप के सर्वप्रथम और सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि हैं। उनका काल निर्णय संदिग्ध है। वैसे वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के जीवन के अन्त समय में विद्यमान थे। वल्लभाचार्य का समय १४७८ से १५३० तक माना जाता है। अनुमानतः उनका जन्म १४८३ के लगभग और मृत्यु १५८५ के लगभग हुई। सूर ने अपने जीवन के सम्बन्ध में लगभग कुछ नहीं लिखा। गुसाईं हरिराय (श्री हरिराय कृत 'भावप्रकाश'), 'भक्तमाल', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'आइने अकबरी', 'गोसाईं चरित', 'भक्ति विनोद' (मियाँसिंह कृत), 'रामरसिकावली' (रघुराजसिंह कृत) आदि में अनेक सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर निर्विवाद रूप से, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूरदास गायक थे, गऊघाट पर निवास करते थे, विनय के पद गाते थे, पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे, (सम्भवतः जन्मान्ध नहीं थे, किन्तु किस अवस्था में अंधे हुए, यह नहीं कहा जा सकता), 'सहस्रावधि पद किए', अकबर से भेंट की और अन्त में पारसौली में प्राण छोड़े।

उनके जन्म-स्थान के विषय में रुनकता और सीही दो ग्रामों का उल्लेख या जनश्रुति मिलती है, किन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार उनके माता-पिता, कुटुम्ब, संन्यास आदि के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय या उससे प्रभावित विद्वान् जहाँ उन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं, वहाँ एक दूसरा पक्ष उन्हें भट्ट या भट्ट ब्राह्मण मानता है और अपने समर्थन के लिए 'साहित्य लहरी' का ११८वाँ पद उद्धृत करता है, जिसमें कवि अपना नाम सूरज-

---

१. दे०, डॉ० शिवप्रसाद सिंह : 'सूरपूर्व व्रजभाषा और उनका साहित्य', वाराणसी, १९५८ ई०।

२. सूर ने अपने चारों ओर के जिस समाज का और जिस भावना से वर्णन किया है, वह जन्मांध द्वारा वर्णित नहीं हो सकता। सम्भवतः आत्मग्लानि के वशीभूत होकर ही उन्होंने अपने को जन्मान्ध कहा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चन्द लिखा है तथा अपने छः भाइयों के नाम भी लिखे हैं। किन्तु उक्त पद में वर्णित बातों के सम्बन्ध में स्वयं 'साहित्य लहरी' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। 'सूरसागर' के ६५३ से ६५७ तक के पदों में सूर ने अपने को 'ढाढ़ी' और 'जगा' कहा है :

'मैं तेरे घर कौ हौं ढाढ़ी, मो सरि कोउ न आना'

●

'नन्द उदै सुनि आयौ हो, वृषभानु को जगा।'

किन्तु एक तो दूसरे कवियों ने भी अपने को 'ढाढ़ी' लिखा है, दूसरे इन पदों का लाक्षणिक अर्थ ही लिया जा सकता है। अतएव उनकी जाति के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित नहीं।

सूरदास की रचनाएँ तथा विषय

सूरदास के ग्रन्थों में 'सूरदास', 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' (जिसमें दृष्टकूट के पद हैं) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' सूरदास कृत हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' को तो अप्रामाणिक ही मानना उचित होगा। पद १०९ में ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना देने के बाद पद ११८ में वंश-परम्परा दी गई है, जिसमें बताया गया है कि सूरदास सबसे छोटे थे। मुसलमानों से लड़ते-लड़ते उनके छः भाई मारे गए थे और वे स्वयं अंधे होकर इधर-उधर मारे-मारे फिरते थे। अन्त में भगवान् ने उनका उद्धार किया। 'मुनि पुनि रसन के रस' लेख का अर्थ भी विद्वानों ने १६७७ वि० अर्थात् १६२० ई० माना है, जो सूर की मृत्यु के बाद का समय है। उसमें वर्णित अलंकार और नायिका-भेद भी सूर जैसे भक्त के लिए उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में 'साहित्य लहरी' किसी भाट की रचना है। किन्तु 'सूरसागर' के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है। 'सूरगागर' की रचना १५३० के बाद मानी जाती है। उसका आधार भागवत है। उसमें १२ स्कंध हैं, जिनमें क्रमशः विनय, भक्ति, विष्णु के अवतारों तथा अन्य पौराणिक कथाओं का निरूपण (३-८), रामावतार और श्रीकृष्ण-चरित (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध—पूर्वार्द्ध अधिक विस्तृत है और उसमें गोकुल और ब्रज में रहनेवाले कृष्ण का वर्णन है, उत्तरार्द्ध में द्वारका-गमन के बाद की कथा है।) और ग्यारहवें तथा बारहवें अध्यायों में क्रमशः ५-५, ६-६ पद हैं। सूरदास ने भागवत को आधार अवश्य बनाया है, किन्तु 'सूरसागर' में मौलिकता का अभाव नहीं है। सूरदास कृत कही जानेवाली अन्य रचनाओं में 'भागवत भाषा', 'दशमस्कंध टीका', सूरदासजी के पद', 'नाग लीला', 'गोवर्द्धन लीला', 'सूर-पच्चीसी', 'प्राण प्यारी' या 'श्याम सगाई' और 'ब्याहलो' नामक ग्रन्थ 'सूर-सागर' के ही अंश हैं और 'नलदमन' या 'नल-दमयंती', 'हरिवंश टीका', 'राम-जन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' नामक रचनाएँ अन्य कवियों की रचनाएँ हैं, न कि प्रसिद्ध कवि सूरदास की।

३०-३२ वर्ष की अवस्था में सूरदासजा एक प्रसिद्ध संन्यासी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। जिस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई, उस समय वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनय के पद गाते थे और अत्यन्त दीन भाव प्रकट कर संसार की निःसारता का अनुभव करते थे :

'झूठे ही लगि जनम गँवायौ ।
भूल्यौ कहा स्वप्न के सुख में, हरि सौं चित न लगायो ।
कबहुँक बैठ्यौ रहसि-रहसि कै, ढोटा गोद खिलायो ।
कबहुँक फूलि सभा में बैठ्यो, मूँछनि ताव दिवायौ ।
टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढ़ै-टेढ़ै धायो ।
'सूरदास' प्रभु कौं नहिं चेतत जब लग काल न आयौ ।'

●

'हमारी तुमको लाज हरी ।
जानत हौं प्रभु अन्तरजामी जो मोहिं मोंझ परी ।
अपने औगुन कहौं लौ बरनौं पल-पल घरी-घरी ।
अति प्रपंच की मोट बाँधि कै अपने सीस धरी ।
खेवनहार न खेवत मेरैं अब मो नाव अरी ।
'सूरदास' प्रभु तव चरननि की आस लागि उबरी ।।'

किन्तु महाप्रभु ने 'घिघियाना' छुड़वाकर उन्हें गोपाल कृष्ण की भक्ति की ओर उन्मुख किया और उन्होंने वात्सल्य भाव का गायन किया । बाद को महाप्रभु के पुत्र स्वामी वि ठ्ठलनाथ से प्रभावित हो सूरदास ने कांता भाव या माधुर्य भाव से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण की आनन्द लीला में राधा को भी सम्मिलित कर लिया । उनकी रचनाओं में शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य (शृङ्गार भक्ति) पाँचों प्रकार के भक्ति-भाव समाविष्ट हैं किन्तु माधुर्य सम्बन्धी अंश सबसे अधिक हैं । उससे कम वात्सल्य सम्बन्धी अंश है ।

बाल कृष्ण को उन्होंने प्रेम और माधुर्य की मूर्ति के साथ-साथ शक्ति का प्रतीक भी माना है । उन्होंने भगवान् को विषय रूप आलंबन के रूप में और गोपियों, यशोदा आदि ने भगवान् को आश्रय रूप आलंबन के रूप में देखा है । बालकृष्ण के प्रति सूर ने आत्म-समर्पण कर दिया है । बाल्यकाल के मनोहर वर्णन से सूर की निरीक्षण शक्ति का परिचय प्राप्त होता है । उनका बाल-वर्णन मन को मुग्ध कर लेता है । उन्होंने बालक कृष्ण के विविध रूपों द्वारा अनेक मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किए हैं :

सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरुन चलत, रेनु तन मण्डित, मुख दधि लेप किए ।'

●

'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।
किति क बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।'

स्पर्द्धा का कैसा सुन्दर भाव है ! कवि ने जन्मोत्सव, छठी, नामकरण, अन्नप्राशन आदि लौकिक आचारों के भी मनोहर वर्णन किए हैं । सूर के अनेक पदों का सम्बन्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साम्प्रदायिक आचारों से भी है, जैसे कीर्तन, नित्य सेवा, गोचारण, वंशीलीला, भोजन, शयन आदि। ये सब बातें नित्य कीर्तन के अन्तर्गत रखी जाती हैं। नैमित्तिक कीर्तन के अन्तर्गत हिंडोला, चाँचर, फाग, बसन्त आदि के वर्णन हैं। ऐसे वर्णनों में अनेक वर्णन ऐसे भी हैं जिन्हें अनावश्यक विस्तार दिया गया है, जैसे भोजन-सामग्री की गणना। सूर ने जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की कृष्ण-काव्य-परम्परा से प्रभावित होते हुए राधा का चित्रण किया है। रास के प्रसंग में राधा का रूप-चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है :

'नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि जनु घन में दमकति है दामिनि।
सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि मुनि की है स्वामिनि।
ससि मुख तिलक दियो मृगमद को, खुरिला खुभी जराय जरी।
नासा तिल प्रसून बेसरि-छबि मोतियन माँग सुहाग भरी।
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गूँथे सुमन रसालहिं।
कबरी अति कमनीय सुभग सिर, राजति गोरी बालहिं।
सिगरी कनक रतन मुक्तामय, लटकति चितहि चुरावे।
मानी कोटि-कोटि सत मोहिनी, पांइनि आनि लगावै।
काम-कमान समान भौंहैं दोऊ, चंचल नैन सरोज।
अलि-गंजन अंजन-रेखा है, बरषत बान मनोज।
कंबु कंठ नाना मनि भूषन, उर मुकता की माल।
कनक किंकिनी नूपुर कलरव कूजत बाल मराल।.....'

सूर की राधा हिन्दी साहित्य में अनुपम स्थान रखती हैं। वे श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं से सम्बद्ध हैं। श्रीकृष्ण ने जब से उन्हें देखा है तभी से उन पर रीझे रहते हैं। राधा भोली, कृष्ण रसिक-शिरोमणि हैं। किन्तु राधा भी श्याम पर मन-ही-मन रीझी रहती हैं। बाल्य-काल से ही उनमें पूर्वानुराग द्वारा परस्पर सहज-स्वाभाविक रूप में आकर्षण और प्रेम तथा उत्सुकता का जन्म होता है। चिर-साहचर्य से उसे पुष्टि प्राप्त होती है। राधा का प्रेम एकान्त प्रेम है और वह अपनी पराकाष्ठा पर है। वे श्रीकृष्ण को देखते हुए भी विरह से व्याकुल रहती हैं। उनका प्रेम स्वच्छ और निर्मल है। संयोग के समय यदि राधा लीलापूर्ण हैं, तो विरह के समय वे गंभीर और मौन हो जाती हैं। गांभीर्य के साथ-साथ उनमें आत्म-समर्पण की दुर्लभ भावना है। सरलता उनमें अन्तिम समय तक रहती है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन में आलंकारिता, संगीतात्मकता, गीति-काव्यात्मकता और भाषा का अद्भुत माधुर्य प्रकट किया।

किन्तु राधा और गोपियों के बहाने सूर ने अपना ही भक्त-हृदय प्रकट किया है और प्रीति-निवेदन किया है। उनका प्रेम अलौकिक है और 'उज्ज्वल रस' की सृष्टि करता है। उनमें आत्म-समर्पण का भाव है। जयदेव, चंडीदास आदि ने राधिका का परकीया के रूप में वर्णन किया, किन्तु सूर ने स्वकीया के रूप में। उनकी राधिका का प्रेम सम्पूर्ण और गम्भीर सागर की भाँति है। उसमें वह व्याकुलता, वेदना और पीड़ा नहीं है जो जयदेव, चंडीदास आदि में मिलती है। उनके प्रेम की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी एक अलग ही व्याकुलता और वेदना है। उसका प्रेम निष्कलंक, निःस्वार्थ और परिमार्जित है। वियोग के समय भी राधा 'तड़पती' नहीं हैं। राधा के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और प्रेम में सरलता है। साथ ही साथ राधा के वर्णन में नख-शिख, दूती, षट्ऋतु आदि वर्णनों का साहित्यिक दृष्टि से निर्वाह हुआ है। किन्तु उनमें शृङ्गार की अपेक्षा धार्मिकता अधिक है। वास्तव में 'सूरसागर' में बालकृष्ण सम्बन्धी मनोवैज्ञानिकता, शृङ्गार-रसांतर्गत ऋतु-वर्णन और नख-शिख वर्णन, श्रीकृष्ण और राधा का रति-भाव-वर्णन, शृङ्गार के संयोग और वियोग, 'भ्रमरगीत' पक्ष का वर्णन, ये अंश मौलिकता की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। गोपियों और श्रीकृष्ण के प्रेम में सांकेतिक अर्थ माना जाता है—श्रीकृष्ण = ब्रह्म; मुरली = योगमाया; गोपियाँ = आत्मा। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में समस्त बाह्याडंबरों और लौकिक सम्बन्धों का परित्याग कर देती हैं। वास्तव में श्रीकृष्ण (ब्रह्म) सभी गोपियों (आत्माओं) में व्याप्त हैं।

सूर का साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व : भाषा और भाव की दृष्टि से सूर अत्यन्त उच्च कोटि के कवि हैं। उनमें तन्मयता है। उन्होंने ब्रजभाषा में मुक्तक काव्य और गीत-तत्त्व के सहारे कृष्ण-काव्य की एक विशेष परम्परा को जन्म दिया। अतएव व्यक्तिगत काव्य के आदर्शों की स्थापना में ही नहीं, किन्तु एक विशेष प्रवृति के प्रवर्त्तक होने की दृष्टि से भी सूर महान हैं। जीवन को उन्होंने व्यापक दृष्टि से तो नहीं देखा, जैसा तुलसी ने देखा था, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र के वे सम्राट हैं। सूर ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने वाले कवि थे।

सूर की रचना का प्रथम गुण माधुर्य है। उनमें ब्रजभाषा और संगीत दोनों का माधुर्य कोमल शब्दों और भावों के मिश्रण से उत्पन्न हो गया है। दूसरे, उन्होंने मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्रण किया है, नवीन प्रसंगों की मनोरंजक उद्भावना की है। उनमें मानव-हृदय की प्रायः सभी परिस्थितियाँ निहित हैं। सूर ने प्रेम और वात्सल्य भावों की व्यंजकता के जाने कितने सुन्दर पद कहे हैं। बालकों के क्षोभ का एक उदाहरण है।

'खेलत में को काको गोसैयाँ।
जाति पाँति हम तें कछु नाहिन, बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया।'

सूर ने प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं, किन्तु उसका सौन्दर्य एकमात्र श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से है। संयोगावस्था में प्रकृति आनन्द और उल्लास से पूर्ण रहती है, तो विरह में वही मलिन हो जाती है। प्रकृति-वर्णन में सर्वत्र सूर का आंतरिक उल्लास प्रकट होता है उदाहरण के लिए :

'कोकिल बोलो बन-बन-फूले, मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयो मोर रोर वंदिन को, मदन महीपति जागे।
ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहले दव दागे।
मानहु रतिपति रीझ जाचकनि बरन-बरन दये बागे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नई प्रीति, नई लता, पुहुप नए, नयन नए रस पागे।
नए नेह नव नागरि हरषित, 'सुर' सुरंग अनुरागे।'

तीसरे, उन्होंने भावों को स्पष्ट करने में सहायक और शक्ति देने वाले रसों और अलंकारों का अन्तर्दृष्टि के साथ प्रयोग किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त, लोकोक्ति, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का उन्होंने सुन्दर प्रयोग किया है। लोकोक्ति का एक उदाहरण देखिए :

'उलटी रीति तिहारी ऊधौ सुनै सो ऐसी को है।
अलप वयस अवला अहीर सठ तिनहिं जोग कत सोहै।
बूची खुगी, आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुड़ली पटिया पारौ चाहै, कोढ़ी लावै केसरि।
बहिरी पति सौं मतौ करे तौ, तैसोइ उत्तर पावै।
सो गति होइ सबै ताकी जो, कूबरि जोग सिखावै।'

कूटशैली का प्रयोग करते हुए उन्होंने युगल छवि का चित्र इस प्रकार अंकित किया है :

'देखे चारि कमल इक साथ।
कमलहिं कमल गहे लखत है, कमल कमल ही मध्य समात।
सारँग पर सारँग खेलत है, सारँग ही सौं हँसि-हँसि जात।
सारँग स्याम और हू सारँग सारँग सौं करैं बात।'

सूर ने रूपमाला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, सार, वीर, लावनी, चन्द्र, हरिप्रिया, हंसाल, मत्त-सवैया, सुखदा, कुण्डल आदि छन्दों का गेय पदों में प्रयोग किया है।

सूर ने बहुत नहीं कहा, किन्तु जो कुछ कहा है, उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने काव्य के लगभग सभी सिद्धान्तों का अत्यन्त कौशल के साथ पालन किया है। शृङ्गार के सुन्दर निरूपण के अतिरिक्त उनकी रचना में शांत के साथ-साथ हास्य और करुण रस भी मिलते हैं। साथ ही विरह की एकादश दशाएँ भी मिलती हैं। 'सूरसागर' का एक मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है, जो गोपियों की वचन-वक्रता, उपालंभ, सगुणोपासना का निरूपण, संवाद शैली आदि की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। एक स्थान पर गोपियाँ उद्धव को सुनाती हुई कहती हैं।

'ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ !
जाय करौ उपचार आपनौ, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धनु देखियत तहि नीकी।'

सूर का धार्मिक दृष्टि से महत्त्व : धार्मिक दृष्टि से सूर न तो धर्म-प्रवर्तक थे और न धर्म-प्रचारक। एक संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होते हुए भी उनकी रचनाओं में सांप्रदायिकता न्यूनातिन्यून मिलती है। पुष्टिमार्ग के कर्मकाण्ड, दार्शनिक सिद्धान्त उनकी रचनाओं में हैं अवश्य, किन्तु बहुत कम। तुलसी की भाँति उनका व्यक्तित्व भी साम्प्रदायिकता से ऊपर उठा हुआ था। सूर केवल कृष्ण-भक्त थे। अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंगों के सम्बन्ध में उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की। सूर की रचनाओं का एक अंश तो विनय वाला है और दूसरा वह है, जो शेष रचनाओं में मिलता है। विनय वाले अंशों में वे केवल भागवत धर्म के अनुयायी हैं। शेष रचनाएँ पुष्टिमार्ग के दृष्टिकोण से प्रभावित हैं—सामान्य ढंग से वल्लभाचार्य के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों के अनुसार सूर ने सामान्यतः कृष्ण को परब्रह्म माना है। माया को उन्होंने परब्रह्म के लीला-रूप और साधारण सांसारिक आकर्षणों के चक्र में डालने वाली शक्ति, दोनों रूपों में ग्रहण किया है। कहीं-कहीं पर तो स्वयं राधा माया-रूप में चित्रित की गई हैं। गोपियों, वंशी और रासलीला को लेते हुए सूर ने उनके सम्बन्ध में साहित्यिक रूपक बाँधे हैं। भक्ति-दृष्टि से सूर का दृष्टिकोण मण्डनात्मक ही अधिक है। केवल उद्धव-गोपी संवाद में खण्डनात्मकता मिलती है। उनकी रचनाओं के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार भक्ति, इन सब प्रकारों के उदाहरण मिलते हैं, यद्यपि प्राधान्य शृंगार-भक्ति का है।

सूरदास-रचित दो पद देखिए :

'निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास-प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहें बिसारे॥'

●

'ऊधौ भली भई ब्रज आए।
विधि कुलाल कीन्हें काँचे घट ते तुम आनि पकाए॥
रंग दीन्हौ हो कान्ह साँवरे, अँग-अँग चित्र बनाए।
पातै गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए॥
ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि सुरति आनि सुलगाए।
फूँक उसास बिरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए॥
भरे सँपूरन सकल प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राज काज तैं गए सूर-प्रभु, नन्द-नन्दन कर लाए॥'

वास्तव में तुलसी और सूर हिन्दी साहित्य-जगत् के सूर्य और चन्द्र हैं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों का उच्च स्थान है। भक्त-शिरोमणि सूर में जो तन्मयता और सरलता पाई जाती है, वह तुलसी को छोड़कर, अन्यत्र दुर्लभ है। सूर की स्तुति में ये दोहे ठीक ही कहे गए हैं :

'उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलवीर।
केशव अर्थ गम्भीर को, सूर तीन गुन धीर॥'
'किधौं सूर को सर लग्यो; किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्ददास

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद नन्ददास का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य कवियों का साहित्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है नन्ददास विट्ठल-नाथ के शिष्य थे। उनका प्रामाणिक जीवन अभी तक ज्ञात नहीं हो सका। नाभादास कृत 'भक्तमाल', गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित' के आधार पर की गई खोज के निष्कर्ष के फलस्वरूप केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे तुलसी के चचेरे भाई और सूर के समकालीन थे, चन्द्रहास नामक व्यक्ति से परिचित थे, रामपुर (एटा) के निवासी थे, जाति के ब्राह्मण थे, भक्त थे और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। नन्ददास के लगभग सोलह ग्रंथ मिलते हैं, किंतु उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं—'अनेकार्थमंजरी', 'नाममाला' या 'नाममंजरी', 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत'। पहले दो कोष हैं। 'रासपंचाध्यायी' में भागवत के आधार पर रास का वर्णन है और 'भँवरगीत' में सगुण और निर्गुण पर उद्धव-गोपी-संवाद है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ये दो रचनाएँ ही मुख्य हैं।

रासपंचाध्यायी : 'रासपंचाध्यायी' की रचना १५५३ के लगभग हुई। उसमें प्रवाह-गति का माधुर्य देखने योग्य है। उसमें जिस रस का वर्णन किया गया है, उसके परम्परानुसार, लौकिक और पारलौकिक दोनों ही पक्ष हैं। नन्ददास ने पारलौकिक पक्ष ही ग्रहण किया है :

'परमातम परब्रह्म, सबन के अन्तरजामी।
नारायन-भगवान धरम करि सबके स्वामी।'

श्रीकृष्ण को परमात्मा और गोपियों को आत्मा मान लेने पर नन्ददास की कविता का पारलौकिक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। कुछ लोग तो इस रचना को हिन्दी का 'गीतगोविन्द' कहते हैं। उसमें शृङ्गार, शान्त और करुण का अत्यन्त विशद वर्णन है और माधुर्य तथा प्रसाद गुणों की प्रधानता है। प्रसाद गुण का सम्बन्ध अर्थ से होता है। नन्ददास की रचना में यह गुण विशेष रूप से विद्यमान है :

'ह्वै गई बिरह विकल सब पूंछति द्रुम बेली बन।
को जड़, को चैतन्न न जानत कछु विरही जन॥
हे मालति! हे जाति जूथके! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधर न लखे इत॥
अहो असोक! हर सोक, लोकमनि! पियहु बतावहु।
अहो पनस! सुख-मनस मरति पिय अमिय पियावहु॥
जमुना तट विटप पूंछि भई निपट उदासी।
क्यों कहिहैं सखि! महा कठिन तीरथ के बासी॥'

शब्द कोमल हैं, संयुक्ताक्षरों का प्रयोग नहीं हुआ है और वर्णन संगीतमय शब्दों में किया गया है। उसमें पद-योजना और अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, 'रासपंचाध्यायी' से अनुप्रास का एक उदाहरण इस प्रकार है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'इत महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत।
उत घनसार तुसार मिली मन्दार झकोरत॥
इत लवंग-वन-रंग एलची झेलि रही रस।
उत कुरबक, केवरौ, केतकी गंध-गंध वस॥'

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का भी एक उदाहरण इस प्रकार है :

'गोरे तन की छूटि छवि छाइ रही धर।
मानौ ठाढ़ी सुभग कुँवरि, कंचन अवनी पर॥'

'रासपंचाध्यायी' में छन्द का स्वच्छन्द प्रवाह मिलता है। नन्ददास ने भाव-निरीक्षण में अपनी काव्य-कला का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है, मनुष्य के गूढ़तम भावों को अन्तर्दृष्टि से देखा है। 'रासपंचाध्यायी' में वियोग, संयोग और प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं। बाह्य प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी ये पंक्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं :

'कुसुम धूरि धुंधरी कुंज, छवि पुँजन छाई।
गूंजत मंजु मलिंद बैंनु जनु बजति सुहाई॥
इत महकति मालती, चारु चंपक चित चोरत।
उत घनसार तुसार मिली मन्दार झकोरत॥
इत लवंग-नव-रंग एलची झेलि रही रस।
उत कुरवक केबरौ केतकी गंध-गंध बस॥
इत तुलसी छबि हुलसी छाँड़ति परिमल पूटैं।
उत कमोद-आमोद गोद भरि सुख लूटैं॥'

इस ग्रन्थ की भाषा का प्रवाह भी अत्यन्त स्वाभाविक और सरस है। कहा जाता है; नन्ददास के अलफ़ाज रेशम पर मोती की तरह ढलकते हुए चले जाते हैं। शब्दों में विकृति नहीं है, वे यथास्थान सजे रहते हैं। वास्तव में नन्ददास के लिए यह बहुत ठीक कहा गया है—'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया'। अनुप्रास, चित्र-शक्ति, ईश्वरोन्मुख प्रेम, शब्दों के चुनाव आदि की दृष्टि ने नन्ददासकृत 'रासपंचाध्यायी' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

'नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कटतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥
साँवरे पिय के संग नृतत या ब्रज की बाला।
जनु घनमण्डल मंजुल खेलति दामिनि माला॥'

'भँवरगीत' : भ्रमरगीत हमें सर्वप्रथम भागवत के दशम स्कंध (पूर्वार्द्ध, अध्याय ४६-४७) में मिलता है। उसके आधार पर सूरदास, नन्ददास, हित वृन्दावन-दास, प्रागन कवि, रीवा-नरेश रघुराजसिंह, सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथदास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रत्नाकर' ('उद्धवशतक') आदि कवियों ने भ्रमरगीत की परम्परा को जारी रखा। इन कवियों द्वारा रचित भ्रमरगीतों की तुलना अध्ययन का एक रोचक विषय होगा। नन्ददास कृत 'भँवरगीत' के कथा-प्रसंग और क्रम में अपनी मौलिकता है। 'भँवरगीत' में दार्शनिकता, अलंकारों की योजना और मनोवैज्ञानिक चित्र हैं। छन्द, रोला और दोहा के मिश्रण से बना एक नवीन छन्द है। दार्शनिकता की दृष्टि से भक्ति का निरूपण करते समय नन्ददास गोपियों द्वारा तर्क कराते हैं :

'जौ उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तैं ?
बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ कहाँ तैं ?
वा गुन की परछाँह की माया दरपन-बीच।
गुन तैं गुन न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच।
सखा सुनु स्याम के ॥'

गोपियों के प्रेम से उद्धव की ज्ञान-गरिमा नष्ट हो जाती है और वे भी प्रेममय हो जाते हैं :

'प्रेम प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकासी।
दुविधा ग्यान गिलानि मंदता सिगरी नासी।
कहत मोहिं विस्मय भयो हरि के ये निज पात्र।
हौं तो कृतकृत ह्वै गयो इनके दरसन मात्र ॥
मेटि मल ग्यान को ॥'

भक्ति की दृष्टि से नन्ददास का यही उद्देश्य था। सगुण भक्ति के लिए प्रेम और आत्म-समर्पण ही प्रधान है। 'भँवरगीत' में कवि ने उसका वही रूप रखा है जप, तप, योग आदि साधनों द्वारा निर्गुण ब्रह्म को समझना दुष्कर है। केवल ऐकान्तिक प्रेम द्वारा परमानन्द का अनुभव किया जा सकता है। यह भक्ति गोपियों को सुलभ थी। नन्ददास ने बड़े ही सरल रूप में उसी को अपनी प्रतिभा द्वारा 'भँवरगीत' में प्रस्तुत किया है।

काव्य की दृष्टि से 'भँवरगीत' उतना अधिक सुन्दर नहीं बन पड़ा जितना 'रासपंचाध्यायी' है। इस ग्रंथ में शृङ्गार रस प्रधान और शांत तथा अद्भुत गौण हैं। साथ ही कवि ने वियोग की एकादश दशाओं को उसमें स्थान दिया है। भाषा की दृष्टि से उसमें कहावतों, मुहावरों, शब्द-चित्रों आदि के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। वास्तव में नन्ददास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने काव्य की अनेक शैलियों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। नन्ददास के विचारों पर शास्त्रीय और साम्प्रदायिक छाप भी पाई जाती है और वे युक्ति और तर्क का आश्रय ग्रहण करते हैं। 'भँवरगीत' से कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

'कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासौं कहो ऊधो;
हमारे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैन बैन स्रुति नासिका मोहन रूप लखाय,
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगोरी लाय।
सखा सुनु स्याम के॥
यह सब सगुन उपाधि रूप निर्गुन है उनको,
निराकार निर्लेप लखत नहिं तीनों गुन को।
हाथ न पाऊँ न नासिका, नैन, बैन नहिं कान,
अच्चुत जोति प्रकासहीं सकल विस्व को प्रान।
सुनो ब्रजनागरी॥
जो मुख नाहिन हुतो कहा किन माखन खायो,
पायन बिन गोसंग कहो बन-बन को धायो।
आँखिन में अंजन दयो गोबरधन लयो हाथ,
नन्द जसोदा पूत हैं कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुनु स्याम के।'

हितहरिवंश

भक्ति-साहित्य की दृष्टि से कृष्ण-काव्य में अष्टछाप के कवियों के बाद हित-हरिवंश (१५०२ में जन्म) का नाम उल्लेखनीय है। उनका रचना-काल १५४३ से १५८३ तक माना जाता है। उनके पदों में सरसता और सिद्धान्तों में मौलिकता पाई जाती है। उन्होंने राधा-वल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की। यही सम्प्रदाय हित सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। पहले वह मध्वानुयायी थे, किन्तु बाद को अपना अलग-सम्प्रदाय चलाया। हित जी के सम्प्रदाय में राधा की आराधना, सखी भाव, महाप्रसाद की निष्ठा, विधि-निषेध का सर्वथा त्याग और अनन्य दास-भाव आदि बातें प्रधान हैं। कृष्ण प्रियतम होने के कारण मान्य और राधा-प्रसाद-प्राप्ति के लिए आकुल रहते हैं। वे युगल रूप में ब्रज में क्रीड़ा किया करते हैं। स्वयं हित जी कृष्ण जी की वंशी के अवतार समझे जाते थे। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त ब्रजभाषा में रचित उनका 'हित चौरासी' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। वर्णनात्मकता के साथ-साथ भाव-व्यंजना की मधुरता उनकी रचना की विशेषता है। 'हित चौरासी' पर कई टीकाएँ भी लिखी गई हैं।

हित जी की कविता का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है;

'ब्रज नव-तरुनि-कदम्ब-मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी;
नख-सिख लौं अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी।
यों राजत कबरी गूंथित कच कनक-कंज-बदनी;
चिकुर चंद्रकनि बीच अरघ-विधु मानहुँ ग्रसत फनी।
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमन्त ठनी;
भृकुटि काम-कोदंड नैन-सर कज्जल रेख अनी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरल तिलक ताटंक गंड पर नासा जलज मनी;
दसन कुन्द सरसाधर-पल्लव पीतन मन-समनी ॥'
आदि

मीराँ

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में राजस्थान की मीराँ का भी विशेष स्थान है। हिन्दी काव्य की कोकिला मीराँ ने माधुर्य भाव (दाम्पत्य भाव) में भक्ति-भावना ग्रहण कर और स्वयं विरहिणी बनकर अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण से विरह की भिक्षा माँगी।

मीराँ का जीवन-वृत्त पूर्णरूप से विश्वस्त नहीं है। उनकी रचनाओं में भी कितना अंश स्वयं मीराँ का है, यह कहा नहीं जा सकता।

मीराँ ने अपने पदों में अपने सम्बन्ध में यत्र-तत्र उल्लेख किए हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका जन्म राजस्थान के राठौर वंश में हुआ था। उनकी जन्म-भूमि मेड़ता थी, इसलिए उनका नाम मेड़तणी प्रचलित हुआ। माता-पिता से उनका बचपन में ही वियोग हो गया था। उनका विवाह सिसौदिया वंश के राणा के साथ हुआ। वे कृष्ण-भक्ति में लीन रहती थीं, जो रैदास तथा साधुओं के सत्संग से और भी अधिक दृढ़ हुई। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने के कारण उन्हें अपनी ससुराल में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी ननद ऊदावाई और सास ने उनका विरोध किया, किन्तु वे अपने मार्ग पर दृढ़ रहीं। राजवंश की मर्यादा के विचार से राणा को भी उनकी भक्ति तथा उनका सत्संग पसन्द नहीं था। एक बार उनके पास विष भेजा गया, किन्तु वह अमृत बन गया और पिटारी में बन्द भेजा गया साँप पुष्पहार में परिवर्तित हो गया। मीराँ ने कृष्ण-भक्ति के वशीभूत हो वंश की लज्जा और लौकिक मर्यादाओं को त्याग दिया था। उन्होंने अपनी जन्म-तिथि और वैधव्य का उल्लेख नहीं किया।

वास्तव में अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कही गई बातें उस समय तक प्रामाणिक या अप्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं जब तक मीराँबाई की रचनाओं का मूल पाठ निर्धारित न हो जाय। उदाहरणार्थ, स्थान और काल की दृष्टि से, मीराँ के सन्त रैदास की शिष्या होने में संदेह है।

बाह्य साक्ष्य के अनुसार मीराँ का जीवन-वृत्त अनेक अलौकिक घटनाओं से पूर्ण और केवल परिचयात्मक है। तिथि आदि का निर्देश भी प्रायः नहीं मिलता। नाभादासकृत 'भक्तमाल', प्रियादास कृत 'भक्तमाल की टीका' और सीतारामशरण भगवानप्रसाद कृत 'भक्तमाल' की टीका में मीराँ की भक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। 'चौरासी' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में मीराँ सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र वार्ता नहीं है। किन्तु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में गोविन्द दुबे, पुरोहित रामदास और कृष्णदास की वार्ताओं में और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में हरिदास बनिया और कुंवर बाई की वार्ताओं में मीराँ का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। उनसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि मीराँ पुष्टिमार्गी नहीं थीं। वेणीमाधव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दास ने 'गोसाईं चरित' में तुलसी और मीराँ के पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता में संदेह है। १७४३ में दयाराम ने 'मीराँ चरित्र' में और राधाबाई ने 'मीराँ माहात्म्य' में केवल मीराँ की भक्ति और उनके विष-पान का वर्णन किया है, ध्रुवदास ने अपनी 'भक्तनामावली' में उनका थोड़ा-सा संकेत दिया है। गुसाईं हित हरिवंश के शिष्य हरिराम व्यास की 'वानी' में भी मीराँबाई का उल्लेख हुआ है जिससे पता चलता है कि मीराँबाई हरिराम व्यास की समकालीन थीं। हरिराम व्यास का समय १५६५ ई० के आसपास माना जाता है। अतः मीराँबाई भी इस समय जीवित थीं। आगे चलकर देव कवि ने कवित्तों में मीराँबाई की माधुर्य भाव की भक्ति की अभिव्यंजना की। महाराष्ट्र के कवि महीपति ने 'भक्तिविजय' (१७६३) में मीरा का उल्लेख करते हुए भौतिक जीवन के प्रति असन्तोष की भावना का जिक्र किया है। कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने 'Milestones in Gujarati Literature' में और मैकॉलिफ (Macaulif) ने "The Legend of Mira Bai" में अधिकतर जनश्रुतियों का ही आश्रय लिया है। इस प्रकार की लौकिक-अलौकिक जनश्रुतियों का अत्यधिक विस्तार रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह कृत 'भक्तमाल' में मिलता है। मीराँ के सम्बन्ध में और भी न जाने कितनी जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

मीराँ के सम्बन्ध में प्रथम संबद्ध ऐतिहासिक विवरण हमें कर्नल जेम्स टॉड के 'Annals and Antiquities of Rajasthan' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इनके अतिरिक्त हरिविलास सारदा, मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अन्य अनेक आधुनिक लेखकों ने मीराँ के सम्बन्ध में लिखा है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रकाश में नहीं आ पाया। जो कुछ ज्ञात हुआ है, उसके आधार पर मीराँ के जीवन के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार कही जा सकती हैं : मीराँ रत्नसिंह की पुत्री थीं, उनका जन्म १४९८ के लगभग कुड़की नामक गाँव में हुआ, १५१६ में भोजराज से उनका विवाह हुआ, १५२३ के लगभग वे विधवा हुईं, १५३१ में रत्नसिंह की मृत्यु हुई, वे कृष्ण-भक्त थीं, उनकी अकबर से भेंट हुई और ७५ वर्ष की अवस्था में १५७३ में उनकी मृत्यु हुई। इनमें भी अभी अनेक बातें विवादास्पद हैं।

मीराँ ने विशेष रूप से पद-रचना की थी। किन्तु उनके पदों की अनेक टीकाएँ और संग्रह निर्मित हुए। उनके ग्रन्थ चार कहे जाते हैं—'नरसी जी का माहरा', 'गीत गोविन्द की टीका', 'राग गोविन्द' और 'राग सोरठ'।

मीराँ की भक्ति : जनश्रुति के अनुसार मीराँ रैदास की शिष्या थीं। कहीं-कहीं पर स्वयं मीराँ के पदों में इस बात का उल्लेख हुआ है। परन्तु ये पद बहुत प्रामाणिक नहीं माने जा सकते, क्योंकि रैदास के सम्बन्ध में साँगा की माता झाला रानी का नाम लिया जाता है और मीराँ कृष्ण-भक्ति का अनुसरण करने वाली थीं, जब कि रैदास रामानन्दी थे। सम्भवतः मीराँ और रैदास के संपर्क में कोई साम्प्रदायिक बाधा न रही हो। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्थान और काल की दृष्टि से भी इस सम्बन्ध में कठिनाई है। स्वयं मीराँ का किस सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था, यह स्पष्ट नहीं है। उनके पदों पर 'गीतगोविंद' की छाप पाई जाती है। संभव है उनका सम्बन्ध निंबार्क सम्प्रदाय से रहा हो। उन्हें रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी की शिष्या भी बताया जाता है, किन्तु समय और भक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत संगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में अभी तक मीरां का सम्बन्ध किसी सन्त या सम्प्रदाय विशेष से स्थापित नहीं किया जा सकता। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस युग की विचारधारा और भक्ति-उपासना-पद्धति का ही उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान में रहते हुए सन्तों और रामानन्दी साधुओं का, वृन्दावन आने पर भागवत धर्म के अन्तर्गत पुष्टिमार्ग, निम्बार्क सम्प्रदाय, टट्टी सम्प्रदाय आदि के वातावरण का और अन्त में स्वयं अपने कुल-धर्म का उन पर प्रभाव पड़ा और वे श्याम के रंग में रँग गईं। उनके पदों में वे पद मुख्य हैं जिनका सम्बन्ध प्रेम से है और जिनमें उनके वास्तविक हृदयोद्गार पाए जाते हैं। उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम की लौ जलाई और अपने अन्तरतम की पीड़ा को सरलतम शब्दों में व्यक्त किया :

'ऐसी लगन लगाय कहाँ तू जासी।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है, तलफ-तलफ जिय जासी॥
तेरे खातिर जोगण हूँगी, करबत लूँगी कासी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल की दासी॥'

उनकी यह पदावली विशुद्ध गीति-काव्य का रूप प्रस्तुत करती है। उनकी पदावली में कोई विशेष दार्शनिक या आध्यात्मिक पद्धति ढूंढ़ना अनुचित होगा वैसे शाण्डिल्य की भक्ति के अनुरूप उनकी भक्ति मिलती है। उनके हृदय में इष्टदेव के प्रति जो अनुराग या प्रेम है, वह दृढ़ होता ही जाता है और धीरे-धीरे भक्ति का रूप धारण कर लेता है। उनकी विशुद्ध भक्ति में सब सम्बन्धों को तोड़ कर इष्टदेव के प्रति आत्मसमर्पण है :

'तुमरे कारण सब सुख छोड्या अब मोहि क्यूं तरसावो हो।
बिरह बिथा लागी उर अन्तर, हँस कर तुरत बुलावो हो॥
अब छोड़त नहिं बनै प्रभू जी, हँस कर तुरत बुलावो हो।
मीरां दासी जनम-जनम की, अङ्ग से अङ्ग लगावो हो॥'

और आत्मसमर्पण के बाद अभेद की भावना है। उनमें सच्ची लगन और हृदय का अनुभव प्रधान है।

उनकी रचनाओं में तुलसी और सूर के विनय-पदों की या सूर के कृष्ण-लीला के पदों की, कबीर और रैदास के निर्गुण पदों की, चण्डीदास, विद्यापति और नरसी मेहता के मधुर भाव की और प्रियतम से मिलने की उनकी अपनी तीव्र उत्कंठा की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। उदाहरणार्थ, तुलसी के स्वर में स्वर मिला कर वे गा उठती हैं :

'राम नाम रस पीजे मनुआ राम नाम रस पीजे।
तज कुसंग सत्संग बैठ नित हरि चरचा सुण लीजे।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा :

'छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना ।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहो ना ।।
जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन जोर मोर प्राण हरो ना ।।
वृन्दावन की कुंज गली में, रीत छोड़ अनरीत करो ना ।।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण-कमल चित टारे टरो ना ।'

में वे सूरदास के कृष्ण-लीला-पदों की समानता करती हैं साथ ही :

'सखी री मैं तो गिरधर के रँग राती ।
पँचरँग मेरा चोला रँगा दे, मैं झुरमुट खेलन जाती ।
झुरमुट में मेरा साईं मिलेगा खोल अडम्बर गाती ।।

में कबीर आदि सन्तों, और

'तुम्हारे कारण सब सुख छोड्या; अब मोहिं क्यूं तरसावो ।
बिरह बिथा लागी उर अन्तर सो तुम आन भुलावो ।।
अब छाड्याँ नहिं बनैं प्रभू जी हँसकर तुरत बुलावो ।
मीराँ दासी जनम-जनम की अंग सूं अंग लगावो ।।'

में चंडीदास और विद्यापति के अनुरूप उनके उद्गार हैं । उनके हृदय के तीव्र आवेश की व्यंजना का उदाहरण इस प्रकार है :

'मैं हरि बिन क्यूं जिऊँ रे माई ।
प्रिय कारण बौरी भई, ज्यूं काठहि घुन खाइ ।
औखद मूल न संचरैं, मोहि लाग्यो बौराइ ।।'

अपने गिरधर के विरह में वे गा उठती हैं :

'मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ।।
रैण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर गए उठि आऊँ ।
रैण-दिना वाके सँग खेलूं, ज्यूं-त्यूं वाहि रिझाऊँ ।।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ ।।
जहाँ बैठावे तितही बैठूं बेचै तो बिक जाऊँ ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ ।।

उनकी भक्ति के दो ही प्रधान पक्ष हैं—विनय और विरह । मीराँ ने नारी की मर्यादा रखते हुए नारी प्रकृति के प्रेम और विरह, प्रेम और भक्ति का जो सुन्दर एवं पवित्र चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है । वे पूर्ण रूप से अपने गिरधर गोपाल पर अवलंबित रहती हैं । उन्हीं की भक्ति के उल्लास में वे नाच उठती हैं :

'पग घुंघरू बाँध मीराँ नाची रे ।
मैं तो अपने नारायण की, आपहि हो गइ दासी रे ।
लोग कहैं मीराँ भई बावरी, न्यात कहै कुलनासी रे ।।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्होंने अपने भगवान् का उल्लेख 'प्रियतम', 'योगी', 'सगुण ब्रह्म', 'प्रणय लीलाकारी' आदि रूपों में किया है। उन्हीं से विरह होने पर उन्होंने अपने हृदय की वेदना का अत्यन्त सहज-स्वाभाविक और गम्भीर एवं मार्मिक चित्रण किया है। उनका विरह न तो खिलवाड़ है और न ऊहात्मक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण। उसमें सरलता और आत्म-निवेदन है। मीराँ के भगवान् प्रियतम पुरुष हैं जिनकी दासी मीराँ नारी है जो अपने प्रियतम के विरह में पागल बनी घूमती है। मीराँ का प्रेम ही उनकी साधना है :

'सखी री मेरी नींद नसानी हो।
प्रिय को पन्थ निहारत सिगरी रैण विहानी हो॥
●
मीराँ व्याकुल विरहिणी सुध-बुध बिसरानी हो॥'

यही प्रेम-साधना विरह की मार्मिक पीड़ा में परिवर्तित हो जाती है। मीराँ प्रेम-योगिनी थीं। उनकी प्रणयानुभूति और विरह-पीड़ा की अभिव्यक्ति रहस्यवाद की भावना से ओतप्रोत है। उनका यह रहस्यवाद अत्यन्त सरल और स्वाभाविक शैली में व्यक्त हुआ है। उसमें दुरूहता और जटिलता नहीं, वरन् नारी-हृदय की साधना का सहज और सच्चा प्रतिबिंब है।

साहित्यिक दृष्टि से मीराँ का महत्त्व : गेय, तीव्रानुभूति-प्रधान, अंतर्मुखी, सरल, स्वच्छंद गतिपूर्ण और संक्षिप्त होने के कारण गीति-काव्य की दृष्टि से मीराँ की रचनाएँ आदर्श हैं। उनमें न तो अलंकार सम्बन्धी और न काव्य-परम्परा के छन्द, रस, नख, षट्ऋतु आदि अन्य अंगों से सम्बन्धित विषयों में पाण्डित्य प्रदर्शित किया गया है। स्वच्छन्द भावों की गति के साथ-साथ छन्द की गति भी बदल जाती है। काव्य के गुण तो उनकी रचनाओं में स्वयमेव आ गए हैं। वास्तव में मीराँ तो प्रेम-योगिनी हैं, काव्य के बाह्य गुणों का पालन करनेवाली कवयित्री नहीं। वे सम्भवतः अपने इष्टदेव के सामने कीर्तन किया करती थीं। इसलिए उनके पदों में भावुकता और आवेश ही प्रधान हैं। उनकी भावना स्वतन्त्र रूप में प्रवाहित हुई है। विविध राग-रागिनियों में उनके हृदय की दशाओं के मार्मिक चित्रण मिलते हैं। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन और पौराणिक व्यक्तियों का उल्लेख भी किया है। मीराँ के पदों की भाषा बहुत अनिश्चित है, क्योंकि बहुत दिनों से वे मौखिक रूप में रहे हैं। उसके राजस्थानी-मिश्रित ब्रज-रूप के अतिरिक्त उसमें गुजराती, पूर्वी और खड़ीबोली के रूप भी मिलते हैं। वास्तव में उनकी भाषा मारवाड़ी थी। किन्तु काव्य-भाषा ब्रज-भाषा में उन्होंने रचना की हो, यह असम्भव नहीं है। वे स्वयं वृन्दावन आई भी थीं। इस समय उनकी जो पदावली उपलब्ध है, उसमें तो राजस्थानी और ब्रज का ही मिश्रण है। आडम्बरहीनता, मधुरता, सरलता, स्पष्टता उसके गुण हैं। उनकी भाषा में कोमलकांत-पदावली की अनुपम छटा है। दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :

'हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय॥टेक॥
सूली ऊपरी सेज हमारी, किस विध सोणा होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घायल की गत घायल जानै, को जिन लाई होय।
जौहरी की गत जौहरी जानै, की जिन जौहर होय॥
दरद की मारी बन-बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय॥'

●

'आली रे मेरे नैनन बान पड़ी ॥टेक॥
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी॥
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्रान पिया बिन राखूं, जीवन मूल जड़ी॥
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥

रसखान

सुजान रसखान मुसलमान पठान सरदार थे। वे इस बात के प्रमाण हैं कि कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत मधुर भाव ने सब प्रकार के बन्धन तोड़कर अन्य धर्मावलंबियों को भी आकृष्ट किया। वे गोसाईं बिट्ठलनाथ से दीक्षा लेकर कृष्ण-प्रेम में तन्मय हो उठे। उनकी कविता का रचना-काल १६१४ माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' हैं। रसखान के प्रेम में जितना रस है उतना बहुत कम कवियों में मिलता है। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति गीतिकाव्य न अपना कर उन्होंने कवित्त-सवैयों में सच्चे प्रेम की अभिव्यंजना की। उनका लौकिक प्रेम ही भगवद्भक्ति में परिणत हो गया था। 'प्रेमबाटिका' में दोहे और 'सुजान रसखान' में कवित्त-सवैये हैं। उनकी रचनाओं में व्रजभाषा का सहज और स्वाभाविक रूप मिलता है। उनके ये छन्द अत्यधिक प्रसिद्ध हैं :

'मानुस हों तौ वही रसखानि बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पसु हों तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हों तौ वही गिरि को जो भयो व्रज-छत्र पुरंदर कारन;
जो खग हों तौ बसेरो करौं उन कालिंदी-कूल कदंब की डारन।'

●

'वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं;
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
कोटिन ए कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं;
रसखानि सदा इन नैनन सों व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।'

अन्य कवि : कृष्ण-काव्य-काल में हितवृन्दावन, नरोत्तमदास, गर्ग, बलभद्र मिश्र, रहीम, सेनापति आदि अन्य अनेक कवि हुए जिन्होंने भक्ति-परक अथवा सामान्य कृष्ण सम्बन्धी या अन्य प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन कवियों की रचनाओं का समय अकबर का राजत्व-काल था। साथ ही उस समय शृंगार, नीति, भक्ति आदि सभी प्रकार की कविताओं के लिए द्वार खुल गया था और व्रजभाषा पुष्ट हो चली थी। उस समय मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाएँ होने लगीं थी। ऐसे कवियों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में से विशेष रूप से नरोत्तमदास, रहीम और सेनापति ने हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया।

नरोत्तमदास

नरोत्तमदास सीतापुर में बाड़ी नामक स्थान के निवासी थे। उनका जन्म १५४५ के लगभग माना जाता है। उनका 'सुदामा चरित' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि यह ग्रन्थ छोटा है, तो भी मार्मिकता, सरलता और भावुकता की दृष्टि से पूर्ण है। उनकी भाषा भी व्यवस्थित और परिमार्जित है। उनकी रचना से एक उदाहरण इस प्रकार है :

'सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु ! जाने को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥'

रहीम

अकबरी दरबार के कवि रहीम (१५५३-१६२६) अकबर के विशेष विश्वास-पात्र थे, किन्तु जहाँगीर से उनका विरोध था। वे संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के पंडित थे। वे तुलसी के स्नेह-पात्र थे। संसार का उन्हें गहरा अनुभव था। उनके एक-एक दोहे में जीवन का गहरा अनुभव भरा हुआ है। बरवै नायिका-भेद और नीति के दोहे उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उन्हें व्रजभाषा और अवधी पर समान रूप से अधिकार था। उनके 'रहीम दोहावली', 'बरवै नायिका-भेद', 'मदनाष्टक', 'शृङ्गार सोरठ', 'रासपंचाध्यायी' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनकी रचना के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :

'फरजी साह न ह्वै सके गति-टेढ़ी तासीर;
रहिमन सूधी चाल ते प्यादो होत वजीर।
कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय;
पुरुष-पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।
जे गरीब को आदरैं ते रहीम बड़ लोग;
कहा सुदामा बापुरो कृष्ण-मिताई जोग।
खैर खून खाँसी खुसी बैर प्रीति मधुपान,
रहिमन दाबे ना दबैं जानत सकल जहान।'

●

'खीन मलिन विष भैया औगुन तीन;
पिय कह चंद-बदनियाँ, अति मतिहीन।
बालम अस मनु मिलयउँ जस पय पानि;
हंसिनि भई सवतिया लइ बिलगानि!'

सेनापति

सेनापति अनूप शहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म १५८९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लगभग माना जाता है। उनकी विशेष ख्याति ऋतु-वर्णन के कारण है। ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में प्रकृति-वर्णन प्रायः उद्दीपन रूप में ही पाया जाता है। किन्तु सेनापति ने ललित पद-विन्यास और अपनी भावुकता का आश्रय ग्रहण कर स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का वर्णन किया। उनकी गर्वोक्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं। मुसलमानों के यहाँ मान पाते-पाते उन्हें विरक्ति हो गई थी :

'केतो करौ कोई, पैए करम लिखोई, तातें
दूसरो न होइ, उर सोइ ठहराइए।
आधी ते सरस बीती गई है बरस, अब
दुर्जन-दरस कीच रस न बढ़ाइए॥
चिन्ता अनुचित, धरु धीरज उचित
सेनापति ह्वै सुचित्त रघुपति गुन गाइए।
चारि-बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए॥'

उनके 'कवित्त-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में भक्ति-परक छन्द भी मिलते हैं :

'महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन दुख-दंदनि में जात है विहाय कै।
सुख को न लेस है, कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याहि तें कहत अकुलाय कै॥
आवै मन ऐसी घर-बार परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में, वृन्दावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै॥'

किन्तु एक तो इस प्रकार के छन्द बहुत कम हैं, दूसरे उनके इष्टदेव राम प्रतीत होते हैं। उनकी कविता में अलंकारों का सुन्दर निरूपण हुआ, विशेषतया श्लेष, अनुप्रास और यमक का। उनकी ब्रजभाषा प्रौढ़ होते हुए भी मधुर और सरस है। भाषा पर उनका जैसा अधिकार कम ही देखा जाता है। उनके अनेक छन्द इस प्रकार के हैं जिनसे उनकी काव्य-प्रतिभा और भाषा-सौष्ठव प्रकट होता है :

'दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुन धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ।
आई सुधि वर की हिये में आनि खरकी,
सुमिरि-प्रान-प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके श्लेष का एक उदाहरण देखिए :

'नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगें सब दैन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार-बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति;
सदा सुभ जनमन भावै निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन-कन जोरै दानपाठ परवार है।
सेनापति वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इकसार है॥'

इसी प्रकार :

'सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै।'

जैसे अन्य अनेक छन्दों से सेनापति के प्रकृति-निरीक्षण का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा ईसा की सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भी बराबर बनी रही, यद्यपि अब उसमें वह शक्ति और आवेग न रह गया जो उसके प्रारम्भिक काल में था। उपर्युक्त अन्य कवियों में हितहरिवंश की परम्परा में ध्रुवदास का जन्म सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। उनका कविता-काल सत्रहवीं शताब्दी में माना जाता है। उनके लगभग चालीस ग्रन्थों का पता चला है। सब-की-सब रचनाएँ उन्हीं की हैं, इस सम्बन्ध में अंतिम निर्णय नहीं हो सका। उनमें राधा और कृष्ण की प्रेम-गाथाएँ हैं। इसी प्रकार घनानन्द या आनन्दघन प्रसिद्ध हैं। उनकी मृत्यु नादिरशाह के आक्रमण के समय १७३९ में हुई। उनके 'रसकेलिवल्ली', 'सुजान सागर', 'बानी' आदि ग्रन्थ हैं। वे अपनी ब्रजभाषा की शुद्धता के लिए प्रसिद्ध हैं और उन्होंने भी राधा-कृष्ण के बिहार पर लिखा है। नागरीदास वल्लभ-कुल के शिष्य थे। वे कृष्णगढ़ के राजा यशवन्तसिंह ही हैं। उनकी ७३ पुस्तकों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। हितहरिवंश की परम्परा में 'राधासुधाशतक' के रचयिता श्री हठी जी भी एक प्रसिद्ध कवि हैं। उन्होंने राधा के सम्बन्ध में भक्ति-भावना से पूर्ण अत्यन्त सुन्दर कवित्त लिखे हैं। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। इस रचना से उनकी काव्य-मर्मज्ञता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्ण-काव्य का महत्त्व

कृष्ण-भक्ति साहित्य ने सैकड़ों वर्षों तक भक्तजनों का हृदय मुग्ध किया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में इस भावधारा को प्रेरणा देने का श्रेय गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय (चैतन्य), राधावल्लभी सम्प्रदाय (हितहरिवंश) और हरि सम्प्रदाय (हरिदास) को है और उनमें आत्म-समर्पण की दृष्टि से सखी-भाव का प्राधान्य हो गया था। जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' में कहा है, इस सखी भाव ने राम भक्ति को प्रभावित किया और भक्त लोग स्त्री नाम तक धारण करने लगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कृष्ण की लीलाओं के गान, कृष्ण के प्रति सख्य भावना या माधुर्य भावना (क्योंकि मीरा की भक्ति प्रेममय थी) आदि की दृष्टि से ही कृष्ण-काव्य का महत्त्व नहीं, वरन् आगे चलकर राधा-कृष्ण को लेकर नायक-नायिका-भेद, नख-शिख, षट्ऋतु आदि की जो परम्परा चल पड़ी थी, उसका बीज कृष्ण-काव्य में ही मिलता है। रीतिकालीन काव्य ने ब्रजभाषा को जो अलंकृत और कलात्मक रूप प्रदान किया, वह भी कृष्ण-काव्य के कवियों द्वारा भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने के कारण सम्भव हो सका था। कृष्ण-काव्य ने हिन्दी साहित्य को अनेक विषय प्रदान कर उसका विकास उपस्थित किया। गीति-काव्य को भी कृष्ण-काव्य से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। नन्ददास जैसे कुछ कवियों ने रोला, दोहा आदि छन्दों का अवश्य प्रयोग किया, किन्तु अधिकतर कवियों ने विभिन्न राग-रागिनियों में पद बाँध कर संगीतात्मकता का परिचय दिया और शान्त रस का सुन्दर निरूपण किया। कृष्ण-काव्य प्रधानतः मुक्तक काव्य है। किन्तु सम्पूर्ण मध्ययुगीन काव्य को ध्यान में रखते हुए जायसी ('पद्मावत'), तुलसी ('मानस'), केशव ('रामचन्द्रिका') आदि की प्रसिद्ध प्रबन्ध रचनाएँ अवश्य मिलती हैं। कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन के कारण काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त कुछ गद्य-रचनाएँ भी निर्मित हुईं, जिनमें गोकुलनाथकृत कही जानेवाली 'चौरासी' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अधिक प्रसिद्ध हैं।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

आठ

२—मध्य काल की पाँचवी भक्ति धारा : प्रणामी साहित्य (१७वीं-१८वीं शताब्दी)

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्य काल की चार भक्ति काव्य-धाराएँ सर्व-विदित हैं—संत-काव्य, सूफी-काव्य, राम-काव्य और कृष्ण-काव्य। किन्तु इधर प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग, के प्रोफेसर, डॉ० मातावदल जायसवाल, के अथक परिश्रम और अध्ययन के फलस्वरूप प्रणामी सम्प्रदाय का जो साहित्य प्रकाश में आया है वह इन चारों धाराओं से कम महत्त्वपूर्ण ही नहीं, वरन् मध्ययुग की प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए, नितांत मौलिक, नवीन और बहुत कुछ आधुनिक है। सर्वधर्म-समन्वय और मानव मात्र की एकता पर जो बल प्रणामी साहित्य में दिया गया दृष्टि-गोचर होता है वह अन्य धाराओं में नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में डॉ० मातावदल जायसवाल के विचार, अविकल रूप में नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

भारत के मध्यकालीन इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है; भारत में दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता पर मुसलमानों का अधिकार और फलस्वरूप इस्लामी धर्म-संस्कृति का हिन्दू संस्कृति से सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय। इस सांस्कृतिक हलचल का केन्द्र प्रमुखतः वही प्रदेश रहा, जिसे मध्ययुग में मध्यप्रदेश या सूबा हिन्दुस्तानी कहा गया है। आधुनिक युग में इसी को हिन्दी प्रदेश (उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश) की संज्ञा दी जाती है। मध्ययुग में इस प्रदेश की भाषा को मध्य देशी, या हिन्दवी हिन्दी कहा गया है। अतएव इस सांस्कृतिक हलचल का सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था।

युद्ध क्षेत्र में परास्त हिन्दू राजे इस सांस्कृतिक टकराव या बिखराव की समस्या का समाधान नहीं खोज सके। धार्मिक जगत के पारम्परिक अगुआ पंडित, पुरोहित, पांडे तथा काजी, मौलवी, मुल्ला ने धर्म समाज, संस्कृत को और अधिक एकांकी, रूढ़ि-वादी, अनुदार और कर्मकांडी बना दिया। फलतः हिन्दू अधिक कर्मकांडी हिन्दू और मुसलमान और अधिक कर्मकांडी मुसलमान बन गया। अलगाव होता गया, खाई बढ़ती गई।

इस जटिल सांस्कृतिक उलझन को सुलझाने तथा खाई को पाटने का प्रयास संस्कृति के उन अभिनायकों ने किया जिन्होंने राष्ट्रव्यापी भक्ति आंदोलन का प्रवर्तन किया। इस भक्ति आन्दोलन ने तत्कालीन धर्म, समाज, भाषा साहित्य को प्रभावित करते हुए जन-जीवन को जागृत किया। संत-सूफी-भक्त कवि इस आंदोलन के अग्रणी बने। इन संत भक्त-कवियों ने जन-भाषाओं को काव्यामृत से प्लावित कर निराश जन-जीवन को आशा जल से सिंचित किया। फलतः १३१८-१६४३ ई० तक की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवधि में भक्ति साहित्य की चार धाराएँ प्रवाहित हुईं। (१) संत काव्य (कबीर, नानक, रैदास, दादू, सुंदर, गरीब, रज्जब, मलूक आदि) (२) सूफी काव्य (जायसी, मंझन, कुतबन, उसमान, नूर मोहम्मद आदि) (३) रामभक्ति (तुलसी अग्रदास आदि), (४) कृष्ण भक्ति (सूरदास, नंददास, कुंभन दास, परमानंद दास आदि)।

१७वीं शती तक आते-आते भक्तिकाल की ये चारों धाराएँ इतनी क्षीणकाय हो गईं कि कवियों में भक्ति तत्त्व कम हो गया और हिन्दी साहित्य में यही भक्ति काव्य की इतिश्री मान ली जाती है। फलतः १६-१८वीं शती ई० के हिन्दी साहित्य को काव्य रीति या लक्षण की प्रधानता के कारण रीतिकाव्य या रीतिमुक्त काव्य की संज्ञा दी जाती है। मतिराम, केशव, सेनापति, देव, भूषण, भिखारी दास आदि को रीतिबद्ध तथा घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि को रीतिमुक्त कवि कहा जाता है। किंतु इसी युग में महामति प्राणनाथ द्वारा भक्ति की ऐसी धारा प्रवाहित हुई तथा ऐसा प्रणामी साहित्य लिखा गया जिसमें भक्ति काव्य की धाराओं का समन्वय ही नहीं, अपितु पर्याप्त अलगाव और वैचारिक वैशिष्ट्य मिलता है। प्रणामी साहित्य धारा में चारों धाराओं के कुछ न कुछ तत्त्व तो आ जाते हैं, किन्तु समूचा प्रणामी साहित्य अपनी सारी विशेषताओं सहित किसी भी धारा में समाहित नहीं होता, वरन् सभी धाराओं को अपने में समाहित करता हुआ एक नई समन्वयवादी धारा प्रस्तुत करता है। इसी कारण इसे भक्ति साहित्य की पाँचवीं धारा की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि प्रणामी साहित्य समन्वय की भूमिका प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान करता है।

प्रणामी साहित्य के विशाल संकलन में महामति प्राणनाथ (१६१८-१६९४ ई०) प्रणीत 'कुलजम सरूप' और उनके समसामयिक शिष्य लालदास, नवरङ्ग स्वामी, छत्रसाल, हृदयशाह तथा प्रशिष्य ब्रजभूषण (१७-१८वीं शती ई०), परमहंस युगुलदास जी (१८वीं शती), बक्सी हंसराज जी (१८वीं शती), महात्मा जीवन मस्तान परमहंस चेतनदास जी, लल्लूजी महाराज (१९वीं शती ई०), परमहंस गोपाल दास जी (१९वीं शती ई०) द्वारा रचित बीतक ग्रंथ (जीवनियाँ) एवं भक्ति रस में ओत-प्रोत वाणियाँ हैं।

उपास्य-कथा : नया स्वरूप—महामति प्राणनाथ ने १७वीं शती में कृष्ण के जिस स्वरूप की अवतारणा की वह समस्त भारतीय साहित्य में नवीन और अलभ्य है। प्राणनाथ के कृष्ण—गीता, महाभारत, भागवत, विष्णु-स्वामी (शुद्धाद्वैत), निम्बार्काचार्य (द्वैताद्वैत), वल्लभाचार्य (पुष्टिमार्ग), हरिदास, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, नन्ददास के कृष्ण आदि से अधिक व्यापक, अधिक सुविकसित, इसलिए भिन्न स्वरूप हैं। गीता के कृष्ण अक्षरातीत, पुरुषोत्तम हैं, अक्षर पुरुष के रूप में सृष्टि-रचयिता हैं और क्षर पुरुष नारायण (विष्णु के रूप में) दुष्टों का संहार करने वाले हैं। वही ज्ञान-योग, कर्मयोग, संन्यास योग, भक्तियोग, ध्यान योग के परम अधिष्ठाता योगेश्वर हैं। वही कृष्ण इन समस्त साधनाओं के प्रतिपादक प्रथम आचार्य तथा वही इन साधनाओं के परम साध्य (प्राप्य पुरुष या उपास्य देवादिदेव हैं), ये कृष्ण समस्त गीतायुग के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आर्य तथा आर्येतर के मूल पुरुषों से अभिन्न हैं क्योंकि वे अपने को दैत्यों में प्रह्लाद, धनुर्धारियों में राम, कवियों में दशना हैं, ऐसा प्रतिपादित करके अपनी महान विभूति का परिचय विभूति योग में देते हैं। महामति सबके मूल में पुरुषोत्तम कृष्ण को मानकर एकेश्वर के रूप में केवल उनकी उपासना को मान्यता देते हैं। भागवतकार ने भी मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण को एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न युगों में अवतरित अभिन्न रूप तो माना, किन्तु भक्ति योग के उपास्य कृष्ण के मधुर स्वरूप को ही प्रधानता दी। मध्य युग में भक्ति-सिद्धान्त के समर्थक विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, हरिदास आदि आचार्यों और भक्तों ने इन्हीं एकेश्वर कृष्ण को उपास्य माना। भक्ति के आधिक्य में कृष्ण का लोकरक्षक, धर्मरक्षक रूप गौण हो गया। रीतिकाल में तो राधा-कृष्ण सामान्य नायक-नायिका के प्रतीक बनकर रह गए। भक्ति की रसानुभूति तथा अध्यात्म की गहराई उनमें न रही जिसके फलस्वरूप काव्य धारा उदात्त भावभूमि से पतित हो गई।

महामति प्राणनाथ ने रसेश्वर, अक्षरातीत कृष्ण को प्रधानता अवश्य दी, किन्तु उनके लोकरक्षक, धर्मरक्षक रूप को ओझल नहीं किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कृष्ण की तीन लीलाओं को मान्यता देते हैं—

ब्रज रास का स्वरूप, धर्मरक्षक कृष्ण का स्वरूप, तथा जागनी लीला का स्वरूप। यही नहीं उनकी अवधारणा है कि जो कृष्ण राम में हैं, वही फिर 'मुहम्मद' के रूप में अवतरित हुए और संसार को शरअ के रूप में धर्म का उपदेश देने के कारण बशरी (मानवी स्वरूप) कहलाए। मुहम्मद को उन्होंने परमात्मा के हुक्म का वह स्वरूप माना जो युग-युग में जिबरील, ईश्वरीय आवेश की सहायता से मानव को ज्ञान देकर उसके मानवीय गुणों को रक्षा करके उसे धर्म में स्थित रखता है।[1]

---

१. (क) प्राणनाथ सम्प्रदाय और साहित्य (१९७३)
प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी एक दूसरे को प्रणाम कहकर अभिवादन करते हैं, इसीलिए इस सम्प्रदाय को लोक प्रचलित भाषा में प्रणामी कहते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से अक्षरातीत श्री कृष्ण को प्रणाम या समर्पण करने के कारण भी इस सम्प्रदाय को प्रणामी या 'कृष्ण प्रणामी धर्म' कहा जाता है।

(ख) प्रणामी साहित्य के विशेष विवरण के लिए देखिए :
(क) डा० माताबदल जायसवाल' प्रणामी साहित्य (१९५३), साहित्य सम्मेलन पुस्तिका, प्रयाग
(ख) डा० माताबदल जायसवाल-लालदास कृत बीतक की ऐतिहासिक समीक्षा (१९५२), अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद।
(ग) श्रीमती विमला मेहता—महामति प्राणनाथ प्राणनाथ, प्रकाशन, दिल्ली।
(घ) डा० ओमप्रकाश सक्सेना—प्रणामी कवि और काव्य (१९७३)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और फिर वही १७वीं शती की सारी राजनीति-सामाजिक, धार्मिक समस्याओं के समाधान करने के लिए देवचन्द और अन्त में प्राणनाथ के रूप में अवतरित हुए और जागनी या कियामत का संदेश लाए।

मनोवैज्ञानिक रूप से जागनी लीला को इस प्रकार समझने की कोशिश की जा सकती है कि १७वीं शती की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा भाषा-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए महामति प्राणनाथ गीता-भागवत के कृष्ण तथा बुद्ध, ईसा, मुहम्मद तथा सद्गुरु देवचन्द के स्वरूपों की अवतारणा स्वयं में इस प्रकार करते हैं कि सबका जोश या भावमय प्रवेश उनके अन्तरात्मा में हो गया, जिसके फलस्वरूप युग की सम्पूर्ण समस्याओं को हल करने के लिए वे विश्व में प्रकटित सब स्वरूपों को अपने में आत्मसात् करके हिन्दू-बौद्ध, ईसाई, इस्लाम सभी धर्मों के मूल पुरुषों के समन्वित प्रतीक बन गए। इस प्रकार महामति प्राणनाथ अपने युग की समस्त समस्याओं के समाधान के लिए इतनी ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित होते हैं जितनी ऊँची भूमिका में गीता के कृष्ण के अतिरिक्त कोई भारतीय धर्माचार्य या कवि नहीं प्रतिष्ठित हुआ। अपने 'कुलजम' नामक वृहत् धर्म ग्रन्थ में वे इस उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

साहेब आए इन जिमी, कारज करने तीन।
सबका झगड़ा मेट के या दुनिया या दीन॥
कुलजम खुलासा प्रकरण १३

इस प्रकार महामति प्राणनाथ ने अपने जीवन के तीन लक्ष्य प्रतिपादित किए—(१) संसार के समस्त झगड़ों (धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक) को मिटा देना, (२) सारी दुनिया को एक करना, (३) सारे धर्म-ग्रन्थों को एक करना। इस महती आकांक्षा की पूर्ति के लिए वे एक ऐसे व्यापक भारतीय धर्म की स्थापना करते हैं जो विश्व की समस्त मानवता को समाहित कर सकता है। प्राचीन भारत का धर्म इतना व्यापक था कि वह द्रविड़, किरात, निषाद, गंधर्व, किन्नर, शक, हूण, आभीर, गुर्जर आदि विभिन्न जातियों और धर्मों को समाहित करके भी अपवित्र नहीं हुआ, ध्वस्त और विनष्ट नहीं हुआ, बल्कि दूसरी जातियों के धर्मों को अपने में समाहित करके अधिकाधिक पुष्ट, व्यापक और जीवंत होता गया। महामति प्राणनाथ भी अन्य जातियों, धर्मों का समन्वय करके भारतीय धर्म-साधना को उतना ही व्यापक, विराट और जीवंत रूप प्रदान करना चाहते थे जितना व्यापक कृष्ण ने तत्कालीन युग में हिन्दू धर्म को प्रदान किया था। कृष्ण के समय में न तो ईसाई लोग थे, न ईसाई धर्म, न मुसलमान थे और न इस्लाम धर्म। उस समय तो आर्यों के अतिरिक्त असुर, दैत्य, दानव आदि अनेक जातियाँ और उनके अलग-अलग धर्म थे। कृष्ण सब धर्मों और सब जातियों

(ङ) डा० राजबाला सिडाना—प्राणनाथ : व्यक्तित्व और साधना (१९६८)
(च) डा० नरेश पांड्या—प्राणनाथ सम्प्रदाय और साहित्य (१९७३)।
(छ) जागनी पत्रिका—वर्ष १९७३, १९७४, १९७५, १९७६ और १९७७ प्राणनाथ मिशन, दिल्ली।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रतिष्ठित होते हैं और अपने में सबको प्रतिष्ठित मानते हैं। गीता में कृष्ण के इसी व्यापकता, विराटता, जीवन्तता और समन्वय के सिद्धान्त को अपनाते हुए महामति प्राणनाथ ने अक्षरातीत श्रीकृष्ण के उसी जागनी स्वरूप की अवतारणा की जो बुद्ध, ईसा, मूसा, मुहम्मद से अभिन्न है और जो सबका समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। इसीलिए महान् सैद्धान्तिक धार्मिक विश्वास के कारण बिना संकोच के वे उद्घोषित करते हैं—

श्री कृष्ण जी ब्रज रास में, पूरे ब्रह्म सृष्टि मनकाम।
सोई सरूप लाया फुरमान, रसूल केहलाया· स्याम ॥[1]

इस प्रकार वे मानते हैं कि जिस कृष्ण ने ब्रज में रासलीला की वही ईसा, मूसा के ज्ञान को समाहित करने वाला मुहम्मद हुआ। वही स्याम ब्रज से 'बरेंअरब' में परमधाम (नूरमकान) का सन्देश लाया—

स्याम रास से बरारब, ल्याया साहेब का फुरमान।
हकीकत अखंड धाम की, तिन बाँधी सब जहान ॥[2]

महामति प्राणनाथ के जीवन वृत्त लेखक स्वामी लालदास जी अपने 'बीतक' नामक ग्रन्थ में भी इसी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

ब्रजरास में खेल के, आया बरारब स्याम।[3]

और वही स्याम फिर इनमें प्रकट हुआ है।

"अब सो कहाँ है मुहम्मद, तुम उठ क्यों न देखो जाग।" सनंध

इस प्रकार महामति प्राणनाथ कृष्ण, ईसा, मुहम्मद को अभिन्न मानते हैं। प्राणनाथ कृष्ण को ऐसी ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित कर देते हैं जहाँ से वे संसार की समस्त महान अवतारी विभूतियों से अभिन्न हो जाते हैं। कृष्ण का इतना व्यापक स्वरूप मध्यकालीन भारत के किसी मनीषी-धर्माचार्य, महासन्त, कवि की कल्पना या अनुभूति में नहीं आया। कृष्ण स्वरूप की यही भूमिका प्राणनाथ को और प्रणामी साहित्य को मध्यकाल की चारों धाराओं से अलग स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान करती है। कृष्ण के इसी विराट स्वरूप की अवतारणा के कारण प्रणामी धर्म में महामति प्राणनाथ को भागवत तथा भविष्य पुराण में वर्णित निष्कलंक विजयाभिनन्द बुद्ध तथा कुरान में वर्णित आखिरी इमाम मेहदी का अवतार या प्रतीक मानते हैं। जो लोग इस तथ्य को धार्मिक विश्वास के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते हैं, ऐसे लोग ऐतिहासिक दृष्टि से प्राणनाथ के महान समन्वयात्मक दृष्टिकोण को समझने का कष्ट करें। अद्वैतवाद के समर्थक शंकराचार्य, विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक रामानुज, शुद्धाद्वैत के आचार्य विष्णु स्वामी, पुष्टि मार्ग के प्रचारक वल्लभाचार्य, द्वैताद्वैत के प्रतिपादक निम्बार्काचार्य, रामोपासना के प्रचारक रामानन्द,

---

१. महामति प्राणनाथ : कुलजम। खुलासा
२. महामति प्राणनाथ : कुलजम। खुलासा १३-३१
३. लालदास : बीतक (संपादक डा० माताबदल जायसवाल)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कबीर, तुलसी, सगुणोपासक सूर, तथा इश्क हकीकी के समर्थक जायसी, मंझन, कुतबन आदि के सामने भी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याएँ थीं, किन्तु किसी भारतीय आचार्य सन्त-भक्त कवि ने अपने उपास्य के इतने व्यापक रूप की अवतारणा नहीं की जो विश्व के समस्त धर्मों, समस्त जातियों के मूल प्रमाणों से अभिन्न हो।

समन्वयात्मक विराट भारतीय संस्कृति के लिये कृष्ण का वही रूप सर्वाधिक उपयुक्त है जो प्राणनाथ ने श्री कृष्ण को प्रदान किया। इसीलिये आश्चर्य नहीं करना चाहिये यदि प्राणनाथ के १० लाख अनुयायी जो पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, गुजरात, असम, नेपाल आदि देशों में बिखरे हैं, वे प्राणनाथ में उसी कृष्ण का दर्शन करते हैं जो जागनी लीला करने के लिये महामति प्राणनाथ में प्रविष्ट हुआ। कृष्ण के ऐसे स्वरूप की कल्पना किसी धारा में नहीं मिलती। अतएव उपास्य के स्वरूप की दृष्टि से प्रणामी साहित्य एक स्वतन्त्र भक्ति धारा के रूप में मान्य होना चाहिये। वर्तमान विश्व की सारी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ तभी सुलझ सकती हैं जब हम यह मानकर चलें कि सभी जातियों, सभी धर्मों के मूल प्रभावों में एक ही शक्ति है, एक परमात्मा की दिव्य विभूति है, शरीर अलग-अलग हैं, शक्ति की प्रवृत्ति एक ही है, ठीक उसी प्रकार जैसे भिन्न-भिन्न प्रकाश स्तम्भों में हरे, लाल, नीले, पीले बल्ब के कारण प्रकाश स्तम्भ की रोशनी, हरी, लाल, नीली, पीली दिखाई पड़ती है। जो गम्भीर चिंतक हैं वे जानते हैं कि रोशनी भिन्न-भिन्न रंग की नहीं है। बल्ब अलग-अलग हैं। उसी प्रकार सभी मूल प्राणों में समान रूप से एक ही ब्रह्म तेज या स्वरूप है, केवल देश, भेद या युगभेद या भाषा भेद से वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। प्राणनाथ की यह समन्वयात्मक वाणी वर्तमान युग के समस्त देशों के लेखकों का एक नई दृष्टि दे सकती है।

आज विज्ञान ने विश्व को समन्वयात्मक दृष्टि से देखने का अवसर प्रदान किया है। १६वीं शती में मत-संचार व्यवस्था, गमनागमन के साधन दुर्लभ थे। उस समय भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न जातियों में अपने-अपने धर्म, अपने-अपने मूल प्रमाण, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ, अपनी-अपनी उपासना-पद्धति और देश-भक्ति परिस्थिति के कारण, अपनी-अपनी कर्मकांड सम्बन्धी पूजा-पद्धति के कारण सारा विश्व अनेक जातियों धर्मों में बँट गया। इन भिन्न-भिन्न धर्मों के अलगाव के कारण सारी मानवता बँटी हुई थी। इसी अलगाव के कारण विषमतापूर्ण अनेक संघर्ष होते रहते थे। गीता युग में श्रीकृष्ण ने अपने युग की समस्त जातियों, धर्मों और उपासना-पद्धतियों का समन्वय करने का प्रयास किया। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद सबने इसको आगे बढ़ाने में यत्किंचित् योगदान किया। १७वीं शती में महामति प्राणनाथ ने बिना किसी वैज्ञानिक संचार-व्यवस्था के सभी धर्मों के मूल प्रभावों के समन्वय का 'दर्शन' दिया। उनका यह प्रयास ऐतिहासिक महत्त्व का है।

धर्मग्रन्थों में समन्वय—मध्यकालीन संत कबीर ने राम-रहीम, वेद-कतेब की एकता की बात अनेक बार दोहराई। उनकी यह बात केवल एक प्रगतिशील नारा बन कर रह गई क्योंकि कबीर ने शास्त्रों को, धर्म-ग्रंथों को नकार दिया था। इसलिए बिना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्मग्रन्थों या शास्त्रों के समन्वय के राम-रहीम की एकता का नारा प्रभावशाली न बन पाया। प्रत्येक धर्म अपने-अपने मूल प्रभावों का अलग-अलग निर्णय, भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रन्थों में रहता है। धर्म-ग्रन्थों के जंगल में मूल प्रणव भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगते हैं। अतएव उनकी एकता की बात शास्त्रों के जंगल में भटक कर रह जाती है।

कबीर में समन्वयात्मक प्रतिभा थी, किन्तु समस्त धर्मों के शास्त्रों को अपनाने के लिए जो धार्मिक उदारता चाहिए थी वह कबीर में नहीं थी। शास्त्रों को नकार देने के कारण ही उच्च वर्ग के शिष्ट-हिन्दू-मुसलमान कबीर पंथ से अलग रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं, 'इस निर्गुण पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा।' धर्मशास्त्रों का खंडन करने के कारण केवल अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता ही कबीर की ओर आकर्षित हुई। आचार्य शुक्ल की कबीर के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ आज कबीर के अध्येताओं को मान्य नहीं। किन्तु शास्त्रों के खंडन और शिक्षित जनता के अलगाव की जो बात उन्होंने कही उसमें ऐतिहासिक सत्य है।

महामति प्राणनाथ यह जानते थे वे अपने दर्शन को धर्म-ग्रंथों या शास्त्रों के समन्वय की ठोस नींव पर खड़ा करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने समस्त जातियों के धर्म-ग्रंथों के विशुद्धतापूर्ण-उदारतापूर्ण भौतिक एवं आध्यात्मिक समन्वय पर बल दिया।

१७वीं शती में धर्म-ग्रंथों के रूप में यहूदियों में तौरेत, दाउद के अनुयायियों में तौरेत, ईसा के अनुयायियों में बाइबिल और मुहम्मद के अनुयायियों में कुरान मान्य धर्म-ग्रंथ थे। इसी प्रकार हिन्दुओं के मान्य धर्म-ग्रन्थ थे वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत। प्राणनाथ यह मानकर चलते हैं कि पश्चिमी देशों के धर्म-ग्रन्थों का सार युगानुकूल कुरान में तथा पूर्वी देशों के धर्मग्रन्थों का युगानुकूल सार भागवत में आ गया है। अतएव प्राणनाथ ने महान् विद्वत्ता के साथ भागवत और कुरान का समन्वय करके अपने महामति नाम को सार्थक किया। प्राणनाथ ही संभवतः मध्यकाल के प्रथम धर्माचार्य और प्रथम हिन्दू तथा भक्त कवि हैं जो कुरान को महान् उदारता, गम्भीर बुद्धिमत्ता तथा ऊँची आध्यात्मिकता की दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने कुरान और उसके मध्यकालीन, भाष्य हुसैनी तफसी के प्रमाण देकर 'सनन्ध' (सनद कुरान) नामक ग्रन्थ में कुरान की व्याख्या भागवत की दृष्टि से की और इस ग्रंथ को दिल्ली के शहंशाह औरंगजेब के पास भेजा।

महामति प्राणनाथ ने सद्गुरु उसी को माना जो शास्त्र को साथ लेकर चले। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि सभी धर्मशास्त्र मूलतः एक ही बात कहते हैं। केवल देश-भक्ति और भाषाभेद तथा आन्तरिक अर्थ से अनभिज्ञ रह जाने के कारण लोग परस्पर झगड़ते हैं। झगड़े का कारण गफलत (नासमझी) है, धर्म नहीं।

प्राणनाथ बलपूर्वक यह कहते हैं कि कुरान भी सही है और भागवत भी सही है। दोनों परम सत्ता के प्रमाण ग्रंथ हैं। उन्होंने सभी धर्म-ग्रन्थों को आंतरिक अर्थ-तारतम्य की कुंजी से खोलने का प्रयास किया। वे कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सास्त्र ले चले सद्गुरु सोई, बानी सकल को एक अर्थ होई।
सब सयानों की एक मत पाई, पर अजान देखे रे जुदाई ॥

कुलजम, किरंतन

वेदांत-गीता-भागवत, दैयाँ इसारतां सब खोल।
मगज माइने जाहेर किए, माहें गुझैहते जो बोल ॥

(कुलजम/खुलासा/१३/९६)

अंजील, जंबूर तौरेते, चौथी जो फुरकान।
एक माइने मगज गुझ थे, सो जाहेर किए बयान ॥

(कुलजम/खुलासा/१३/९७)

जिन जानों सास्त्रों में नहीं, है सास्त्रों में सब कुछ।
पर जीव सृष्टि क्यों पावहीं, जिनकी अकल है तुछ ॥

(किरंतन)

प्राणनाथ ने 'खुलासा' नामक ग्रन्थ के 'दोनामा' नामक प्रकरण में इस घोषणा को स्पष्ट रूप से समझाया है। हिन्दुओं में देवमंडली है वही मुसलमानों में फरिश्तों की फ़ेहरिस्त है। प्राणनाथ ने देवमंडली और फरिश्तों के कार्यों को एक ही बताया। दोनों में कार्य का अन्तर नहीं है, अन्तर है देश का, भाषा का।

नाम सारों जुदे धरे, लई सबों जुदी रसम।
सब में उम्मत और दुनिया, सोई खुदा सोई ब्रह्मा ॥

(खुलासा/दोनामा १२/३८)

जो कुछ कह्या वेद में, सोई कहा कतेब।
दोऊ बंदे एक साहेब के, पर लड़त बिना पाए भेद ॥

(खुलासा/वही/४५)

सबके लड़ने का कारण दोनों धर्म-ग्रन्थों की अलग-अलग भाषा है—

बोली सबों जुदी परी, नाम जुदे धरे सबन।
चलन जुदा कर लिया, ताथे समझ ना परी किन। (वही/४३)

धर्म-ग्रंथों का इतनी व्यापक भूमिका के साथ समन्वय महामति की देन है। कबीर ने तो धर्म-ग्रंथों की उपेक्षा की और सूफी कवियों ने केवल लोक में प्रचलित प्राचीन प्रेम-कथाओं का सहारा लिया। महाकवि तुलसीदास अवश्य हिन्दुओं के सारे ग्रन्थों और शास्त्रों को बात करते हुए कहते हैं।

नाना पुराण निगमागम सम्मतम् यत्।
रामायणे निगदितम् क्वचिदन्यतोऽपि ॥

(तुलसी/रामचरितमानस)

इस रामकथा से सम्बन्धित सारे शास्त्रों का समन्वय करने का प्रयास करते हैं। शैव ग्रन्थों का भी समन्वय उन्होंने किया लेकिन शाक्त धर्म और शाक्त शास्त्रों की उन्होंने निंदा की। इस्लामी धर्म ग्रन्थों की ओर तुलसीदास ने दृष्टि ही नहीं डाली। कृष्णभक्त कवि भी मूलतः भागवत का आधार लेकर चलते हैं। इस प्रकार विश्व के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सभी धर्म-ग्रन्थों के समन्वय की महती भूमिका प्रस्तुत करने के कारण भी प्रणामी साहित्य का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान है और इस दृष्टि से भी यह धारा मध्यकालीन साहित्य की पाँचवीं धारा सिद्ध हो जाती है।

राजनीतिक दर्शन—प्राणनाथ स्वयं जामनगर राज्य के मुख्यमन्त्री या दीवान थे। किन्तु राजनीति एवं वैभव से वैराग्य लेकर एक व्यापक धर्म-प्रचार के लिए राज-पद छोड़ दिया था। यही कारण है महामति प्राणनाथ ने अपने युग की राजनीति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। समस्त मध्य काल में संभवतः वे प्रथम संत नेता हैं जो एक राष्ट्र के रूप में भारत भूमि का स्तवन करते हैं। अपने जीवन में वे स्वयं अरब, मेसोपाटामिया, ईरान, ईराक आदि देशों का भ्रमण कर चुके थे। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य देशों से उनका परिचय था। इन सब देशों में भारत भूमि को ही श्रेष्ठ राष्ट्र की संज्ञा देते हैं।

भोम भली भर्थ खंड की, जहाँ आई निध नेहचल।
और सारी जिमी खारी-खारे जल मेहजल।

भारत भूमि के साथ-साथ हिन्दू जाति का भी उन्हें गर्व है। इसलिए वे कहते हैं—

.....तामैं उत्तम हिन्दू धरम।
ताके छत्रपतियों के सिर, आय रही इत सरम।

हिन्दू जाति उस समय जातीय दृष्टि से एक पराजित जाति थी और मुसलमान एक विजेता जाति थी। हिन्दू जाति धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टिकोण में कुछ-न-कुछ शोषित थी। अतएव युग के संदर्भ में हिन्दू जाति पर गर्व करना राष्ट्रीयता के अनुकूल था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राणनाथ की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता मात्र है, क्योंकि प्राणनाथ हिन्दू संस्कृति और जाति की प्रशंसा करते हुए भी इस्लामी धर्म, संस्कृति को उसमें समाहित करते हैं।

तत्कालीन युग में राष्ट्र की केन्द्रीय सत्ता औरङ्गजेब के हाथ में थी और देश के अधिकांश भाग में उसका राज्य था। कुछ ही प्रदेश थे जहाँ हिन्दू तथा मुसलमान शासक स्वतन्त्र थे। इस प्रकार ऊपरी तह में राष्ट्र में राजनीतिक एकता थी, किंतु यह राष्ट्रीय एकता केवल औरङ्गजेब की सैनिक शक्ति के कारण थी। औरङ्गजेब की सामाजिक, धार्मिक, अनुदार नीति से उसकी बहुत-सी प्रजा असंतुष्ट थी। वह अपनी धार्मिक, सामाजिक संकुचित नीति में कुरान का कायल था। इसलिए प्राणनाथ ने लोक-हित में यही ठीक समझा कि उसे कुरान का वास्तविक अर्थ समझाया जाय।[1] यदि वह कुरान के अनुसार ऊपरी अर्थ, शरियत को छोड़कर कुरान के असली अर्थ के अनुसार उदारता दिखाते हुए हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति से विद्वेष छोड़ दे, उनके मन्दिरों को धार्मिक विश्वास के अनुसार चलने दे तो राष्ट्र में वास्तविक एकता हो सकती थी। औरङ्गजेब

---

१. मुस्लिम और ईसाई धर्मावलम्बी अपने-अपने ग्रंथों के सिवा और किसी ग्रंथ को मान्यता नहीं देते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पैगम्बर मुहम्मद का शान्तिदायी संदेश समझ कर राष्ट्र के कल्याण के लिए कार्य कर सकता है। उसको समझाने के लिए ही वे अपने १२ शिष्यों (१० हिन्दू और दो मुसलमान) को औरङ्गजेब के पास भेजते हैं।

औरङ्गजेब कुछ सीमा तक प्राणनाथ के संदेश को सुनने को प्रस्तुत हो जाता है किन्तु अपनी चौकड़ी (सिदी फौलाद, शेख इस्लाम, शेख निजाम आदि) की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण इनके शिष्यों को बंदी बना लेता है। औरङ्गजेब से निराश होने पर प्राणनाथ अपने राष्ट्रीय मिशन में निराश नहीं हुए। उन्होंने सर्वप्रथम औरङ्गजेब के हिन्दू सेनापति यशवंत सिंह को जगाना चाहा और उसे समझाने के लिये अपने एक शिष्य को काबुल भेजा, किंतु वह भी 'जागृत' न हुआ' उससे भी निराश होकर प्राणनाथ देश के सारे राजाओं के पास गये। किन्तु किसी में भी राजनीतिक साहस नहीं उत्पन्न हुआ जो प्राणनाथ के 'जागृति' के संदेश को सुन सके। अन्त में बुन्देलखंड में छत्रसाल से मुलाकात हुई। छत्रसाल उस समय एक सामंत कुमार था किन्तु उसके साहस, मातृ भूमि-भक्ति, राष्ट्रभक्ति को देखकर प्राणनाथ ने उसे राजशक्ति, लोकशक्ति, धनशक्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की। प्राणनाथ ने सारे बुन्देलखंड में राजनीतिक चेतना का बिगुल बजा दिया और छत्रसाल को एक महाराजा बनाकर उसका राजतिलक किया। इस प्रकार प्राणनाथ सच्चे अर्थ में उसके 'राजगुरु' बन गये। उन्होंने उसके सभी सांसारिक कार्यों को आध्यात्मिकता प्रदान की। उस युग में सारे हिन्दू राजाओं को राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

"राजा ने मलो राणे राय तणो, 'धर्म जाता रे कोई दौड़ो।'
जागो ने जोधा रे उठ खड़े रहो, नींद निगोड़ी रे छोड़ो॥" किरंतन

बुन्देलखंड में जिस राष्ट्रीय चेतना को प्राणनाथ ने जगाया उसी ने १८५७ में अंग्रेजों के खिलाफ़ अनेक स्वातन्त्र्य सेनानियों को जन्म दिया। झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई तथा राजा बख्तवली का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मध्यकालीन संतों में जन-चेतना को झिंझोड़ कर जगाने में महामति को सबसे अधिक सफलता मिली। मध्यकाल की चार धाराओं में से तुलसीदास राजनीतिक दृष्टि से सचेत कवि हैं। उनके आराध्य राम भी विष्णु के अवतार होने के साथ-साथ अयोध्या के राजा भी हैं। उनका प्रतिनायक रावण भी एक सम्राट् है। अतएव राम-चरितमानस में राजनीतिक चित्रण या राष्ट्रीयता के लिए पर्याप्त क्षेत्र था। किन्तु हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास अपने युग की राजनीति से प्रत्यक्षतः किसी प्रकार का सरोकार नहीं रखना चाहते हैं। फिर भी वे एक राजनीतिक चिंतक या स्पष्ट द्रष्टा की भाँति, कलियुग-निंदा द्वारा परोक्ष रूप से अपने युग की सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए उस युग के प्रशासन की आलोचना करते हैं और राजनीतिक स्वप्नद्रष्टा की भाँति, रामराज्य के रूप में आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं।

किन्तु महामति प्रत्यक्ष रूप में उस युग की राजनीति को अध्यात्मिकता का पुट देकर प्रभावित करते हैं। इस प्रकार भक्ति के प्रचार के साथ-साथ सच्चे अर्थों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राष्ट्रीयता के प्रचार के कारण भी प्रणामी साहित्य की धारा का अपना विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है।

सामाजिक दर्शन—वर्णाश्रम व्यवस्था भारतवासियों के, प्रमुखतः हिन्दुओं के, सामाजिक दर्शन का मूलाधार है। आरंभ में यह व्यवस्था गुण, अर्थ पर या श्रम-विभाजन पर आधारित थी। अतएव एक प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था थी। किन्तु कालांतर में उच्च वर्ग के निहित स्वार्थों के कारण यह व्यवस्था रूढ़िवादी हो गई। एक-एक वर्ग से सैकड़ों जातियों-उपजातियों का विकास हुआ। प्रत्येक का पेशा जन्म से निश्चित हो गया। क्रमशः ऊँची जाति के लोग निम्न जातियों का शोषण करने लगे। छुआछूत का प्रचार होने लगा। उच्च शिक्षा, उच्च ज्ञान, उच्च साधना करने की स्वतंत्रता निम्न वर्ग वालों के लिए नहीं रही। इन्हीं कारणों से मध्यकाल में सामाजिक शैथिल्य था। भारत के ही अनेक चिन्तकों और सुधारकों (यथा गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी आदि) ने इस रूढ़िवादी व्यवस्था का विरोध किया। वर्ण-व्यवस्था आदि जाति-पाँति प्रथा को लेकर हिन्दू-समाज में चिंतकों के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं। एक तो वर्ण-व्यवस्था के पोषक चिंतक और दूसरे उसके विरोधी चिंतक।

मध्य काल की भक्तिधाराओं में से कबीर का संबंध उन चिन्तकों में से है जो रूढ़िवादी व्यवस्था का विरोध करते हैं। समस्त सामाजिक आडम्बर या रूढ़ियाँ तोड़ने के वे पक्षपाती हैं। सभी संत कवि कबीर का ही अनुसरण करते हैं। सूफी कवियों का इस क्षेत्र में भी गंभीर चिन्तन परिलक्षित नहीं होता। रामोपासक तथा कृष्णोपासक कवि वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं।

मध्य काल में मुसलमानों के आने से एक नई सामाजिक समस्या उठ खड़ी हुई। हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज का सामाजिक संबंध क्या हो, उनके खान-पान और विवाह की समस्या कैसे हल हो, यह काम और अधिक जटिल हो गया।

महामति प्राणनाथ एक प्रगतिशील सामाजिक चिंतक की भाँति रूढ़िवादी जन्म पर आधारित जाति-पाँति प्रथा का घोर विरोध करते हैं। सामाजिक समानता के आदर्श को मानते हुए ही वह एक अछूत जाति के व्यक्ति को धर्म की दीक्षा देते हैं जिसका विरोध उनके गुरुपुत्र 'बिहारी जी' करते हैं और उन्हें धमकी देते हैं कि यदि वह इस सामाजिक नीति का त्याग नहीं करेंगे तो उन्हें धर्म से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। प्राणनाथ गुरुपुत्र से संबंध तोड़कर अछूतों से संबंध जोड़ते हैं। उनकी सामाजिक प्रगतिशीलता का यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

हिन्दू समाज में चांडाल जाति निम्नतर स्तर की मानी जाती है। अतएव चांडाल के घर में उत्पन्न होने वाले एक उत्तम हृदय के चांडाल की अहंकारी ब्राह्मण से तुलना करते हुए वे चांडाल को ब्राह्मण से उत्तम बताते हैं—

विप्र वेष बाहिर दृष्टि, षट कर्म पाले वेद।
स्याम खिन सुपने नहीं, जाने नहीं ब्रह्म भेद॥
उदर कुटम्ब कारने, उतमाई दिखावे अंग।
व्याकरण वाद-विवाद के, अर्थ करे कै रंग॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चांडाल हिरदे निरमल, खेले संग भगवान।
दिखलावे नहीं काहू को, गोप राखे नाम ॥
अब कहो काके छुए, अंग लागे छोत।
अधम नाम विप्र अंगे, चांडाल अंग उद्योत ॥

ये बातें उन्हें प्रगतिशील सामाजिक समानता के आदर्श का पोषक सिद्ध करती हैं।

महामति हिन्दू समाज के अन्दर छुआछूत को दूर कर सब जातियों को सामाजिक समानता के अधिकार देने के साथ-साथ हिन्दू और मुसलमान जाति को एक ही सामाजिक संबंध में रखना चाहते हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में योगदान—महामति प्राणनाथ की मातृभाषा सिन्धी और गुजराती थी। प्राणनाथ की वाणी में 'कुलजम स्वरूप' में १५ ग्रन्थों का संग्रह है। इसमें चार ग्रन्थ गुजराती, एक ग्रन्थ सिन्धी, कच्छी जाटी तथा शेष ग्रन्थ हिन्दी (हिन्दवी-हिन्दुस्तानी) में हैं। उत्तरी भारत की यात्रा से पहले वे गुजराती में रचना करते थे, किन्तु उत्तरी भारत की यात्रा के पश्चात् उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी में रचना आरम्भ की। १००० से १८०० ई० तक के मध्य महामति प्राणनाथ संभवतः प्रथम हिन्दी कवि हैं, जो (हिन्दवी-हिन्दुस्तानी) शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी भाषा को ही वे भारत की राष्ट्रभाषा या सम्पर्क भाषा मानते हैं। औरंगजेब को 'सनंघ' नामक जो किताब वे भेजना चाहते थे उसकी भूमिका में लिखते हैं—

बिना हिसावें बोलियाँ, मिने सरल महान। सबसे सुगम जानके, कहूँगो हिन्दुस्तान ॥
बड़ी भाखा ये ही भली, जो सबमें जाहिर, करने पाक सबन को, अन्तर माहे बाहेर।

प्राणनाथ इस बात के प्रति सचेत हैं कि इस देश में या विश्व में अनेक भाषाएँ हैं। लेकिन सारे जहान या सारे देश को सम्बोधित करने के लिए वे हिन्दुस्तानी (हिन्दी-हिन्दवी) भाषा का प्रयोग करते हैं क्योंकि यही भाषा सबसे सरल, सर्वव्यापक, सबसे मिलने वाली सम्पर्क भाषा है। यह राष्ट्रभाषा ही नहीं विश्वभाषा है।

कबीर ने भी गर्व के साथ भाखा का पक्ष लिया है। संस्कृत की तुलना में वे स्वाभिमान के साथ कहते हैं—

'संसकिरत है कूप जल, भाखा बहता नीर।'

इस प्रकार लोक-प्रचलित भाषा के लिए वे 'भाखा' शब्द का प्रयोग करते हैं। देश की तथा विश्व की अन्य भाषाओं की तुलना में भाषा का क्या स्थान है, इसकी ओर स्पष्ट संकेत नहीं करते। अपने को मन्दमति कहकर तुलसीदास बड़ी दबी जबान से भाखा में कविता करते हैं।

रस तथा अनुभूति—प्राणनाथ की वाणी को जोशवाणी कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि जब प्राणनाथ अपनी विचारातीत, भावातीत अथवा आध्यात्मिक मुद्रा में होते थे, तभी यह वाणी अवतरित होती थी और उनके शिष्य लिख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेते थे।[1] प्राणनाथ की साधना में प्रेम-लक्षणा भक्ति की प्रधानता है। इनके काव्य में दो प्रकार की वाणियाँ हैं : संदेशवाणी और स्वानुभूति वाणी (स्वसम वेद)। संदेश-वाणी में जागनी का या क्यामत का संदेश है। अपने युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक समस्याओं के चित्रण में संदेशवाणी का प्रयोग हुआ है। निश्चय ही इस वाणी में चिंतन या विचारों की प्रधानता और अनुभूति की गौणता है। किन्तु यह वाणी भी विचारोत्तेजक, चमत्कारयुक्त और भक्ति-वैचित्र्य से परिपूर्ण है। अतएव यह वाणी भी पाठक के मस्तिष्क और हृदय दोनों को चमत्कृत करके प्रभावित करती है।

स्वानुभूति वाणी में महामति प्राणनाथ की आत्मा अपने को इंद्रावती या कृष्ण की पत्नी की भाँति माधुर्य भाव से आपूर्ण होकर अपनी प्रेमानुभूति व्यक्त करती है। इस वाणी का आरम्भ ही 'परम-विरहासक्ति' की दशा में बंदीगृह में उस समय होता है जिस समय अपने सद्गुरु देवचन्द्र या अपने पति कृष्ण के विरह में उनकी वाणी प्रस्फुटित होती है, और 'रास' तथा 'षड्ऋतु' नामक ग्रंथों की रचना हो जाती है। सिन्धी वाणी में भी उच्च प्रेमानुभूति का चित्रण हुआ है। उसमें काव्यत्व पूर्ण रूप से विद्यमान है। जिन-जिन स्थलों में प्राणनाथ अपनी निजी अनुभूति को अपने प्रियतम या धामधनी के प्रति समर्पित करते हैं, उन स्थलों में काव्य भक्ति रस या शृङ्गार रस से आपूर्ण है। संदेशवाणी से युक्त काव्य में शांत रस का चित्रण है। राष्ट्रभूमि से सम्बन्धित कविता में वीर रस का चित्रण मिलता है। इस प्रकार समूचे वाङ्मय में भक्ति, शृङ्गार रस, वीर रस और शांत रस की प्रधानता है।

काव्य-सौन्दर्य—महामति प्राणनाथ का दार्शनिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही महत्त्व नहीं है, काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अन्य अनेक सन्त-भक्त कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। तुलसी की भाँति, महामति प्राणनाथ के काव्य में भी भक्ति और काव्य-सौन्दर्य का सुन्दर संगम मिलता है। उनके 'कीरतन' नामक ग्रन्थ में अध्यात्म तत्त्व के साथ उनकी वाणी सहज रूप में काव्यमयी हो गई है। प्रेमा-नुभूति और रस से आप्लावित उनकी वाणी पाठक के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ती है। दर्शन, धर्म, आत्मा-परमात्मा, परमधाम जैसे गहन विषयों को भी महामति प्राणनाथ ने सहज काव्यमयी भाषा में व्यक्त किया है। 'बूँद सागर को छिपाए हुए हैं', 'सत्गुरु तिनके की आड़ को हटा कर पहाड़ का दर्शन कराता है' आदि जैसे धर्म-दर्शन के नीरस प्रसंगों में उन्होंने अपनी सहज कल्पना द्वारा सरसता उत्पन्न कर दी है। 'कीरतन' तथा उनके अन्य ग्रन्थों में कल्पना-प्रवणता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनकी यह सर्जना-त्मक कल्पना उन्हें उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देती है। रसानुभूति की तीव्रता द्वारा वे पाठक को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की स्थिति में पहुँचा देते हैं। उनके

---

१. संसार के सभी धर्मग्रंथ धर्मप्रवर्तक के जीवन-काल के कई वर्ष बाद संकलित हुए, परन्तु महामति की वाणी अवतरण के समय ही लिख ली जाती थी। इस प्रकार कुलजम स्वरूप सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाठक और श्रोता काव्य रस से आप्लावित हो उठते हैं। काव्य रस की निष्पत्ति में महामति प्राणनाथ को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। हमारे आचार्यों ने भक्ति रस को रसों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। महामति प्राणनाथ की रचनाओं में भक्ति रस का तो पूर्ण परिपाक हुआ ही है, साथ ही शान्त, वीर, अद्भुत, वात्सल्य और शृङ्गार के भी उत्तमोत्तम उदाहरण उपलब्ध होते हैं। शान्त रस का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

रे जीव सरीर रची सेजड़ी, इत आवे नींद अपार।
ए सूते ही पटकावहीं, पुकार न पीछे वहार॥

....

ऐ अँधेरो है अति विकट, जाहिर रची जम जाल
ए पहले दिखावे सुख सीतल, पीछे जाले अगिनि की झाल· —'कीरतन'

जीव के काव्यात्मक संवाद में शरीर तथा शारीरिक रिश्तों का सजीव चित्रण निर्वेद की भावना उद्दीप्त करता है। उनकी रचनाओं में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जो अत्यन्त सहज-सुन्दर रूप में देहात्मवाद का खण्डन और जीव की नित्यता सिद्ध कर पाठकों में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। त्रिगुणातीत अक्षर ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने और मानसिक सन्तोष, सुख प्राप्त करने, वासनाओं और तृष्णा के परिहार, शम और दम के लिए महामति प्राणनाथ की सुधास्निग्ध वाणी-साधना का द्वार उन्मुक्त कर देती है। वीर रस के अन्तर्गत उन्होंने युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर सभी प्रकार के वीरों का वर्णन उपयुक्त शब्दावली द्वारा किया है। औरंगज़ेब को ललकारते समय उनकी वाणी ओजपूर्ण हो जाती है। वे भारत की वीर भावना को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं :—

राजाने, भल्लोरे; राणे राय तणो,
धर्म जाता रे कोई दौड़ो
जागोने आपेने उठ खड़े रहो, नींद निगोड़ी रे छोड़ो —'कीरतन'

अधर्म और धार्मिक अत्याचार से लड़ने के लिए वे सब प्रकार के वीरों का आह्वान करते हुए पाठक के हृदय में उमंग भर देते हैं। इसी प्रकार रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत प्रेमानुभूति की तीव्रता व्यक्त करते समय महामति प्राणनाथ ने शृंगार रस की सुन्दर सृष्टि की है। उनका कहना है :—

कहा भयो जो मुख थे कह्यो—
जब लग चोट न निकसी फूट
प्रेम बान तो ऐसे लगत हैं,
अंग होत है टूक टूक

उनके प्रेम में सर्वात्मसमर्पण है। वे पूर्वानुराग, वियोग शृंगार से व्यथित होते हैं, किन्तु अपने विरह को विश्वजनीन विरह में परिणत कर देते हैं। वे सारे ब्रह्मांड से एकरस हो जाते हैं। प्रेम के विरह रस से उनकी कविता का घट लबालब भरा हुआ है। उनकी आत्मा रसेश्वर कृष्ण के साथ संयोग के रसामृत में रसमग्न भी हो जाती है। उस समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे कह उठते हैं—'रसमग्न हुई सो क्या गावे' अथवा 'पियारस में यों भई महामत, प्रेम मगन क्यों करसी गान'। संयोग-वियोग की अभिव्यक्ति करते समय महामति ने सांग-रूपकों का सुन्दर प्रयोग किया है। उनके अधिकांश पद दाम्पत्य भाव या मधुर भक्ति से पूर्ण हैं। कृष्ण के बाल्यकाल का वर्णन करते समय वात्सल्य से पूर्ण पद भी मिलते हैं। उनका वात्सल्य रस ही वात्सल्य भक्ति में परिणत हो जाता है। रस-निष्पत्ति के साथ-साथ महामति की रचनाओं में सुन्दर अलंकार-विधान भी दृष्टिगोचर होता है। 'कीरतन' में अर्थालंकार के अन्तर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, व्यतिरेक आदि का सफल चित्रण हुआ है। सांगरूपक के सफल प्रयोग द्वारा उन्होंने युद्ध, भवसागर आदि का वर्णन किया है। इसी प्रकार अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का प्रयोग भी हुआ है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए उन्होंने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया। वे सहज रूप में उनकी कविता के अंग बन गए हैं। अलंकारों ने उनके भावों को प्रभावोत्पादक बनाया है। छन्दों की दृष्टि से महामति ने अधिकतर चौपाई छन्द का प्रयोग किया है, किन्तु 'कीरतन' में विविध रागों में बँधे पदों का प्रयोग हुआ है। ये पद गेय हैं। आज भी प्रणामी धर्मानुयायी शरद् पूनो की रात में रास-नृत्य या गरबा नृत्य करते हुए इन वाणियों को गाकर रसमुग्ध हो जाते हैं। उन्होंने हिन्दी-हिन्दवी-हिन्दुस्तानी में रचनाएँ प्रस्तुत कर राष्ट्रभाषा का रूप निर्धारित किया था। इस भाषा को देश के सभी लोग जानते थे। तत्सम, तद्भव, देशज, देशी-विदेशी शब्दों से समन्वित उनकी खड़ीबोली में उनकी मातृभाषा गुजराती का पुट सहज रूप में आ गया है। अरबी-फ़ारसी शब्दों को उन्होंने देशी रूप प्रदान किया है। अभिधा शब्द-शक्ति की प्रधानता के साथ उनकी भाषा में लक्षणा और व्यंजना का भी अभाव नहीं है। लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण हैं—घर=परम धाम, महल=ब्रह्मांड, नींद=मायाजाल, सिंघ=परमब्रह्म, धनी=अक्षरातीत श्री कृष्ण आदि। उनका शब्द-चयन भावानुभूति या रसानुभूति के अनुरूप है। उनकी शैली की यह प्रमुख विशेषता है। स्थान-स्थान पर वक्रोक्ति के भी सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं जिनसे उनकी अभिव्यंजना शक्तिशाली और चमत्कारपूर्ण हो जाती है। प्राणनाथ की अधिकांश वाणी चौपाई छन्दों में लिखी गई है। ये चौपाइयाँ तुलसी, जायसी आदि की चौपाइयों की भाँति सर्वत्र ३२-३२ मात्रा की नहीं हैं। प्राणनाथ के मुख से वाणी निकलती थी और वह छन्द का बन्धन स्वीकार नहीं करती थी। अतएव मात्राएँ बढ़ गई हैं। प्रणामी धर्मानुयायी इन चौपाइयों को भी गाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि महामति प्राणनाथ की 'कीरतन' तथा अन्य रचनाओं में विषय और काव्य-शिल्प का रसमय समन्वय हुआ है। अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा उनके काव्य में काव्य-तत्त्व कहीं अधिक व्यापक और सजीव है। उन्होंने सब धर्मों का समन्वय ही प्रस्तुत नहीं किया, वरन् कर्मयोग का स्वस्थ चित्रण किया। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों ने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संगठित होने का खुला आह्वान नहीं किया था। प्राणनाथ ने ज्ञान-भक्ति, सुरति-शून्य आदि के साथ-साथ कर्मठ होने का सन्देश भी दिया, आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ समाज की अन्य विषमताएँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूर करने का सक्रिय रूप में प्रयास किया। उनका मोक्ष व्यक्ति का नहीं, 'साथ' (=विश्व की समस्त मानवता) का है। इस दृष्टि से भी महामति प्राणनाथ की अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा निजी विशेषता है। उनका दृष्टिकोण हिन्दू-मुस्लिम-बौद्ध-ईसाई आदि सभी धर्मों तक व्याप्त था। महामति प्राणनाथ ने जैसे महाराज छत्रसाल को समय की माँग के प्रति प्रेरित किया, वैसा तुलसी-सूर ने नहीं किया था। तुलसी ने अकबर को नहीं ललकारा था। महामति ने औरंगजेब को ललकारा था। उसे सच्चा इस्लाम धर्म सिखाना चाहा था। तुलसी-सूर-केशव-बिहारी आदि जैसा काव्य-शिल्प तो उनमें नहीं है, तो भी उनके काव्य-व्यक्तित्व की गोरख-कबीर-नानक-दादू आदि की अपेक्षा अपनी विशेषता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भक्ति को एक व्यापक, समन्वयात्मक धरातल पर लाकर खड़ा कर देने में महामति प्राणनाथ का हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदरणीय स्थान है।

प्रणामी गद्य साहित्य—प्रणामी साहित्य पद्य और गद्य दोनों रूपों में मिलता है। प्राणनाथ, लालदास, मुकुन्ददास सभी ने पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखा है। यह गद्य साहित्य भी लगभग १००० पृष्ठ तक विस्तृत है। यह समस्त-गद्य साहित्य खड़ीबोली में है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में खड़ीबोली गद्य के प्रामाणिक नमूने प्रणामी साहित्य में ही मिलते हैं। यह गद्य-साहित्य लगभग १६५०-१६८० ई० के मध्य लिखा गया है। इस दृष्टि से यह उत्तरी भाग में लिखित उर्दू के गद्य-साहित्य से लगभग १०० वर्ष पुराना है। उर्दू गद्य की प्रथम रचना 'दहमजलिस' या 'मरबल-कथा' का रचना-काल बाद का है। अतएव प्रणामी साहित्य हिन्दी खड़ीबोली गद्य को १९वीं शती तक ले जाता है। गद्य साहित्य से यह सिद्ध हो जाता है कि खड़ीबोली गद्य-साहित्य फ़ोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०) से लगभग १५० वर्ष पूर्व से मिलने लगता है। गद्य की विधा की दृष्टि से भी प्रणामी साहित्य का हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है।

साहित्यिक निधि—प्रणामी साहित्य की प्रकाशित तथा अप्रकाशित साहित्यिक निधि लगभग सात हजार पृष्ठों और डेढ़ लाख पंक्तियों तक विस्तृत है। महामति प्राणनाथ तथा उनके दो शिष्य लालदास और मुकुन्ददास की रचनाएँ उपलब्ध हैं। लगभग ४५०० पृष्ठों में लिखा गया यह अधिकांश साहित्य तत्कालीन खड़ीबोली या मध्य-कालीन मानक हिन्दी में लिखा गया है। १८वीं या १९वीं शती के कुछ प्रणामी कवि ब्रजभाषा में भी कविता करते थे, किन्तु यह साहित्य अधिकांशतः खड़ीबोली में लिखा गया है।

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ मध्यकालीन चारों धाराओं में से किसी में भी नहीं मिलती हैं। प्रणामी साहित्य किसी भी धारा के अन्तर्गत समाहित नहीं किया जा सकता। उसका अपना निजी व्यक्तित्व या निजी वैशिष्ट्य है। अतएव प्रणामी साहित्य मध्यकालीन भक्ति साहित्य की पाँचवीं धारा है। वह समन्वयात्मक संस्कृति की मूलधारा है और समन्वयात्मक संस्कृति का राष्ट्रीय साहित्य है।

महामति के चौदह ग्रंथों का संकलन 'कुलजम स्वरूप' में है। 'प्रकाश' और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'कलश' प्रथम गुजराती में अवतरित हुए। स्वयं महामति ने उनका हिन्दी अनुवाद पद्य में किया। दोनों भाषाओं के दो-दो ग्रंथ आ जाने से संकलन में संख्या सोलह हो गई है। चार ग्रंथ गुजराती में, एक सिन्धी में, कुछ प्रकरण अरबी भाषा में तथा शेष बानी मध्यकालीन खड़ीबोली या उर्दू मिश्रित हिन्दी में अवतरित हुई। समस्त ग्रंथ में १८७५८ चौपाइयाँ हैं। १६१२ पृष्ठों का यह एक वृहत् ग्रन्थ है जिसका विवरण इस प्रकार है :—

नाम	विस्तार प्र०	विस्तार चौ०	रचना-काल वि० सं०	भाषा	स्थान
१ रास (अंजील)	४७	९१३	१७१५	गुजराती (बन्दीगृह) कई प्रकरण मेरता राजस्थान में उतरे हैं	जामनगर
२ प्रकाश (जंबूर)	३७	१०६८	१७१५	गुजराती (बन्दीगृह)	जामनगर
३ षड् ऋतु	१५	२३०	१७१५	गुजराती "	"
४ कलश (तौरात)	१२	५०६	१७२९	गुजराती	सूरत
५ प्रकाश	३७	११८५	१७३५	हिन्दी खड़ी रूपान्तरण	अनूपशहर
६ कलश	२४	७७१	१७३५	हिन्दी खड़ी रूपान्तर	अनूपशहर
७ सनंध (सनद)	४२	१६९१	१७३५	हिन्दी (खड़ी) कुरान की प्रमाणों सहित व्याख्या हिन्दी	अनूपशहर
८ किरंतन	१३३	२१०३	१७१५	कुछ प्रकरण गुजराती सिन्धी से खन्ना तक समय-समय पर बाकी हिन्दी में	जामनगर
			१७४०	पद्यों में ललित काव्य	
९ खुलासा	१८	१०२०	१७४०	वेद कतेब समन्वय	पन्ना
१० खिलवत	१६	१०७४	१७४०–४१	(आत्मा-परमात्मा की एकान्त गोष्ठी)	पन्ना
११ परिक्रमा	४३	२४८४	१७४०-४२	परमधाम वर्णन	पन्ना
१२ सागर	१५	११२८	१७४४	(परमात्मा और रूहों और रूप गुण शृङ्गार के सागर)	पन्ना
१३ सिनगार	२९	२२१०	१७४२	(परमात्मा का स्वरूप वर्णन)	पन्ना
१४ सिन्धी	१६	६००	१७४३	(परमात्मा के सामने रूहों की ओर से हुज्जत)	पन्ना
१५ मारफत सागर	१४	१०३४	१७४७-४८	हिन्दी (कुरान के बातिन अर्थ हकीकत मारिफत का ज्ञान)	पन्ना
१६ (क) कियामत नामा छोटा	२	२१७	१७४७	हिन्दुस्तानी, कतेब की बातों— का स्पष्टीकरण	
१६ (ख) कियामत नामा बड़ा	२४	५३१	१७४७	हिन्दुस्तानी	चित्रकूट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विजयाभिनंद निष्कलंक अवतार इमाम मेहदी के प्रकटीकरण की घोषणा। कियामत के बातिन (अभिप्रेत) अर्थ की व्याख्या।

उपर्युक्त ग्रन्थों में 'रास प्रकाश', 'षड्ऋतु', 'कलश', 'कीर्तन', ग्रन्थों का सम्बन्ध वेद पक्ष से है। 'सनंध', 'खुलासा', 'मारफत' और 'कियामतनामा' का सम्बन्ध कतेब से है। 'खिलवत', 'परिक्रमा सागर', 'सिनगार', सिन्धी में आत्मा की अपरोक्षानुभूति, परमात्मा और परमधाम का सांसारिक शब्दों में वर्णन है। उन्होंने वेद और कतेब के गुह्यार्थ स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिक रहनी (दिनचर्या) का सरल सुगम मार्ग सुझाया है। महामति की खड़ीबोली तत्कालीन संतों की भाषा से निखरी हुई और आधुनिक हिन्दुस्तानी के अति निकट है।

कुलजम पद्य-साहित्य है। इसके अतिरिक्त महामति द्वारा प्रणीत गद्य साहित्य भी है। श्री प्राणनाथ जी ने 'कुरान की तपसीर हुसैनी' का अभिप्रेत अर्थ बताते हुए अनुवाद शुरू किया था। विषय, भाषा आदि की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है जो वि० सं० १७५८ में संकलित प्रति के अन्त में परिशिष्ट के रूप में जुड़ी है। सम्प्रदाय में इसे तीसरा कियामतनामा भी कहते हैं। मध्यकालीन पद्यात्मक गद्य का यह अनूठा प्रतीक है।

शेख मीराजी का किस्सा :—संवाद शैली, गद्य रचना सरल खड़ी बोली में १७वीं शताब्दी में लिखे इस ग्रन्थ में हिन्दू, मुसलमान धर्म की गुत्थियों को सुलझाया गया है। यह ग्रन्थ व्याकरण पद-रचना, वाक्य-रचना, भाषा-शैली की दृष्टि से हिन्दी उर्दू का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं है।

महामति प्राणनाथ के पत्र :—महामति ने कई विशेष व्यक्तियों को बड़े लम्बे पत्र लिखे जो विषय और भाषा की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें बिहारी जी (अपने गुरुपुत्र), जसवंत सिंह राठौर (औरंगजेब का हिन्दू सेनापति) और शेख इसलाम के नाम लिखे पत्र विशेष हैं। जसवंत सिंह राठौर को पत्र काबुल भेजा गया था जिसमें 'तारत्तम' के सिद्धान्त-दर्शन, उपासना-पद्धति और राष्ट्रीयता का बोध है शेख इसलाम के पत्र में कुरान की नई व्याख्या और धर्म-समन्वय का प्रतिपादन है।

इस प्रकार महामति के साहित्य और दर्शन का राष्ट्रीय, सांस्कृतिक विश्व-धर्म-दर्शन और विश्व-शान्ति के लिए विशेष महत्त्व है। इसका उचित मूल्यांकन किया जाए तो राष्ट्रभाषा के विकास, धर्म समन्वय और मानव एकता में बड़ी सहायता मिल सकती है।

अन्य प्राणामी साहित्य :—प्रणामी समाज में :श्री प्राणनाथ जी के समय से ही साहित्य-रचना होती रही है। लगभग पचास वर्षों से तो उसका मुद्रण और प्रकाशन भी हो रहा है। तो भी आधुनिक ढंग से साहित्य-रचना की ओर प्रणामी विद्वानों ने अधिक ध्यान नहीं दिया। समाज में "तीन स्वरूपों" (श्री देव चन्द्र जी, महामति प्राणनाथ और महाराजा छत्रसाल के महामति से मिलन के उपरान्त जीवन) के वृत्तों की भरमार है। कुछ अप्रकाशित प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य भी पड़ा है। जो भी प्राप्य पुस्तकें हैं उनकी सूची यहाँ दी जा रही है :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. विद्वति दमनि—इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत है। इसमें प्रश्नोत्तर के रूप में अध्यात्म-दर्शन है। इसके रचयिता भट्टाचार्य हैं। इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बन रही है।

२. श्री जयराम भाई कंसारा। (करुणावती) ने श्री देवचन्द्र जी के जीवन-चरित तथा व्रजरास का भावपूर्ण वर्णन किया है। यह ग्रंथ भरोड़ा, जामनगर, सूरत, गुजरात में हस्तलिखित रूप में पड़ा है।

३. नवरंग स्वामी श्री मुकन्ददास जी का साहित्य ३६००० चौ० में अनेक ग्रंथों में संकलित है। अब तक तो कई प्रणामी मन्दिरों में वह हस्तलिखित रूप में ही प्राप्य था। कुछ वर्ष पूर्व प्रणामी धर्म-पत्रिका (जामनगर) के वार्षिक अंकों के रूप में उनकी वानी प्रकाशित हुई है। इनके ग्रंथों में महामति के दृष्टिकोण से, गीता, वेदान्त और पुराणों का विवेचन किया गया है।*

४. श्री देवचन्द्र जी तथा विहारी जी के युग का साहित्य जामनगर में राजमन्दिर वालों के पास अप्रकाशित पड़ा है।

५. महामति के जीवन वृत्तों के रूप में कई ग्रंथ प्राप्य हैं। श्री लालदास जी, श्री मुकन्ददास जी, श्री वृज भूषण कृत 'वृतान्त मुक्तावली', लल्लू भाई जी कृत 'वर्तमान दीपक' आदि 'बीतकें' प्राचीन हैं। आधुनिक युग में पं० कृष्ण दत्त जी शास्त्री के 'निजानन्द चरितामृत' डा० राजबाला खुराना, 'प्राणनाथ और उनका साहित्य', पं० मिश्री लाल कृत 'श्री प्राणनाथ का जीवन और साहित्य' और हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के प्रो० माताबदल जायसवाल द्वारा लिखित 'प्रथम' और 'द्वितीय प्रणाम' (लाल दास कृत वीतक) से उनके जीवन का परिचय मिलता है।*

६. श्री लालदास जी कृत 'जामुल मारफ़त' का जामनगर (खोजड़ा मन्दिर) से प्रकाशन हो चुका है।

७. महात्मा अमर (ब्रह्मावती) कृत 'ज्ञान मोक्षानन्द' का लाल जी राजा एण्ड संस बाँकुरा प० बंगाल से प्रकाशित हो चुका है।

८. जीवन मस्तान के कुछ पंचकों का प्रकाशन हो चुका है जो प्रणामी तीर्थ-स्थानों (जामनगर, पन्ना, सूरत) में प्राप्य हैं। इन पंचकों में कृष्ण-भक्ति तथा प्रणामी धर्म-सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

९. पं० कृष्ण दत्त जी शास्त्री ने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रणामी-साहित्य के शोध और प्रकाशन में व्यतीत किया है। उनकी 'निजानन्द चरितामृत' के अतिरिक्त 'विराट पट दर्शन', 'प्रणामी धर्म-सिद्धान्त', 'कृष्ण तत्त्व मीमांसा', 'बड़ा मंसोदा' आदि प्रमुख रचनाएँ हैं।*

१०. 'आनन्द सागर' पं० कृष्ण मणि जी कृत प्राप्य है। इसमें परमधाम की लीला का संक्षिप्त परिचय है।*

११. परमधाम के पट (नक्शे) पहले हाथ से चित्रित किए जाते थे। महाराज मंगल दास जी (सूरत, गुजरात) ने उनकी सुन्दर चित्रों में रचना करा कर प्रकाशित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कराया। परमधाम वर्णन तो कई शास्त्र ग्रन्थों में मिलता है परन्तु नाप-जोख कर चित्र बनाना प्रणामी धर्म के विद्वानों की ही विशेषता है।

इन पटों को समझने के लिए महामति का 'परिक्रमा' ग्रंथ, श्री लाल दास जी का 'छोटी, बड़ी वृत्त' तथा श्री जुगुल दास जी का 'वृत्त' (बिरत) बड़े सहायक ग्रन्थ हैं।

१२. छत्रसाल एक महान कवि थे उनकी कविताओं के कुछ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

१३. श्री हंसराज जी ने 'मेहराज चरित' एक सुन्दर ग्रंथ की रचना की है। खीजड़ा मन्दिर जामनगर से प्रकाशित है।*

१४. भरोड़ा (गुजरात) में महाराज कृष्ण प्रियाचार्य जो भरोसा दास जी के नाम से जाने जाते हैं, ने श्री प्राणनाथ विषयक ग्रन्थों की शोध की है। उनके पास प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रंथों का एक बड़ा संग्रह है।

१५. कृष्ण देव जी ने महामति के जीवन और धर्म-सिद्धान्त का परिचय देते हुए 'विज्ञान सरोवर' नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया था जो खीजड़ा मन्दिर जामनगर से उपलब्ध है।*

१६. मास्टर देव कृष्ण ने पाँच-छह हजार भजन, महामति की बीतक गीतों में तथा 'मैं परनामी हूँ' लिखकर प्रणामी समाज की महान सेवा की।

१७. विमला मेहता ने "गुरु-भक्त शौर्यपुञ्ज छत्रसाल" एक उपन्यास तथा "श्री प्राणनाथ वचनामृत परिचय" लिखकर महामति और छत्रसाल के जीवन का परिचय तथा उनकी बानी का सारांश दिया।

१८. भाटापारा (म० प्र०) में सेठ रणछोड़ जी वीर जी के पास बहुत-सा साहित्य पड़ा है जो गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओं में है।

१९. समय-समय पर कई संतों के भजन और वाणियाँ छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई जो तीर्थ स्थानों पर मिल सकती हैं। इन तीर्थ स्थानों पर बहुत-सा प्राचीन साहित्य पड़ा है जिस पर शोध कार्य होना चाहिए।

प्रचार, प्रकाशन और शोध-कार्य के अभाव के कारण प्रणामी साहित्य, साहित्यकारों और इतिहास लेखकों की दृष्टि से ओझल रहा। प्राणनाथ मिशन एक नई संस्था के रूप में इस ओर अग्रसर हुआ है जहाँ से अधिकांश प्रकाशित ग्रंथ उपलब्ध हैं।

---

*यह सभी ग्रन्थ खीजड़ा मन्दिर, जामनगर से उपलब्ध हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नौ | ३—उत्तर-मध्य काल या रीति और शृंगार काल (१६४३-१८००)

रीति काल की पीठिका

भक्तिकालीन साहित्य के विविध अंगों का अध्ययन कर हम यह देख चुके हैं कि भक्त-कवियों ने जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर परम्परा से चले आ रहे काव्य-रूपों और काव्यादर्शों को ग्रहण कर नवीन मार्ग का सृजन किया। उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। कृष्ण-भक्त कवियों ने तो भगवान् की प्रेम-लीलाओं का वर्णन करते समय लौकिकता का समावेश कर दिया था। नन्ददास ने 'रसमंजरी' में नायिका-भेद तक का समावेश प्रस्तुत किया है। भक्त-कवियों ने रीति-कवियों द्वारा गृहीत कृष्ण को रस का पोषक माना है और संस्कृत ग्रन्थों का आश्रय भी ग्रहण किया है।

हिन्दी साहित्य का रीति काल धार्मिक या भक्ति काल का ह्रास-युग है। धार्मिक आन्दोलन की पवित्रता तो सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही नष्ट हो चली थी। प्रेम और ऐहिकता पर शृङ्गार के प्राधान्य से वासना को प्रश्रय मिला। राधा और कृष्ण का लीला-रूप अब कवित्त और सवैयों में रस, अलंकार और नायक-नायिका-रूप में आने लगा। कहा भी है, 'आगे के सुकबि रीझि हैं तो कविताई, नतु राधिका कन्हाई सुमिरज को बहानो है।' वास्तव में हिन्दी का रीति साहित्य संस्कृत रीति साहित्य, हाल कृत 'सतसई', संस्कृत के भक्तिपरक मुक्तकों और शास्त्र की मिली-जुली परम्परा का विकास है। रस, अलंकार, काव्य-शास्त्र आदि का प्राधान्य होने से ही यह काल के नाम से पुकारा जाता है।

इस परिवर्तन के कारण जीवन की तत्कालीन परिस्थिति में पाए जाते हैं। मुगल-सम्राट् अकबर के बाद जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में हिन्दी प्रदेश में चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि थी। चारों ओर वैभव था। लोगों के पास अपार धन था। युद्ध हिन्दी प्रदेश से दूर थे। मुसलमानी अत्याचार भी अब कम हो चले थे। उन्होंने पूर्ण रूप से अपने को भारत का बना लिया था। अतएव ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण में दरबारी जीवन का शृंगार-पूर्ण हो जाना स्वाभाविक था। यह तो स्पष्ट ही है कि भिन्न-भिन्न राज-वंश कला और साहित्य को आश्रय दिया करते थे। वे कवियों का सम्मान करते थे। कवि भी राज्याश्रय खोजते थे, क्योंकि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में राजा ही सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र हुआ करते थे। इस प्रकार कवियों का अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार काव्य-रचना करना स्वाभाविक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। आश्रयदाताओं नेभी गम्भीर साहित्य की माँग नहीं की। जहाँगीर तथा अन्य मुगल शासकों ने हिन्दी कविता का रसास्वादन किया। ऐसी परिस्थिति में काव्य अधिकाधिक शृंगार-वर्णन की ओर झुकता गया। जिस प्रकार उस काल में चित्रकला, वास्तुकला और संगीत-कला की विभिन्न सूक्ष्म रीतियों और शैलियों के अनुसार सजावट की गई, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी भाव और भाषा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजावट और पच्चीकारी की गई। वास्तव में समाज में कलावन्तों का प्राधान्य हो गया था, जो सामन्तों के आश्रय में रहकर अपना भरण-पोषण करते थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के विभिन्न समयों की चित्रकला और वास्तुकला का तुलनात्मक अध्ययन कर तीनों का भेद स्पष्टतः देखा जा सकता है। हिन्दी काव्य ने भी युग की कलात्मक प्रवृत्ति का अनुसरण किया। उसके लिए सामग्री का भी अभाव नहीं था। कृष्ण-काव्य का रूप उसके लिए अक्षय भंडार सिद्ध हुआ। कृष्ण-काव्य में मधुर भाव, सौन्दर्य और आकर्षक बातों का अभाव न था। प्रारम्भ में उन बातों में भक्ति और आध्यात्मिक दृष्टिकोण सन्निहित था। किन्तु धीरे-धीरे पारलौकिक प्रेम और शृङ्गार, सांसारिक और पार्थिव होता गया और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों से लदी तथा वैभव एवं ऐश्वर्य से पूर्ण मादक वातावरण में पली उच्चवर्गीय नारी विलास की सामग्री मात्र रह गई। रीति कवियों द्वारा नारी के चित्रण से उसकी सामाजिक परिस्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

रीति-शृंगार साहित्य का जन्म

इस बात का उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि जयदेव कृत 'गीतगोविंद' और विद्यापति की 'पदावली' में नायिका-भेद, नख-शिख, दूती, अभिसार, षड्ऋतु आदि विषयों सम्बन्धी रचनाएँ मिलती हैं। किन्तु कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत यह भावना बहुत दिनों तक दबी पड़ी रही। सूर, नन्ददास तथा अन्य श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में इस प्रकार की बातें होते हुए भी वे मर्यादा-विहीन नहीं हो गई थीं। भक्ति-भावना के निर्बल होते ही जयदेव और विद्यापति की भावना लौकिक शृङ्गार के रूप में प्रस्फुटित हो गई।

रीति साहित्य की दृष्टि से यद्यपि अग्निपुराण में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अंशों पर प्रकाश डाला गया है, तो भी भरत मुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' एक ऐसा सर्व-प्रथम ग्रन्थ माना जाता है जिसमें काव्यशास्त्र के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। उसके बाद तो ऐसे अनेक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, जिनमें कवि-कर्म और काव्य के स्वरूप, महत्त्व, गुण, दोष आदि विषयों का विवेचन मिलता है। भामह का 'काव्यालंकार', दण्डी का 'काव्यादर्श', रुद्रट का 'काव्यालंकार', राजशेखर का 'काव्यमीमांसा', उद्भट का 'काव्यालंकारसारसंग्रह', वामन का 'काव्यालंकार सूत्र', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवितम्', मम्मट का 'काव्यप्रकाश' धनंजय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण', रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व', जयदेव का 'चन्द्रलोक', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पंडितराज जगन्नाथ का 'रस-गंगाधर' आदि ऐसे ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उनमें निहित सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में काव्यशास्त्र सम्बन्धी पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय, जिनके आचार्य क्रमशः भरत (रस), भामह (अलंकार), वामन (रीति), कुन्तक (वक्रोक्ति) और आनन्दवर्धन (ध्वनि) माने जाते हैं। इन आचार्यों ने काव्य का मूल स्वरूप पहचानने की चेष्टा की है और ऐसे अनेक सिद्धान्त स्थापित किये हैं जो आज तक पुराने नहीं पड़े। रस क्या है, रस-निष्पत्ति किस प्रकार होती है, भावानुभूति और रसानुभूति की स्थिति, अभिधा भावकत्व, भोजकत्व, साधारणीकरण, अभिव्यक्तिवाद (अभिनवगुप्त), अलंकारों का महत्त्व और उनका वर्गीकरण, भावप्रकाशन की शैली (रीति), वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों का विश्लेषण, कथन अथवा भाव-प्रकाशन का वक्रत्व, वर्ग विन्यास वक्रत्व, वस्तु-वक्रत्व, प्रबन्ध-वक्रत्व आदि की मीमांसा, अविवक्षित वाच्य, विवक्षित वाच्य, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, संलक्ष्यक्रम व्यंग्य, गुणीभूत व्यंग्य आदि विविध विषयों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन संस्कृत के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। काव्य के केवल बाह्य स्वरूप पर ही आचार्यों ने विचार नहीं किया, वरन् उसकी आत्मा का उद्घाटन करने की ओर भी उनका ध्यान विशेष रूप से रहा। आगे चलकर रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त को लागू किया और तदनुसार शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य नामक पाँच भक्ति-रस स्थापित किये। कृष्ण के प्रति माधुर्य-भाव को उन्होंने 'भक्ति-रसराट्' के नाम से अभिहित किया।

पीछे अपभ्रंश साहित्य और हिन्दी साहित्य के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए हिन्दी की अनेक शैलियों और प्रवृत्तियों के पूर्व रूपों पर प्रकाश डाला जा चुका है। सिद्ध सम्प्रदाय, सन्त सम्प्रदाय, सूफ़ी सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा गृहीत अनेक शैलियों, छन्दों और कथाओं के रूप प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों में मिलते हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जो काव्यशास्त्र की प्राचीन परंपरा में रखे जा सकते हैं। जैन कवियों की रचनाओं में भी ऋतु, नख-शिख, रस, शृङ्गार, रीति, नायक-नायिका आदि का वर्णन और नायिकाओं के विविध वर्गों की ओर संकेत रहता था। इन सब बातों को देखते हुए हिन्दी की रीति-परम्परा का सुदूर सम्बन्ध अभी क्षीण रूप में ही मिलता है। शिवसिंह सरोज' में पुण्ड नामक किसी बन्दीजन द्वारा संस्कृत से हिन्दी में अलंकारों के अनुवाद किये जाने का उल्लेख मिलता है। किन्तु वह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के समय में और नन्ददास से पूर्व ही कुछ ऐसे कवियों का अस्तित्व ज्ञात होता है जिन्होंने रीति-सम्बन्धी रचनाएँ कीं। कृपाराम (नायिका-भेद सम्बन्धी 'हिततरंगिणी', १५४१), मुनिलाल (१५८५) आदि ने रस और अलंकारों का निरूपण किया था। 'हिततरंगिणी' की प्राचीनता के बारे में विद्वानों को संदेह है। उसके पूर्व भी कुछ कवियों ने रीति-ग्रन्थों की रचना की होगी, किन्तु उनके ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाये। मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' में कृपाराम के बाद के रीति कवियों की अलंकार एवं रस-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास ग्रन्थ में करनेस कृत 'करणाभरण,' 'श्रुतिभूषण', 'भूपभूषण' तथा अन्यान्य कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार कृपाराम के बाद हिन्दी के रीति-ग्रन्थों की एक निश्चित परम्परा स्थापित हो जाती है—यद्यपि यह परम्परा न तो क्रमबद्ध थी और न हिन्दी के आगामी रीति-ग्रन्थों पर उसका विशेष प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी की इस प्रारम्भिक रीति-परम्परा के सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास ही थे। अलंकार-निरूपण और रस-निरूपण का सूत्रपात होने पर केशवदास ने सर्वप्रथम 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में शास्त्रीय विवेचन किया। रीतिकालीन आचार्य-कवियों में केशवदास का शीर्ष स्थान है। उन्होंने काव्य में आलंकारिक चमत्कार को प्रधानता दी और भामह, दण्डी आदि से प्रेरणा ग्रहण की। किन्तु हिन्दी के आगे के रीति-कवियों ने केशवदास द्वारा गृहीत मार्ग स्वीकार नहीं किया था। केशवदास के आचार्यत्व की दृष्टि से उनके दो ग्रन्थ ही बहुत प्रसिद्ध हैं—'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। इन दोनों ग्रन्थों में विषय-निरूपण तो बहुत स्पष्ट और वैज्ञानिक नहीं है, काव्यशास्त्र के प्रायः समस्त अंगों पर उनमें प्रकाश डाले जाने के कारण उनका महत्त्व है। केशव ने 'कविप्रिया' की रचना राजा इन्द्रजीत सिंह की गणिका रायप्रवीन को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के लिये की थी, जिसमें उन्होंने दण्डी आदि अलंकार-चमत्कारवादियों का अनुसरण किया है। 'कविप्रिया' में उन्होंने भाषा, काव्य-दोष, अलंकार, रस, वृत्ति, काव्योद्देश्य, कवि-कर्म और प्रकार आदि पर विचार किया है। विद्वानों का मत है कि यद्यपि केशव ने अपने विषय-निरूपण के लिए संस्कृत-ग्रंथों को ही आधार बनाया, तो भी उनका विवेचन कुछ अधिक-सुदृढ़ आधार पर हो सकता था। उनके 'रसिकप्रिया' ग्रन्थ में रस-विवेचन है जिसके अन्तर्गत नायिका-भेद भी आ जाता है। इस दृष्टि से भी केशव का विवेचन सांगोपांग नहीं माना जाता और विविध प्रकार तथा दृष्टिकोणों से उसकी आलोचना की जाती है। वास्तव में केशव की विषय-प्रतिपादन-शैली में शिथिलता और विशृङ्खलता पाई जाती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्ययन की ओर उनकी रचनाओं ने अवश्य ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु तब भी हिन्दी में रीति-काव्य की अखण्ड परम्परा केशव के लगभग पचास वर्ष बाद प्रारम्भ हुई। वास्तव में केशव अलङ्कारों को प्रधानता देने वाले चमत्कारी कवि थे। उन्होंने भामह, उद्भट आदि संस्कृत के आचार्यों का मार्ग ग्रहण कर रस, रीति, अलङ्कार आदि सबके लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया। किन्तु आगे के कवियों ने 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि परवर्ती संस्कृत साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया, जिसमें विवेचन कम शिक्षण अधिक था।

हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र या लक्षण-ग्रन्थों के अर्थ में होता है, यद्यपि संस्कृत में उसका काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के रूप में अथवा काव्य की शैली के रूप में प्रयोग हुआ है। हिन्दी रीति-साहित्य अधिकांशतः संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित है। इसलिए उसमें मौलिकता के दर्शन नहीं होते। वैसे तो हिन्दी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आचार्य-कवियों ने भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ, आनंदवर्धन आदि संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों का आश्रय ग्रहण किया, किन्तु जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षितकृत 'कुवलयानन्द' का अनुसरण उन्होंने विशेष रूप से किया। यही कारण है कि हिन्दी के रीति ग्रन्थों में हमें एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति आदि कवियों ने मम्मट, आनन्दवर्धन, विश्वनाथ आदि की व्याख्या-शैलियाँ ग्रहण अवश्य कीं, तो भी जयदेव और अप्पय दीक्षित की शैलियों का अनुसरण ही अधिक हुआ। हिन्दी के रीति ग्रंथों में आचार्यत्व कम और कवित्व-शक्ति अधिक मिलती है। वास्तव में रीति ग्रंथ लिखने की इस समय एक परिपाटी चल पड़ी थी। आलोच्य काल में ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और उनका सम्बन्ध शृङ्गार, रस, अलङ्कार, छन्द, नायक-नायिका-भेद, नख-शिख आदि से है। रीतिकालीन कवियों में रस, अलङ्कार, नायक-नायिका भेद आदि का वर्णन करने की एक परम्परा स्थापित हो गई थी। लक्षण-ग्रंथ लिखना अथवा रीति सम्बन्धी वाद-विवादों में संलग्न होना विद्वत्ता का चिह्न समझा जाने लगा था। धन और आदर प्राप्त करने के यही साधन उनके पास थे। बिहारी जैसे कवि ने यद्यपि स्पष्टतः कोई लक्षण-ग्रंथ न लिखा था, किन्तु उनके ग्रंथ में भी अप्रत्यक्ष रूप से रस, नायिका, अलंकार आदि विषयों पर विचार करने के लिए यथेष्ट सामग्री प्राप्त हो जाती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी रीति की क्रमबद्ध, परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से मानी है, जिन्होंने १६४३ के लगभग 'काव्यविवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु' और काव्य-प्रकाश ग्रंथों का निर्माण किया और पिंगल या छन्द-शास्त्र पर भी एक ग्रंथ लिखा। उनके बाद लक्षण-ग्रंथ लिखना 'साहित्यिक फ़ैशन' हो गया था। 'रीति' शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय एवं सप्रयोजन काव्य-परम्परा या काव्य-परिपाटी के सन्दर्भ में ही किया जाने लगा था। रीतिकालीन कवियों में रस, अलंकार, छन्द नायक-नायिका-भेद आदि काव्याङ्गों के प्रति एक सशक्त आग्रह इसी 'रीति' प्रवृत्ति का ही द्योतन करता है। यही कारण है कि रीति काल तक आते-आते 'मसि कागद छुयो नहिं कलम गही नहिं हाथ' अथवा 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा' जैसी मनोवृत्ति का स्थान 'करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद' जैसी गर्वोक्तियों ने ले लिया। अब कवि के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह काव्य-रचना के पूर्व काव्य-शास्त्रों एवं विभिन्न काव्याङ्गों का सम्यक् अध्ययन करे और अपने निष्कर्षों के साथ कवि-समाज के समक्ष अपनी काव्य-रचना प्रस्तुत करने का साहस करे।

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के पाँचवें अध्याय में कवियों की तीन मुख्य कोटियों[1] तथा उनके अवान्तर भेदोपभेदों का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत

---

१. शास्त्रकविः काव्यकविः उभयकविश्चेति कवयस्त्रिधा।
—राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा', पाँचवाँ अध्याय;
ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से १९३४ में प्रकाशित, तृतीय संस्करण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया है जिसके प्रकाश में रीतिकालीन कवियों तथा उनके काव्यों में अनुस्यूत प्रवृत्तियों का विश्लेषण प्राप्त होता है। राजशेखर के अनुसार कवि तीन प्रकार के होते हैं—

(१) शास्त्र कवि।[१]

(२) काव्य कवि।[२]

(३) (शास्त्र-काव्य) उभय कवि।

इसी के समानान्तर हिन्दी साहित्य के रीति काल में भी तीन प्रकार के कवि माने जाते हैं—

(१) रीतिबद्ध।

(२) रीतिमुक्त।

(३) रीतिसिद्ध।

वस्तुतः लक्षण-शास्त्रबद्ध रचयिता शास्त्र कवि अथवा रीतिबद्ध कवि है, लक्षण शास्त्रमुक्त काव्य कवि अथवा रीतिमुक्त कवि है तथा लक्षण-शास्त्र बद्ध न होकर भी विभिन्न काव्याङ्गों का परोक्ष विवेचन प्रस्तुत करनेवाला शास्त्र-काव्य उभय कवि अथवा रीतिसिद्ध कवि होता है। यही कारण है कि यदि रीतिबद्ध की रचनाओं में कला-पक्ष की प्रधानता परिलक्षित होती है तो रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में भाव-पक्ष मात्र की। रीतिसिद्ध कवियों ने भाव एवं कला दोनों ही पक्षों को बराबर महत्ता प्रदान करते हुए काव्य के सन्तुलन को बनाए रखने का पूरा प्रयास किया है। अपनी काव्य-रचनाओं में कला-पक्ष को प्राथमिकता प्रदान करते हुए लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर काव्याङ्गों का ही विश्लेषण एवं विवेचन मात्र प्रस्तुत करने वाले रीतिबद्ध कवियों में आचार्य केशव, चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर, ग्वाल, भिखारीदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भावपक्ष मात्र को प्राथमिकता देनेवाले रीतिमुक्त कवियों में रसखान, आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। बिहारी, बेनी, कृष्ण कवि, रसनिधि, पजनेश आदि रीतिसिद्ध कवियों की कोटि में आते हैं जिनके काव्यों में भाव तथा कला काव्य के इन दोनों ही पक्षों का सन्तुलन उपलब्ध होता है। रीतिकालीन कवियों में से प्रमुख-प्रमुख का उल्लेख नीचे किया गया है।

रीति काल के प्रमुख कवि : चिन्तामणि त्रिपाठी

चिन्तामणि त्रिपाठी तिकवाँपुर (जिला कानपुर) के रहनेवाले थे और उन्होंने भोंसला राजा मकरन्दशाह के आश्रय में रचना की। चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर ये चार भाई थे, जिनमें से पहले तीन यशस्वी कवि हुए। प्रस्तुत कवि का जन्म १६०९ और रचना-काल १६६४ के लगभग माना जाता है। उनके

---

१. त्रिधा शास्त्रकविः—यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं विधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं विधत्ते ॥— —राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा, पाँचवाँ अध्याय, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से १९३४ में प्रकाशित, तृतीय संस्करण।

२. काव्यकविः पुनरष्टधा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलंकारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति ॥ —वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थ 'शृङ्गार-मंजरी', 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' (१६५०), 'काव्य-प्रकाश', 'रामायण', 'रस-मंजरी' और 'छन्दविचार' हैं। किन्तु इनमें से कई ग्रन्थ अप्राप्य हैं। उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों को प्रधान आधार माना है। 'शृङ्गार-मंजरी' 'कविकुल कल्पतरु' से पहले की रचना मानी जाती है। उसमें नायिका-भेद है। चिन्तामणि ने अपने विषय का निरूपण संस्कृत-आचार्यों की पद्धति पर वैज्ञानिक ढंग से किया है। उसमें व्यावहारिकता और सरलता है। कवि अपने विषय का सांगोपांग निरूपण करता है। चिंतामणि की गणना व्रजभाषा के आचार्यों में की जाती है। उनकी भाषा में लालित्य है और वह परिमार्जित है। चिंतामणि की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'इक आजु मैं कुन्दन-बेलि लखी मनि मंदिर की रुचि वृन्द भरैं।
कुरविन्द के पल्लव इंदु तहाँ अरविन्दन तें मकरन्द झरैं॥
उत बुन्दन के मुकुतागन ह्वै फल सुन्दर ह्वै पर आनि परैं।
लखि यों दुति कंद अनंद कला नँदनंद सिलाद्रव रूप धरैं॥'

महाराज जसवन्तसिंह

जोधपुर (मारवाड़) के महाराज जसवन्तसिंह का जन्म १६२६ में हुआ था। उनका सम्बन्ध औरङ्गजेब के इतिहास से है। उनकी मृत्यु १६७८ में हुई। महाराज जसवन्तसिंह कविता प्रेमी और तत्त्वज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव-प्रकाश', 'आनन्द विलास' और 'सिद्धान्तसार' नामक ग्रन्थ वेदान्त-सम्बन्धी हैं। किंतु वे काव्याचार्य थे—वास्तव में वे कवि पीछे, आचार्य पहले थे। 'भाषा-भूषण' उनका प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ है, जिसमें जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। वैसे तो 'भाषा-भूषण' अलंकार-ग्रन्थ है, किन्तु उसके प्रथम प्रकरण में रस-निरूपण और उसके अंतर्गत नायक-नायिका-भेद भी किया गया है। अलंकारों में भी कवि ने अर्थालंकारों की ओर अधिक ध्यान दिया है, शब्दालंकारों की ओर कम। संक्षिप्ति 'भाषा-भूषण' की शैली की विशेषता है। 'भाषा-भूषण' छोटा-सा ग्रन्थ है और उसकी व्रजभाषा में सरलता है। किन्तु अलंकारों के नाम बीच-बीच में आने से भाषा की प्रांजलता में अन्तर अवश्य पड़ जाता है। 'भाषा-भूषण' से कुछ उदाहरण वहाँ उद्धृत किये जाते हैं :

लोकोक्ति अलंकार

'लोकोक्ति कुछ बचन जो, लीन्हें लोक-प्रबाद।
नैन मूँदि षटमास लौं सहि यों बिरह-विषाद॥'

वक्रोक्ति अलंकार

'वक्रोक्ती स्वर स्लेष सों, अर्थ-फेर जो होय।
रसिक अपूरब हो पिया, बुरो कहत नहिं कोय॥'

स्वभावोक्ति अलंकार—

'स्वभावोक्ति वह जानिए, बर्नन जाति-सुभाय।
हँसि-हँसि उझकति फिरि हँसति मुंह मोरति इतराय॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिहारी

तुलसी के 'मानस' के बाद यदि किसी ग्रन्थ को साहित्य लोकप्रियता प्राप्त हुई तो वह बिहारी कृत 'सतसई' है :

'ब्रजभाषा बरनी कविन, बहु विधि बुद्धि विकास।
सबकी भूषण सतसई करी बिहारीदास॥
जो कोऊ रस-रीति को समुझौ चाहै सार।
पढ़ै बिहारी-सतसई कविता को सिंगार॥'

'मानस' के बाद 'सतसई' पर ही अनेक टीकाएँ निर्मित हुईं। 'सतसई' का जो क्रम आजकल प्रचलित है, वह आजमशाह ने बँधवाया था, और वही अच्छा समझा जाता है।

बिहारी का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ गोविंदपुर में १६०३ के लगभग हुआ। वे माथुर चौबे थे। सम्भवतः १६६२ तक वे जीवित रहे। वे मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रय में रहते थे। जब महाराज छोटी रानी के प्रेम में इतने मग्न हो गए कि राज-कार्य भूल गये तो बिहारी ने यह प्रसिद्ध दोहा लिखकर भेजा था :

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥'

कहा जाता है, तभी से महाराज ने उन्हें ऐसे ही सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी और एक दोहे पर एक अशर्फी इनाम में मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहों की रचना हुई जो 'सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी में 'बिहारी-सतसई' की रचना कोई नई घटना नहीं थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में शतक और सप्तशती लिखने की प्रथा बहुत थी। हिन्दी में भी सौ या सात सौ फुटकर पद्यों के संग्रह निर्मित होते थे। 'तुलसी-सतसई' प्रसिद्ध ही है। बिहारी की सतसई भी इसी परम्परा की एक प्रमुख रचना है। आधुनिक समय में भी 'उद्धव-शतक' और 'वीर सतसई' ग्रन्थ लिखे गए हैं। नारी-सौन्दर्य का वर्णन भी बिहारी को उत्तराधिकार में मिला था।

एक समय था जब बिहारी और देव को लेकर हिन्दी में घोर वाद-विवाद हुआ था। पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की तो 'नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने देव को। इस वाद-विवाद से हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना को प्रोत्साहन मिला। किन्तु स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे निरर्थक ही बताया था। लाला भगवान दीन ('बिहारी और देव') ने पं० पद्मसिंह शर्मा का और पं० कृष्णबिहारी मिश्र ('देव और बिहारी') ने मिश्रबन्धुओं का समर्थन किया। वास्तव में बिहारी और देव दोनों एक ही युग की सामाजिक और सांस्कृतिक पीठिका को लिये हुए कवि थे। किन्तु बिहारी चमत्कार के पोषक थे, तो देव प्रधानतः रस के पोषक थे। देव में शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों का भी परिपाक हुआ है। उनका क्षेत्र बहुत व्यापक था। भाषा, व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि से दोनों की निष्पक्ष तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि यदि बिहारी देव की अपेक्षा अधिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तम शिल्पी और शैलीकार हैं, तो रस और भावों की व्यापकता की दृष्टि से देव निश्चय ही बिहारी से आगे हैं।

बिहारी की 'सतसई' एक मुक्तक रचना है और दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। 'Brevity is art' अँगरेजी का यह कथन पूर्णतः बिहारी के दोहों पर घटित होता है :

'सतसैया को दोहरो ज्यों नावक को तीर।
देखन को छोटो लगै, घाव करे गम्भीर॥'

उन्होंने गागर में सागर भरा है। बिहारी के दोहों के दो चरण अन्य बड़े-बड़े कवियों के कवित्त-सवैयों के चार-चार चरणों में भी अधिक प्रभावशाली हैं। साथ ही उनसे कवि की बहुज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। भाव-व्यंजना और शब्द-विन्यास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपूर्व है। पद-मैत्री का एक मनोरंजक प्रयोग देखिए।

'गड़े बड़े छबि छाकु छकि, छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरँग-रँग रँगि उहीं, नँह-दी मँहदी नैन॥'

बिहारी के शब्दालंकारों से अर्थ की रमणीयता उत्पन्न होती है और रसोद्रेक होता है, यद्यपि कहीं-कहीं पर अतिशयोक्ति और कृत्रिमता आ जाने से प्रेम-रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं भी हो पाती। मानसिक सुकुमार भावों का, जिनके पीछे एक पूरी घटना छिपी हो, इतने संक्षेप में सरस चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। भावपूर्ण चित्र के दो उदाहरण इस प्रकार हैं :

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाई।
सौंह करे, भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाइ॥'
'नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे-सी कसके हिए, गड़ी कटीली भौंह॥'

मानवी प्रकृति का उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण किया था और उनका एक छोटा-सा दोहा पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देता है। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने शोभा, सुकुमारता, नेत्र, विरह आदि के सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किए हैं। किन्तु विरह-वर्णन में कहीं-कहीं उन्होंने खिलवाड़ किया है :

'इस आवति, चलि जात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै लगी उसासन साथ॥'

कल्पना-शक्ति के साथ-साथ बिहारी की रचना में समास-शक्ति भी है। उनकी मुक्तक कला पूर्ण सफल है। बिहारी द्वारा अनुभावों और अंग-चेष्टाओं की सृष्टि भी अत्यन्त उच्चकोटि की हुई है। उन्होंने उक्ति-कौशल, कांति-सुकुमारता, विरह आदि के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। शब्द-वैचित्र्य या वर्णन-वैचित्र्य के स्थान पर कवि ने अनुपम अलंकार-विधान रखा है। अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप बिहारी के कुछ उत्तम दोहे इस प्रकार हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतिशयोक्ति—

'छाले परिबे के डरनि सकति न हाथ छुवाय।
झिझकति हिए गुलाब के झवाँ झवावत पाय ।।'

उत्प्रेक्षा—

'चमचमात चंचल नयन बिच घूंघट पट झीन।
मानौ सुर सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन ।।

उन्मीलित—

'मिलि चन्दन बेंदी रही, गोरे मुँह न लखाय।
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै त्यों-त्यों उघरति जाय ।।'

विरोधाभास—

'तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ।।'

किन्तु बिहारी के शृङ्गारी रूप के अतिरिक्त उनका अशृङ्गारी (भक्ति और नीति सम्बन्धी) रूप भी है जो उपेक्षणीय नहीं है।

बिहारी के दोहे 'आर्या सप्तशती' (संस्कृत में) और 'गाथा सप्तशती' (प्राकृत में) की छाया पर निर्मित हुए हैं। पर उनमें अपनी मौलिकता और सजीवता है। बिहारी की ब्रजभाषा में साहित्यिकता है। उन्होंने यद्यपि अपनी 'सतसई' लक्षण ग्रन्थ के अनुसार नहीं लिखी, तो भी उनके दोहे रस और नायक-नायिका-भेद के लक्षणों के अनुसार रखे जा सकते हैं। उनकी भाषा और चित्र-विधान पर फ़ारसी का भी प्रभाव है। बिहारी का अनुकरण अन्य कवियों ने भी किया। उनके कुछ दोहे देखिए :

'मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होई ।।
अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु के सङ्ग ।।
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात ।।
पाँइ महावर देन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिर-फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ ।।
सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर ।।'

बिहारी की भक्ति, वैराग्य और नीति सम्बन्धी रचनाओं में अलंकार-कौशल अधिक और रस-परिपाक कम है। उनकी वास्तविक काव्य-प्रतिभा शृङ्गार सम्बन्धी रचनाओं में ही मिलती है।

मतिराम

मतिराम का जन्म तिकवाँपुर (कानपुर) में १६१७ के लगभग हुआ था। वे बूंदी के महाराज भावसिंह और फिर शम्भुनाथ सोलंकी के आश्रय में रहे थे। 'ललित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ललाम (अलंकार, १६५९ और १६८८ के बीच में), 'रसराज', 'छन्दसार', साहित्य-सार', 'लक्षण शृङ्गार' और 'अलंकार पंचाशिका' उनकी रचनाएं हैं, जिनमें से पहले दो ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। इन दो प्रसिद्ध ग्रंथों में उन्होंने क्रमशः अलंकार और रस-निरूपण किया। 'ललित ललाम' अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है जिसकी रचना मतिराम ने अपने आश्रयदाता बूंदी-नरेश भावसिंह के सम्मान में की थी। कवि ने लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त और सवैयों में दिए हैं। 'ललित ललाम' और 'रसराज' में कुछ छन्द समान हैं। 'रसराज' 'ललित ललाम' की अपेक्षा अधिक सुन्दर भावों और शास्त्रीय पद्धति से समन्वित बन पड़ा है। 'रसराज' में हाव, भाव, नायक-नायिका-भेदोपभेदों सहित शृङ्गार रस का निरूपण हुआ है। इस ग्रन्थ के उदाहरणों में भाव और भाषा दोनों का सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु दोनों ग्रन्थों में आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व ही अधिक प्रमुख है। दोनों ग्रंथों की प्रतिपादन-शैली अतएव अत्यन्त सहज-स्वाभाविक, सरस और उच्चकोटि की है। मतिराम की भाषा सरल तथा प्रवाह-युक्त और वैदर्भी रीति-युक्त है। शब्द-चयन करने में उन्होंने अपनी निपुणता प्रदर्शित की है। उनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। प्रेम-वर्णन और भाव भी उनके स्वाभाविक और मार्मिकता प्रदर्शित करनेवाले हैं। उनके कुछ दोहे तो बिहारी के दोहों से टक्कर लेते हैं। यद्यपि मतिराम का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है, तो भी उनकी साहित्यिक पटुता का उनके ग्रन्थों से अच्छा परिचय मिलता है। उनकी कविता के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं :

'कुन्दन को रँगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई;
आँखिन में अलसानि चितौनि में, मंजु विलासनि की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई।
बारनि धूपि अँगारिन धूम कैं धूप-अँध्यारी पसारी महा है;
आनन चंद समान उगौ मृदु मन्द हँसी मानो जोन्ह छटा है।
फैलि रही मतिराम जहाँ-तहँ दीपति दीपनि की परभा है;
लाल! तिहारे मिलाप को बाल ने आजु करी दिन में ही निसा है॥'

●

'ज्यों-ज्यों परसे लाल तन त्यों-त्यों राखे गोय;
नवल बधू डर लाज ते इन्द्र बधू-सी होय।
अभिनव यौवन-जोति सों जगमग होत बिलास;
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास॥
लाल तिहारे सङ्ग में, खेलै खेल बलाय,
मूंदत मेरे नयन हौ, करन कपूर लगाय॥
फूलत कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न;
मनो बुलावत मधुप कों दै चुटकी की सैन॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूषण

चिंतामणि और मतिराम के भाई भूषण का जन्म १६१३ में और मृत्यु १७१५ में मानी जाती है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने उन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी। वे शिवाजी और छत्रसाल के यहाँ भी समादृत हुए थे। भूषण का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान है। एक तो उन्होंने शृङ्गार रस की प्रचुरता में वीर रस की धारा प्रवाहित की। दूसरे, उनकी वीर-भावना व्यापकता लिये हुए है। उनका वीर-काव्य केवल किसी एक आश्रयदाता को प्रसन्न करनेवाला नहीं था। उन्होंने उन वीरों का यश-गान किया, जिनके साथ सारी हिन्दू जाति की भावनाएँ सम्बद्ध थीं। अतएव वे हिन्दू जाति के तत्कालीन प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उस समय की राष्ट्रीयता में स्थानीयता और धार्मिकता का पुट था और वही बातें हमें भूषण की रचनाओं में मिलती हैं। आधुनिक राष्ट्रीयता की दृष्टि से उनकी रचनाओं का परखना उनके साथ अन्याय करना होगा। उन्होंने अपने समय के वातावरण के अनुकूल देश-रक्षा और धर्म-रक्षा की ओर दृष्टिपात किया। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दशक' हैं, जिनमें 'शिवराज भूषण' ही प्रधान रचना है।

भूषण का 'शिवराज भूषण' नामक ग्रन्थ एक प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थ है। कवि ने अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप कवित्तों और सवैयों में शिवाजी के ओजपूर्ण व्यक्तित्व का वर्णन किया है। अन्य अनेक कवियों की भाँति भूषण ने अर्थालंकारों पर अधिक ध्यान दिया। रीति की दृष्टि में 'शिवराज भूषण' सफल रचना नहीं कही जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने शिवाजी से सम्बन्धित छन्दों की स्वतंत्र रूप से रचना की थी और बाद को तत्कालीन साहित्यिक प्रथा के अनुसार उन्हें रीति-क्रमानुसार रख दिया था। इसीलिए रीति के लक्षण-ग्रन्थों के विपरीत एक ही छन्द में एक से अधिक अलंकार मिल जाते हैं। फिर अलंकारों के लक्षण और उदाहरण भी बहुत वैज्ञानिक नहीं हैं—कहीं-कहीं पर तो लक्षण और उदाहरण अशुद्ध भी हैं। कई स्थलों पर लक्षणों की भाषा तक अस्पष्ट है। यही कारण है कि प्रतीक, संकर, छेकानुप्रास, निदर्शना, विभावना आदि अनेक अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में वैषम्य और अनुपयुक्तता मिलती है। आचार्यत्व की दृष्टि से भूषण के भाई चिन्तामणि और मतिराम अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। भूषण ने 'शिवराज भूषण' में सामान्य-विशेष और भाविक छवि नामक दो नवीन अलंकारों का उल्लेख किया है। किन्तु यह नवीनता केवल पुराने अलंकारों—विशेष निबन्धना और भाविक—को ही नए नामों से पुकारने में है। यह कोई मौलिक नवीनता नहीं है। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है। भाषा की दृष्टि से भूषण बहुत अधिक सफल नहीं कहे जा सकते। उनकी भाषा ओजस्विनी और वीर-दर्प-पूर्ण अवश्य है, किन्तु वह आडम्बरयुक्त, अव्यवस्थित और विकृत शब्दों से पूर्ण है। प्रायः उनकी वाक्य-रचना शिथिल है और उसमें व्याकरण के नियमों का पालन नहीं किया गया है। उनकी साहित्यिक ब्रजभाषा में प्राकृत, पंजाबी, खड़ीबोली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अरबी-फ़ारसी आदि के शब्द भी मिल जाते हैं। भूषण परुषा वृत्ति के पोषक थे। भाषा का जो सौन्दर्य मतिराम में मिलता है, वह भूषण में नहीं मिलता। उनकी रचना के कतिपय उदाहरण देखिए :

'इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है;
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम-द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषण' बितुण्ड पर जैसे मृगराज है;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है।'

'साजि चतुरंग बीर रंग मैं तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषण' भनत नाद बिहद-नगारन के
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल-फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल
गजन की ठेल पेल सैल उलसत है;
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं॥'

'दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुण्ड-मुण्ड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी-भूप सिंहल को सरके॥
मारे सुनि सुभट पनारे-वारे उदभट,
तारे सुने फिरत सितारे-गढ़धर के।
बीजापुर बीरन के गोलकुण्डा धीरन के,
दिल्ली उर भीरन के दाड़िम से दरके॥'

देव

देव (जन्म १६७३ ई०, रचना-काल १६८९ से १७३३ तक) का पूरा नाम देवदत्त है और वे इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। वे बड़े ही अनुभवी व्यक्ति थे और उन्होंने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नाम पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनकी ग्रन्थ-संख्या ५२ और ७२ के बीच में बताई जाती है, किन्तु उनके 'भाव-विलास' (१६८९), 'अष्टयाम', 'जातिविलास' और 'शब्द-रसायन' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अधिकांशतः रस और नायिका-भेद का निरूपण किया, यद्यपि कुछ ग्रंथों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में काव्य-शास्त्र के कतिपय अन्य अंगों का विवेचन भी मिल जाता है। 'भाव-विलास' (१६८९) का सम्बन्ध रस और अलंकारों से है। 'रसविलास' (१७२६) में उन्होंने बड़े विस्तार के साथ स्त्रियों के भेदोपभेद और नायिका-भेद प्रस्तुत किये हैं। जाति, देश, अवस्था आदि अनेक आधारों पर उन्होंने स्त्रियों के विभिन्न वर्ग निर्धारित किए हैं। 'भवानी-विलास' में देव ने शृङ्गार को रसराज मानते हुए रस-विवेचन किया है जो बहुत-कुछ परम्परानुसार ही है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने शृङ्गार के भेदों, भावों, नायिका-भेद, पूर्वानुराग आदि विषयों पर विचार किया है। संचारियों का उल्लेख करते समय उन्होंने अपनी कुछ मौलिकता प्रदर्शित की है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'शब्द-रसायन' में शब्द-शक्ति, वृत्ति, गुण, रस और अलंकारों पर प्रकाश डाला गया है। रस की दृष्टि से तो उनके 'भाव-विलास' और 'भवानी-विलास' ग्रन्थ ही मुख्य हैं। उनका रस-वर्णन अत्युत्तम और श्रेष्ठ कोटि का हुआ है। विवेचन-पद्धति, काव्य-सौंदर्य, शब्दों के उपयुक्त प्रयोग, विषय-प्रतिपादन-शैली आदि की दृष्टि से देव के ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। उनके वर्गीकरण में मौलिकता है। देव ऐसे बिरले कवियों हैं में जिनमें कवित्व के साथ-साथ आचार्यत्व के भी दर्शन होते हैं, यद्यपि इन दोनों में से भी काव्य-तत्त्व उनकी रचनाओं का प्रमुख अंग है। उनकी रचनाओं में अलंकारों की अनुपम छटा और प्रसाद गुण तथा गांभीर्य है। उन्होंने काव्य की सरसता के साथ-साथ रीति-शास्त्र के ऐसे अनेक अंगों पर विचार किया, जिन पर अन्य किसी कवि ने विचार नहीं किया था। उनकी रचनाओं में मौलिकता, भाषा की साहित्यिकता और शब्द-लालित्य है। अक्षर-मैत्री पर वे विशेष रूप से ध्यान रखते थे। वास्तव में देव रीति काल के प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए :

'घर में घाइ धँसी निरधार ह्वै जाय फँसी उकसी न अबेरी,
रीं अँगराइ गिरी गहरी गहि फेरे फिरीं नहिं घेरी,
'देव' कछू अपनो बसु ना रस लालच लाल चितैं भई चेरी,
बेगि ही बूड़ि गई पँखिया अँखिया मधु की मखियाँ भई मेरी ॥'
'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यो,
कंचुकी में चुपरयौ करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मस्तूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो;
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ॥'

भिखारीदास

रीति काल के आचार्य-कवियों में भिखारीदास (या केवल दास) का नाम भी उल्लेखनीय है। वे प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के निवासी और श्रीवास्तव कायस्थ थे। उनका कविता-काल (१७२५ से १७५० तक) माना जाता है। उनकी 'रस सारांश' (१७४२), 'छन्दार्णव पिंगल' (१७४२), 'काव्य-निर्णय' (१७४६), 'शृङ्गार-निर्णय' (१७५०) आदि रचनाएँ हैं, जिनमें 'काव्य-निर्णय' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भिखारीदास कृत 'काव्य-निर्णय' उन्हें आचार्य-पद प्रदान करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना चिंतामणि, केशव, सुरति, श्रीपति आदि के ग्रन्थों के आधार पर हुई, तो भी ग्रन्थ में विषय-प्रतिपादन और निरूपण अत्यन्त सुस्पष्ट ढंग से हुआ है और फलतः 'काव्य-निर्णय' काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में आदरणीय स्थान रखता है। भिखारीदास ने काव्य के लगभग सभी अंगों पर विद्वतापूर्ण शैली में विचार किया है। काव्य-प्रयोजन, काव्यांग, पदार्थ-निर्णय (शब्द-शक्ति आदि), अलंकार (मूल तथा वर्गीकरण सहित), ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, पुनरुक्तिवदाभास, तुक, काव्य-दोष (वाक्य-दोष और अर्थदोष) आदि पर विचार करते समय उन्होंने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है, यद्यपि मम्मट कृत 'काव्य-प्रकाश' को उन्होंने प्रधान आधार माना है। 'चन्द्रालोक' से भी सहायता ली है। आचार्य भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' की रचना करते समय मम्मट का ही अधिक अनुगमन किया है। उनका दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गार-निर्णय' (१७५०) उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना 'काव्य-निर्णय'। 'शृङ्गार-निर्णय' में शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का निरूपण करते समय नायक, नायिका, दूती, सखी, नखशिख-वर्णन, पूर्वानुराग, दर्शन, स्वप्न, छाया, माया, चित्र आदि पर उन्होंने विचार किया है। भिखारीदास कृत 'रस-सारांश' में रसों का विस्तृत वर्णन मिलता है। किन्तु ग्रन्थ साधारण है। भिखारीदास का महत्त्व इसीलिए है, क्योंकि काव्यांगों का जितना विस्तृत विवेचन उन्होंने किया है, वह अन्य रीति कवियों की रचनाओं में नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण भी किया। किन्तु इतने पर भी उनका कार्य वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उनकी रचना में कई लक्षण भी अशुद्ध हैं। वास्तव में भिखारीदास भी देव की भाँति प्रधानतः कवि-रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी साहित्यिक ब्रजभाषा सरस और आडम्बरहीन है। वे हर एक बात को बड़े अनूठे ढंग से कहते हैं। उनका कला-पक्ष संयत और रस का पोषक है। वे भाषा में विविध भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के पक्षपाती हैं। उनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए :

'चारु मुखचंद को चढ़ायो विधि किंशुक कै,
शुकन यों बिम्बाधर लालच उमंग है।
नेह उपजावन अतूल तिल फूल कैधों
पानिप सरोवर की उरमी उतंग है।
दास मनमथ साही कंचन-सुराही-मुख
बाँस जुत पालकी को पाल सुभ रंग है।
एक ही में तीनों पुर ईस को है अंस कैधों
नाक नवला की सुरधाम सुर सङ्ग है।'

'नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि मैं तैए ?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए ?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु परान पियारे को देखन पैए॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद्माकर

रीति के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर हैं। वे तैलंग ब्राह्मण थे और उनका जन्म १७५३ में बाँदा में हुआ और मृत्यु १८३३ में कानपुर में हुई। 'हिम्मतबहादुर विरदावली' (वीर रस, १७९२ के लगभग), 'जगद्विनोद' (रस, १७९९ के लगभग) और 'पद्माभरण' (अलंकार, १७९९ के बाद) उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उनके अन्य ग्रन्थों में 'प्रबोधपचासा', 'गंगालहरी' और 'रामरसायन' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। उत्तरकालीन रीति कवियों में पद्माकर सबसे अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त कवि हैं। किन्तु यह प्रसिद्धि कवित्व-शक्ति के कारण है, न कि आचार्यत्व के कारण। वैसे 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' ये दोनों ग्रन्थ उनके आचार्यत्व पर भी प्रकाश डालते हैं। 'जगद्विनोद' की रचना जयपुर के महराज प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञानुसार हुई थी। शृङ्गार को रसराज मानकर उन्होंने रस, भाव और नायिका-भेद का वर्णन किया है। लक्षण बहुत अच्छे नहीं बन पड़े हैं। उदाहरणों में शब्द-शक्ति और चमत्कार, मधुर और कोमल कल्पना, हाव-भाव-पूर्ण मूर्ति-जीवन, भावुकता आदि के कारण विशेष सौंदर्य उत्पन्न हो गया है। 'पद्माभरण', जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है। पद्माकर ने लक्षण और उदाहरण दोनों दोहों में ही दिए हैं, यद्यपि कहीं-कहीं चौपाइयों का भी प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में अर्थालंकार, पंचरसालंकार और संसृष्टि-संकर नामक तीन प्रकरण हैं और वह 'भाषाभूषण', 'चंद्रालोक' और 'भाषाभरण' (वैरीसालकृत, १७६८) के आधार पर लिखा गया है। वास्तव में कवि-रूप में पद्माकर की ख्याति का मुख्य स्तम्भ 'जगद्विनोद' ही है। पद्माकर ने 'जगद्विनोद' में शृङ्गार रस का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया है। मधुर कल्पना, सजीव मूर्ति-विधान, प्रवाह, शब्द-विन्यास, अनुप्रास, शब्द-मैत्री, ध्वनि-साम्य उत्पन्न करने वाले शब्दों का प्रयोग उनकी साहित्यिक ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है। उनकी कविता में लाक्षणिकता एक बड़ा भारी गुण है। उनके कुछ छन्द देखिए :

'कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है।
कहै पद्माकर पराग हू में पौन हू में,
पातिन में पीकन पलासन पगंत है॥
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखी दीप दीपन में दीपति दिगंत हैं।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगर्‌यो बसन्त है॥'

'फागु की भीर, अभीरन में गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी।'
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीन पिताम्बर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य कवि

रीतिकाल के उपर्युक्त अत्यधिक प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त कुलपति मिश्र ('रस-रहस्य', १६७०; 'गुणरसरहस्य'), सुरति मिश्र ('अलङ्काररसमाला', १७०९; 'रसरत्नाकर', 'काव्यसिद्धांत' आदि), श्रीपति ('कविकुलकल्पद्रुम', 'काव्यसरोज', १७२०; 'रससागर' आदि), उदयनाथ कवीन्द्र (१६७९ के लगभग जन्म; 'रसचंद्रोदय', १७४७), तोषनिधि ('सुधानिधि', रस, १७३४), रसलीन ('अंगदर्पण', १७३७, और 'रसप्रबोध',) १७४१, दूलह (१७४३ से १७६८ तक रचनाकाल; 'कविकुल-कंठाभरण', अलंकार, (ऋषिनाथ ('अलंकार-मणि-मंजरी', १७७४), बेनी बन्दीजन ('टिकैतराय प्रकाश', अलंकार, १७९२ और 'रस-विलास', आदि अन्य अनेक कवि हुए जिन्होंने रस, अलंकार, छन्द आदि विविध काव्यांगों पर रचनाएँ प्रस्तुत कर अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया।

कुलपति मिश्र भूषण के समसामयिक बताये जाते हैं। वे आगरा-निवासी थे। उनकी गणना हिन्दी के रीति-आचार्यों में की जाती है। कवि ने व्रजभाषा गद्य में प्रतिपाद्य विषय की विवेचना भी की है। काव्य परिभाषा, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ग, ध्वनि, काव्य-कोटि, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, रस-ध्वनि, मध्य-काव्य (गुणीभूत व्यंग्य), काव्य-दोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार आदि का विवेचन 'रस-रहस्य' में मिलता है। कुलपति की विवेचना-पद्धति सुस्पष्ट और शास्त्रीय है, जो उन्हें उच्चकोटि के विद्वानों में स्थान दिलाती है। उन्होंने 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' को प्रधान आधार माना है। सुरति मिश्रकृत 'अलंकार-माला' में लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में रखे गये हैं। यह शैली महाराज जसवन्तसिंह कृत 'भाषा-भूषण' के समान है। 'काव्य-सिद्धान्त' में परिभाषा, काव्य की व्युत्पत्ति, रस, गुण, अलंकार, शब्द, काव्य के दोष, पिंगल आदि विषयों पर विचार किया गया है। अपने इन दोनों ग्रन्थों के कारण सुरति मिश्र रीति काल के प्रसिद्ध आचार्यों में परिगणित किए जाते हैं। सुरति मिश्र की भाँति श्रीपति भी काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। उनकी ख्याति का प्रधान आधार 'काव्यसरोज' है। इस ग्रंथ से आचार्य भिखारीदास ने भी 'काव्यनिधि' की रचना करते समय सहायता ली। श्रीपति ने 'काव्य-सरोज' में काव्य के लक्षण, शब्द-निरूपण, अर्थ-चित्रण, काव्य-दोष, काव्य-गुण, रस, अलंकार आदि पर विवेचनात्मक पद्धति द्वारा विचार किया है और प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं—विशेषतः केशव की रचनाओं से। 'काव्य-सरोज' की रचना का प्रधान आधार 'काव्य प्रकाश' है। उदयनाथ कवीन्द्र (कालिदास के पुत्र) के 'रस-चंद्रोदय' (१७४७) से शृङ्गार रस का वर्णन करते समय नायक-नायिका-भेद प्रस्तुत किया गया है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त और सवैयों में हैं। रसलीन की भाँति उदयनाथ कवि-रूप में ही अधिक श्रेष्ठ हैं, न कि आचार्य रूप में। तोषकृत 'सुधानिधि' में रस का विवेचन किया गया है। कवि ने नवरस, रसाभास, भावोदय, वृत्ति आदि के साथ-साथ नायिका-भेद भी प्रस्तुत किया है। रस के अन्य अंगों-उपांगों के अतिरिक्त उसने वियोग की दसों दशाओं का वर्णन भी किया। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त, सवैया,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोहा आदि छंदों में हैं। सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने शृङ्गार रस का ही विस्तृत वर्णन किया है और उसी के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद को स्थान दिया है। कालिदास के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र दूलह कवि का अलंकार सम्बन्धी 'कविकुल-कंठाभरण' नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसकी रचना 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर हुई। दूलह ने ११७ अलंकारों का वर्णन संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट शैली में किया है। एक ही कवित्त या सवैया में कई-कई अलंकारों के लक्षण और उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने अलंकारों के स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से। ग्रंथ से दूलह का आचार्यत्व प्रदर्शित होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन कवियों ने केवल रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों की ही रचना नहीं की, वरन्, भक्ति और रस-सम्बन्धी रचनाएँ भी कीं और श्रङ्गार रस की मुक्तक रचनाओं के साथ-साथ प्रवन्ध-काव्यों के की रचना भी की। जहाँ तक शृङ्गार रस से सम्बन्ध है, उसकी विवेचना लक्षण ग्रन्थों अन्तर्गत हुई है।

रीति-सम्बन्धी रचनाओं का क्रम स्फुट रूप में एक प्रकार से ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। उसके बाद हिन्दी की यह परम्परा समाप्त हो गई। जीवन और साहित्य की नवीन परिस्थितियों के अनुसार काव्य-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण का जन्म होना स्वाभाविक था।

आलम

रीति काल की प्रधान काव्य-धारा के कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक कवि ऐसे हुए जिन्होंने रीति-सम्बन्धी रचनाएँ न कर उन्मुक्त पद-रचना के वैशिष्ट्य के साथ-साथ एकनिष्ठ प्रेम का वर्णन किया, यद्यपि गोप-गोपियों और राधा-कृष्ण के नामों का उन्होंने भी आश्रय लिया है, उनका प्रेम लौकिक प्रेम है। स्वतंत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐसे कवियों की रचनाएँ विविध संग्रहों में भी पाई जाती हैं। ऐसे कवियों को केवल श्रङ्गारी कवियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है और उनका समय सत्रहवीं शताब्दी के बाद है। आलम एक ऐसे ही कवि थे। वे जाति के ब्राह्मण थे, किन्तु अपनी प्रेयसी शेख के कारण मुसलमान हो गए थे। उनका कविता-काल १६८३ से १७०३ तक माना जाता है। उनकी कविताओं का संग्रह 'आलम केलि' के नाम से प्रसिद्ध है। उनकी कविताओं में हृदय-तत्त्व प्रधान है। उन्होंने शृङ्गार-संबंधी अनेक उक्तियाँ प्रकट की हैं। भाषा भी उनकी परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। उनकी रचनाओं पर फ़ारसी का प्रभाव भी पाया जाता है। उनकी रचना का एक उदाहरण देखिए :

'रात के उनींदे अरसांते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी-तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्यों-ज्यों लै सलिल चख 'सेख', धोवे बार-बार,
त्यों-त्यों बल बुन्दन के बार झुकि जात हैं।
कैवर के भाले कैधों नाहर नहन वाले,
लोहू के प्यासे कहूँ पानी तें अघात हैं॥'

घनानन्द

घनान्द का जन्म १६८९ में और मृत्यु १७३९ में हुई। वे रस के साक्षात् अवतार थे। उनका 'सुजान सागर' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उनकी जैसी विशुद्ध टकसाली व्रजभाषा लिखने वाले बहुत कम कवि हुए हैं। वियोग शृङ्गार के आधार पर उन्होंने प्रेम का संगीत अलापा है। उनकी कविताओं में अनेक अनूठी भावनाएँ भरी पड़ी हैं। उन्होंने शब्दों के काव्योपयुक्त और लाक्षणिक प्रयोग किए हैं: नाद-व्यंजना, अर्थ-गांभीर्य आदि की दृष्टि से उनकी रचनाएँ अद्वितीय हैं:

'कारी कूर कोकिल कहाँ को वैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैड़ परे पापी ये कलापी निसि-द्यौस ज्यों हो,
चातक रे घातक ह्वै तूहि कान फोरि लै॥
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि के अकेली सब घेरी दल ओरि लै।
जौ लौं करैं आवन बिनोद बरसावन वे,
तौ लौं रे डारौ बजमारे घन घोरि लै॥'

ठाकुर

बुन्देलखण्ड के ठाकुर ने भी प्रेम-भाव में तन्मय होकर काव्य-रचना की। उनका जन्म १७६६ में और मृत्यु १८२३ के लगभग हुई। उनके 'ठाकुर-ठसक' नामक ग्रंथ में उनके हृदय की सच्ची उमंग पाई जाती है। स्वाभाविकता, अनुभूति के अनुकूल भावों के उत्कर्ष, प्रेम-भाव की तनमन्यता आदि की अभिव्यक्ति उन्होंने लोकोक्तियों से पूर्ण, मधुर तथा बोलचाल की व्रजभाषा में अत्यन्त सुन्दरता के साथ की है। उन पर फ़ारसी का भी प्रभाव है। ठाकुर की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है:

'पावस में परदेस तें आय मिले पिय औ मनभाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, ता पर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारि सुहावनि दामिनि कौंधि कितै को गई है।
री अब तो घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई है।

बोधा

कवियों की इसी परम्परा में आगे चलकर पन्ना दरबार के कवि बोधा (ज० १७४६) फ़ारसी के अच्छे जानकार थे। वे बहुत ही प्रेमी और रसिक जीव थे। उनकी रचनाओं में 'प्रेम की पीर' की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। उनके 'विरह वारीश' और 'इश्कनामा' प्रसिद्ध हैं:

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो,
यह धीरज ही मैं धरैबो करै।
उर तैं कढ़ि आवै, गरे तें फिरै,
मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाह सरी कबहूँ,
नितही हरबा सो हिरैबों करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै,
मन ही मन पीर पिरैबो करै॥'

अयोध्या के राजा मानसिंह द्विजदेवकृत 'शृङ्गार लतिका' और 'शृङ्गार बत्तीसी' भी दो लोकप्रिय काव्य-ग्रन्थ हैं। उनकी रचनाओं में भाषा और भाव के सहज चित्ताकर्षक रूप और सुन्दर ऋतु-वर्णन मिलते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भी अनेक रचनाएँ प्रेम की इसी परम्परा में हैं।

अन्य रचनाएँ

मध्ययुग में यद्यपि मुक्तक-रचना की प्रधानता रही, तो भी तुलसी, जायसी आदि ने प्रबन्ध-कौशल भी प्रकट किया। रीति-साहित्य मुक्तक-प्रधान हैं। मध्य युग की प्रबन्ध-परम्परा का पालन राजस्थान के कल्लोल कवि ने भी किया। उनकी प्रसिद्ध कृति 'ढोला मारू रा दूहा' (१४७३) है जिसमें नरवर के राजा नल तथा रानी चम्पावती के पुत्र ढोला (साल्ह कुमार) और पूगल के राजा पिंगल तथा रानी उमादेवी की पुत्री मारू की प्रेम-कहानी है। आदि काल में हिन्दी में चरित-काव्यों की जो परम्परा स्थापित हुई थी, उसका एक सुन्दर उदाहरण 'ढोला मारू रा दूहा' में मिलता है। यह काव्य प्रेम एवं शृङ्गारपरक (संयोग और वियोग) और चरित्र-प्रधान खण्ड-काव्य है। प्रबन्ध की द्रुत गति, मर्मस्पर्शी मनोराग, सहज प्रवाह, शास्त्रीयता का अभाव और प्रभावोत्पादकता के अतिरिक्त उसमें लोकगीत (ballad) की अनुश्रुति-परम्परा-निर्वाह, मौखिक परम्परा का पालन, कवि के व्यक्तित्व के स्थान पर जन-परम्परा का प्रभाव, कल्पना, संगीत, आडंबरशून्यता एवं रोचकता, वीरता, प्रेमजन्य विकलता, ईर्ष्या, उत्साह, हर्ष आदि विशेषताएँ मिलती हैं। उसमें कथा-विकास शृंखलाबद्ध हुआ है। उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी है। ढोल-मालवणी की कथा बहुत-कुछ प्रेममार्गी कवियों द्वारा प्रस्तुत कथाओं से मिलती-जुलती है, ढोला और मारू का विवाह तो क्रमशः तीन और डेढ़ वर्ष की अवस्था में हो जाता है, किन्तु जब मारू वयस्क हो जाती है तो वह स्वप्न-दर्शन, श्रवण-दर्शन आदि द्वारा ढोला से संयोग स्थापित करने के लिए उत्सुक हो उठती है। ढोला भी उसका समाचार पाकर उससे मिलन प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाता है। नव प्रेयसी के लिए उसे व्याकुल देखकर उसकी पत्नी मालवणी विलाप करने लगती है। उसे प्रसन्न करने में ढोला को एक वर्ष लग जाता है। कवि ने विरहिणी मालवणी के विलाप और शुक द्वारा उसके सन्देश का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। अन्त में कुछ आपत्तियों और संकटों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् ढोला, मारू और मालवणी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। सुखपूर्ण अन्त के साथ-साथ कवि ने प्रकृति वर्णन, ऋतु-वर्णन, सौन्दर्य, यौवन, नख-शिख, दूती, शुक-प्रसंग, विरह-दशाओं आदि के वर्णन में और सहज-स्वाभाविक अलंकार-सौन्दर्य द्वारा अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। ढोला धीर-ललित नायक और सर्वगुण-सम्पन्न है। उसमें सौन्दर्य, साहस, धैर्य, दानशीलता, गुणग्राहकता आदि गुण हैं। मारू भावुक, कोमल, गंभीर, संगीत-कुशल और प्रेममुग्धा नायिका है। मालवणी चतुर, कर्त्तव्यनिष्ठ, पति-परायणा और धैर्य-शीला है। ग्रंथ में दोहा और सोरठा छन्द है उसकी भाषा तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच की राजस्थानी है। वर्षा ऋतु का वर्णन देखिए :

'चहुँ दिस दामिनी सघन घन, पीउ तजी तिण वार।
मारू मर चातग गए, पिउ-पिउ करत पुकार ॥३७॥
पावस आयउ साहिबा, बोलण लागा मोर।
कंता, तूं घरि आव नवि, जोबन कीधउ जोर ॥३८॥
गिरवर मोर गहक्किया तरवर मूक्या पात।
धणियाँ घण सालण लगा, वूढ़ैतौ बरसात ॥३९॥
राजा, परजा, गुणिय-जण, कवि-जण पण्डित पात।
सगलाँ मन ऊछल हुअउ, वूठैतो बरसात ॥४०॥
ऊनमि आ बद्दिलौं, ढोलउ आयउ चित्त।
या बरसई रितु आपणी, नइण हमारे नित्त ॥४१॥'

मध्य युग की एक अन्य अत्यधिक प्रसिद्ध प्रबन्ध-रचना पृथ्वीराज राठौर कृत 'बेलि क्रिसन रुक्मिणी री' (१५८७) है। छन्द-संख्या २९१-२९२ में कवि ने ग्रन्थ के नामकरण का आधार बनाया है। वैसे 'बेलि' शब्द के प्रयोग के कई कारण बताए जाते हैं—१. जो 'बीज' भागवत में है और जिसका कवि के हृदय में वपन हुआ, वहीं 'बेलि' या 'बल्लरी' के रूप में फैल गया है। २. 'बेलि' का साधारण भाषा में 'बेल', 'लता' आदि अर्थ होते हैं। काव्य में 'लता' जैसी मधुरता और कोमलता होने का कारण उसे 'बेलि' कहा गया। ३. 'बेलियो गीत' में रचित होने के कारण भी उसे 'बेलि' कहा गया है। हिन्दी साहित्य में 'लता या बेलि' शब्द जोड़कर रचनाओं का नामकरण बराबर किया गया है, उदाहरणार्थ विद्यापति कृत 'कीर्तिलता', घनानन्द कृत 'वियोग बेलि', द्विजदेव कृत 'शृङ्गार-लतिका' आदि। राजस्थान में तो आश्रय-दाताओं की प्रशस्तियों और भगवान के गुणगान अथवा वैराग्यपूर्ण रचनाओं के लिए 'बेलि' या 'बेलि' शब्द का प्रयोग होता ही था। ग्रन्थ की कथा का मूल स्रोत भागवत में वर्णित रुक्मिणी-विवाह (अध्याय ५२-५५) है। रुक्मिणी-विवाह के ये प्रसंग संक्षेप में विष्णु और हरिवंश पुराणों में भी आए हैं। श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण, उनके विवाह, उनकी रति-क्रीड़ा और अन्त में प्रद्युम्न का जन्म आदि इस प्रसिद्ध ग्रंथ के विषय हैं। कवि ने भक्ति-सम्बन्धी स्थलों के अतिरिक्त रूप सौन्दर्य, नखशिख, शृङ्गार, रति, षट्ऋतु आदि के सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किए हैं। रसों में वैसे तो वीर, रौद्र, वीभत्स, हास्य, अद्भुत, करुण आदि सभी रस हैं, किन्तु शृङ्गार रस (संयोग और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वियोग हो) प्रधान हैं 'बेलि' में स्थान-स्थान पर अनुप्रास, वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उसमें शब्दों का भाव तथा अर्थ के साथ सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। साथ ही उसमें डिंगल के 'वयण सगाइ' (शब्दानुप्रास) अलंकार का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है। यह खंडकाव्य है और श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी क्रमशः उसके नायक-नायिका हैं। 'बेलि' के सम्बन्ध में एक समस्या यह है कि उसे शृङ्गार-प्रधान ग्रंथ कहा जाय, अथवा भक्ति-प्रधान ग्रंथ अथवा वीर-काव्य। उसमें शृङ्गार रस की प्रधानता तो स्पष्ट है। साथ ही कवि की कृष्ण सम्बन्धी भक्ति-भावनाएँ भी उसमें व्यक्त हुई हैं। वीर-काव्यों के समान कथा-बद्धति (कल्पना के आधार पर ऐतिहासिक या अनैतिहासिक नायक की वीरता, नायिका के अनुपम सौंदर्य, कामकेलि आदि का वर्णन) होने के कारण उसे 'वीर-काव्य' भी माना जा सकता है। किन्तु वास्तव में 'बेलि' एक ऐसा शृङ्गार-प्रधान काव्य है जिसमें वीर और भक्ति-भावनाओं के साथ-साथ रीति-कालीन प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। इसी काल में वृन्द, दीनदयाल गिरि, गिरधर कविराय आदि नीति और ज्ञान-वैराग्य के वचन कहने वाले कवि हुए।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से नीति और ज्ञान-वैराग्य सम्बन्धी रचनाओं का प्रचार रहा है। संस्कृत में भर्तृहरि तथा अन्य कवियों ने सुभाषितों की रचना की। अपभ्रंश में भी इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। तुलसी और रहीम के नीति-विषयक दोहों का पीछे उल्लेख हो चुका है। समस्त हिन्दी भूमि में इस प्रकार का साहित्य सदैव से प्रचलित रहा है। 'वृन्द-सतसई' का रचना काल १७०४ मानी जाती है वृन्द कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह के गुरु थे। सतसई के अतिरिक्त उनके 'शृङ्गार शिक्षा' और 'भावपंचाशिका' नामक दो अन्य ग्रंथ हैं। इसी प्रकार दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ और गिरिधर की कुंडलियाँ प्रसिद्ध हैं। 'अन्योक्ति' एक प्रकार का व्यंग्यात्मक अलंकार है। जिससे कोई बात कहनी हो, सीधे उससे ही न कहकर एक दूसरे व्यक्ति को लक्ष्य कर बात उसे 'सुनाई' जाय, यही अन्योक्ति है। गिरि जी की अन्योक्तियाँ लोक प्रचलित हो गई हैं और शिक्षा प्रदान करने के काम में लाई जाती हैं। गिरि जी सच्चे अध्यात्मवादी भी थे। उनके 'अनुराग बाग', 'वैराग्य दिनेश' आदि ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं। दीनदयाल गिरि की भाषा अपरिमार्जित ब्रजभाषा है, किन्तु सुकवि होने के नाते उनकी भाषा प्रसाद-गुण-पूर्ण है। उनकी अनेक अन्योक्तियाँ शान्त रस की होने के कारण माधुर्य गुण से सम्पन्न हैं। दीनदयाल गिरि की कविता का क्षेत्र अनोखा है और हिन्दी के अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है। गिरिधर कविराय की कुंडलियों से भी हिन्दी भाषा-भाषियों को शिक्षा प्राप्त होती रही है। उनका आविर्भाव-काल अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जाता है।

खड़ीबोली गद्य

किन्तु इस काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है खड़ीबोली गद्य के विकास का प्रथम सोपान, जिसका सूत्रपात १५०० ई० के लगभग प्रारम्भ में किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित सूफी काव्य 'कुतुबशतक' (दोहा छन्द) पर लिखे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वार्त्तिक तिलक औरंगजेब के लगभग समकालीन स्वामी प्राणनाथ और उनके शिष्यों की रचनाओं[1], में १७४२ में रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योगवासिष्ठ' और १७६२ में दौलतराम के 'जैन पद्मपुराण' से होता है। इस काल की साहित्यिक गतिविधि के इस पक्ष में अगले अध्याय—'ब्रिटिश काल'—में विचार किया जायगा, क्योंकि गद्य के विकास और आधुनिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रीति काल की विशेषताएँ

पीछे इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि मध्ययुगीन भारतीय जीवन सामन्तवाद पर आधारित था। इस्लाम के आगमन से न केवल इस व्यवस्था में ही कोई परिवर्तन नहीं हुआ, वरन् वह और भी अधिक दृढ़ हुई। राज-दरबार वैभव और विकास के केन्द्र थे। छोटे-छोटे सामन्त सम्राट् का अनुकरण करने में अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। हिन्दू नरेश भी उनके प्रभाव से अछूते न रह सके। हरमों में स्त्रियों का जमाव, नर्तकियाँ, संगीत, शिकार, सुरा-पान, उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण और भोजन, सुन्दर कलात्मक भवन-निर्माण आदि बातें तत्कालीन सामन्तों के विलास और वैभवपूर्ण जीवन की विशेषताएँ थीं। इन विशेषताओं से निम्न वर्ग वंचित था। निम्न वर्ग सामन्त वर्ग की कृपा पर आश्रित था। धनिक वर्ग का सामन्त वर्ग के साथ रहना स्वाभाविक था। किन्तु धीरे-धीरे धनिक और सामन्त वर्गों का नैतिक पतन होना आरम्भ हुआ। शाहजहाँ के समय से प्रारम्भ होकर यह पतन औरंगजेब के समय में अपने तीव्र रूप में प्रकट हुआ। अठारहवीं शताब्दी में वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। मध्ययुगीन भारतीय जीवन की इस अधोमुखी गति को देखते हुए इस युग को हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण युग' कहा जाना कुछ विचित्र-सा माना जा सकता है। किन्तु यह प्रश्न उठाते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस युग के उत्तर भाग में ही उर्दू साहित्य का विकास हुआ और राज-दरबारों के माध्यम से ही हुआ। फिर, यह 'स्वर्ण-युग' नाम भक्ति और रीति एवं शृङ्गारी रचनाओं के कारण दिया जाता है। रीति एवं शृङ्गारी रचनाओं में तत्कालीन दरबारी जीवन स्पष्टतः प्रतिबिंबित होता है। उसमें परिपक्व कलात्मकता का अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। परिस्थितिवश मध्य युग में वीर-काव्य-प्रणेताओं की भी कमी नहीं रही। यह परम्परा आदिकाल से चली आ रही परम्परा के रूप में थी। तुलसी, सूर जैसे भक्त कवियों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में वीर रस को स्थान दिया। रीति कवियों ने रीति-ग्रन्थों की रचना करते समय अपने-अपने आश्रयदाताओं के युद्धों और वीरतापूर्ण कार्यों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया। इन वर्णनों में कोरी प्रशंसा है। ऐसे कवियों को हम 'वीर-कवि' की संज्ञा नहीं दे सकते। वे कवि भाट या चारण जाति के नहीं थे। साथ ही उनकी ऐसी रचनाएँ स्फुट रूप में भी हैं। राज्य-स्थान में भी वीर एवं स्तुत्यात्मक रचनाएँ अधिकतर स्फुट रूप में ही मिलती हैं, वीर-काव्य-ग्रंथ कम हैं। श्रीधर (१४०० के लगभग र० का०) महाराज पृथ्वीराज राठौर

---

१. श्री माताबदल जायसवाल के अनुसार सन् १६७३ के लगभग से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१५४९-१६००), दुरसा जी आढ़ा (१३३५-१६५५; 'विरुद छिहत्तरी'), केशवदास गाडण (१५५३-१६४०, 'राव अमरसिंह रा दूहा'), सूजा जी (१५३५ के लगभग 'राव जैतसी रो छन्द'), जग्गा खिड़िया.१६५८ के लगभग र० का०), पृथ्वीराज साँदू (१८वीं श० पूर्वार्द्ध), करणीदान कविया (१७४३ र० का०), बाँकीदास (१७७१-१८३३, लगभग चालीस रचनाएँ) आदि वहाँ के ऐसे ही कवि हैं। वीर-काव्य के इन रचयिताओं में से अनेक ने भक्ति (कृष्ण-भक्ति) और रीति-साहित्य की भी रचना की। भक्ति-साहित्य की दृष्टि से पृथ्वीराज राठौर, केशवदास गाडण साँया झूला (१५७३-१६४६), खेतसी साँदू (१७३३), बाँकीदास, ओपा जी आढ़ा आदि ने अपने भक्ति-सम्बन्धी उद्गार भी प्रकट किए। इसी प्रकार नीति के क्षेत्र में जोगीदास (१६६४; 'हरि पिंगल प्रबन्ध') किशन जी आढ़ा, मंसाराम मंछ (१७७७-१८३५ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीति काल के अध्ययन से सर्वप्रथम निष्कर्ष यह निकलता है कि इस समय वीर-भावना तो क्षीणप्राय हो गई थी और शेष सारे काव्य-साहित्य पर कृष्ण-काव्य का प्रभाव है। उसमें नारी सौंदर्य की मादकता है, आध्यात्मिकता के स्थान पर शृङ्गार की ओर अधिक झुकाव है। धार्मिक शृङ्गार का आश्रय अवश्य लिया गया है, किन्तु वातावरण लौकिक शृङ्गार का है। रीति-कालीन साहित्य का सम्बन्ध दरबारों से है। उनका सर्जन शासकों की रुचि के अनुसार हुआ। ये दरबार मुगल दरबारों के अधीन थे। कवियों का दृष्टिकोण सीमित और असंतुलित है। जिस नारी का उन्होंने वर्णन किया, उसमें व्यक्तित्व का पूर्ण अभाव है। उनके काव्य में सामाजिक उत्थान की भावना भी नहीं पायी जाती। जीवन के मौलिक प्रश्नों पर उनकी दृष्टि नहीं गई। साथ ही सारा साहित्य काव्य-शास्त्र की दृष्टि से लिखा गया है, क्योंकि इस काल में तथा इससे कुछ पहले, संस्कृत के काव्य-शास्त्र का अध्ययन होने लगा था। रीति कवियों ने हिन्दी साहित्य का विश्लेषण नहीं किया। जिन्होंने संस्कृत-परम्परा का पालन करते हुए आचार्यत्व नहीं, अपनी कवित्व-शक्ति प्रकट की। इस काल में आचार्यत्व कम और कवित्व-शक्ति अधिक मिलती है। काव्य-शास्त्रवाले या आचार्यत्व वाले अंश में कोई विशेष मौलिकता नहीं है। काव्यांगों (भिखारीदासकृत 'काव्य-निर्णय'), रस केशवकृत 'रसिकप्रिया'), नायक-नायिका-भेद (चिन्तामणिकृत 'शृङ्गार-निर्णय'), अलंकार (जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण') आदि के विवेचन का प्रधान आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है और उसमें मौलिकता का अभाव है। केवल नायक-नायिका-भेद के सम्बन्ध में हिन्दी कवियों ने कुछ विस्तार प्रस्तुत किया। संस्कृत में नायक-नायिकाओं का बहुत अधिक विस्तार नहीं है। उसमें रस के अन्तर्गत संक्षेप नायक-नायिकाओं का वर्णन किया गया है! हिन्दी में राधा-कृष्ण को नायक-नायिका का रूप देने और मध्ययुगीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप प्रचलित बाल-विवाह, पर्दा, स्त्री-सम्बन्धी आदर्श तथा पतन आदि कारणों से उसे अधिक विस्तार प्राप्त हुआ। रीतिकालीन काव्य से स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा, आभूषणों, पुष्पों आदि जीवन-सम्बन्धी अनेक बातों का भी अच्छा ज्ञान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्त होता है। रीतिकालीन कवियों ने या तो काव्य के सब अंगों का निरूपण किया या रस-निरूपण किया। किन्तु काव्य के अन्तर्गत दृश्य-काव्य का विवेचन किसी कवि ने नहीं किया। वास्तव में रीतिकालीन कवियों का आचार्यत्व कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। गद्य के अभाव से काव्यांगों की विवेचना ठीक न हो सकी। संस्कृत की भाँति ध्वनि, वक्रोक्ति, रस, अलंकार आदि रीति के विविध अंगों का निरूपण भी न हो सका। रीतिकालीन कवि प्रधानतः कवि थे, न कि आचार्य। कुछ कवियों को छोड़कर अधिकतर कवियों की कविताओं में कृत्रिम सौंदर्य मिलता है। विभिन्न छन्दों, अलंकारों और शब्दावली के माध्यम द्वारा अनैसर्गिक सौंदर्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गई, न कि मानवीय हृदय के गहनतम भावों का चित्रण करने की। उनकी कविता में काव्य के बाह्यांगों की प्रधानता है। कुछ कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने दृष्टकूट, चित्रकाव्य आदि की रचना की और पद्यबद्ध पहेलियाँ बुझाईं। काशीराज की चित्र-चन्द्रिका' एक ऐसा ही उदाहरण है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक ऐसे ग्रन्थों की रचना होती रही; यद्यपि रस, अलंकार, छंद आदि विषयों पर रचे गए ग्रन्थों की संख्या ही अधिक रही। रीतिकाल कवियों ने नखशिख, अष्टयाम, षट्ऋतु आदि के वर्णन भी किए, जिनका पूर्व रूप संस्कृत ग्रन्थों में भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से बहुत कम कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी ब्रजभाषा सुव्यवस्थित हो। तोड़-मरोड़कर शब्दों को विकृत करना उनके लिए साधारण बात है। भाषा की इस अवस्था का एक प्रधान कारण यह था कि रीतिकालीन कवि ब्रज के निवासी नहीं थे और न वहाँ जाकर रहे थे। फलतः वे स्थानीय शब्दों का मिश्रण किए बिना न रह पाते थे। रीतिकालीन कवियों ने भाषा के सम्बन्ध में ही फ़ारसी का प्रभाव प्रदर्शित नहीं किया, वरन् भावों के क्षेत्र में भी उनका प्रभाव स्वीकार किया। किन्तु यह प्रभाव देशी साँचे में ढलकर प्रकट हुआ है। छंदों में दोहा, कवित्त और सवैया की प्रधानता रही। अंतिम दोनों छंद वीर और श्रृङ्गार के लिए उपयुक्त सिद्ध होते हैं। रसों में श्रृङ्गार प्रधान रहा और वीर तथा शांत क्षीण रूप में रहे। इस काल में जो वीर भावना मिलती है—भूषण, लाल और राजस्थान के कवियों की रचनाओं में—वह व्यापक होते हुए भी कृत्रिमता लिए हुए है, और उसके लिए प्राचीन वीर-ग्रन्थों की शब्दावली, अभि-व्यंजनाओं, छंदों आदि का प्रयोग हुआ है। वैसे भी भूषण और लाल जैसे कवियों की वीर-भावना सर्वसाधारण तक न पहुँच सकी—जगनिक के आल्हा की तरह। वास्तव में सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर इस काल में त्रुटियाँ अधिक, विशेषताएँ कम हैं। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी की कविता-धारा का वेग मन्द पड़ गया था। उसमें नवीन जीवन और आदर्श दिखाई नहीं पड़ता। धीरे-धीरे ब्रज-भाषा-काव्य की शक्ति क्षीण होने लगी।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दस | ब्रिटिश काल [१८००-१९४७]

अँगरेजी राज्य की स्थापना और आधुनिक युग

आधुनिक युग गद्य का युग है और उसका अँगरेजी राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1]

भारत का शासन-सूत्र मुसलमानों के हाथ से निकल कर जब अँगरेजों के हाथ में चला गया तो भारतीय जीवन में, और उसके फलस्वरूप साहित्य में, अनेक परिवर्तन होने लगे। अँगरेजों में पहले पोर्चुगीज, डच और फ्रांसीसी भारतवर्ष में आए और मुसलमान शासकों की उदारता के कारण देश के विभिन्न भागों में व्यापार करने लगे। अँगरेज जहाँगीर के समय में आए और उन्होंने क्रमशः बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये। धीरे-धीरे वे देश की राजनीति में भी भाग लेने लगे और भारतीय नरेशों के आपस के सन्धि-विग्रह में पड़

---

१. ब्रिटिश काल (१८००-१९४७) का 'पुनरुत्थान काल' नाम भी हो सकता था। किन्तु, जैसे कि पहले कहा जा चुका है, 'ब्रिटिश काल' नाम 'मध्य काल' के अनुरूप ऐतिहासिक नाम है। दूसरे ऐतिहासिक दृष्टि से 'ब्रिटिश काल' नाम जितना 'Objective' है, उतना 'पुनरुत्थान काल' नाम नहीं है। यह ठीक है कि आलोच्य काल में भारतवर्ष जहाँ एक ओर परतंत्र हुआ, वहाँ दूसरी ओर परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए भी वह छटपटाने लगा और नवीन शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारों आदि के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में नवीन चेतना दृष्टिगोचर हुई जिसकी अन्तिम परिणति स्वतंत्रता की प्राप्ति थी। तो भी भारतीय 'पुनरुत्थान' सच्चे अर्थ में 'पुनरुत्थान' था, यह विवादास्पद है। इसके अतिरिक्त 'पुनरुत्थान' शब्द का प्रयोग यूरोपीय 'Renaissance' के अर्थ में होता है। जहाँ तक साहित्य से संबंध है, वह ईसा की सोलहवीं शताब्दी के इटली के नवजागरण पर आधारित था। ग्रीस, रोम और मध्य युग की क्लासिकल परम्पराओं के आधार पर ही आधुनिक यूरोपीय साहित्यिक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए। किन्तु भारतवर्ष में तो प्राचीन और मध्ययुगीन परम्पराओं को नकारा गया और जीवन तथा साहित्य का संस्कार यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में किया गया। इन सभी दृष्टियों से 'ब्रिटिश काल' ही उपयुक्त नाम जान पड़ा। इस संबंध में तर्क पीछे दिये जा चुके हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर अपना प्रभाव बढ़ाते गए। उनका सबसे बड़ा युद्ध १७५७ में प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला से हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्होंने बंगाल प्रांत पर पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व जमा लिया। बंगाल की दीवानी पर अधिकार प्राप्त कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालने वाले रॉबर्ट क्लाइव (१७४३-१७६७) ने अपनी कूटनीति वरन कर देश से अपार धन बटोरा। प्लासी की लड़ाई के बाद १७६४ में बक्सर की लड़ाई के फलस्वरूप अँगरेजों की सैनिक शक्ति बढ़ी। १७६१ में हैदरअली ने अपने राज्य की स्थापना की और १७६४ में सिक्खों का उदय हुआ। १७६४ की लड़ाई जीतने के बाद अवध भी अँगरेजों के हाथ में आ गया। एक वर्ष बाद बिहार और अवध की दीवानी भी उन्हें मिल गई। इस प्रकार धीरे-धीरे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना प्रभुत्व बढ़ाकर भारतवर्ष में अपने शासन का सूत्रपात कर लिया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना के बाद भारत में ब्रिटिश साम्राज्य दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि १८४९ में द्वितीय सिक्ख-युद्ध के बाद समस्त भारतवर्ष उसके हाथ में आ गया। देशी राजा पूरे तौर से उसके मातहत हो गए। उनके सम्बन्ध में अँगरेजों की कोई निर्धारित नीति नहीं थी। और सच बात तो यह है कि देशी राज्यों की ही शासन-प्रणाली दिन-पर-दिन भ्रष्ट होती चली जा रही थी और उनमें अँगरेजों की संगठित सैनिक शक्ति से मोर्चा लेने की हिम्मत न रह गई थी। जिस ढंग से देशी राजाओं के राज्य एक-एक करके छीने जा रहे थे, उससे सबको चिंता हो रही थी। लॉर्ड डलहौजी की नीति से तो और भी असंतोष फैल गया था। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से अँगरेज भारतवासियों से अलग होते चले जा रहे थे। राज-शक्ति के मद से मत्त वे इस देश के रहने वालों को असभ्य और जंगली समझने लगे थे। भारतवासी भी ईसाई पादरियों की हरकतों से आजिज़ आकर उन्हें अपने धर्म का विरोधी समझने लगे थे। साथ ही भारतवर्ष में पाश्चात्य सभ्यता की बहुत-सी बातों के आ जाने से यहाँ के सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मचने लगी थी। अँगरेज जिन सुधारों को भारतीय समाज के लिए हितकर समझते थे, भारतवासी उन्हें अपने धर्म पर आघात समझते थे। सेना में भी उपद्रव चल पड़े थे। इन कारणों से १८५७ में भारत के राजनीतिक गगन-मंडल में विपत्ति के काले बादल छा गए। एक दफा तो अँगरेजों को यहाँ रहना भी संदिग्ध दिखलाई पड़ने लगा। १८५८ के अन्त तक उन्होंने इस विद्रोह की आग को जैसे-तैसे शांत किया। देशी राज्यों की सैनिक शक्ति पहले से नष्ट कर दी गई थी। असंतुष्ट रहते हुए भी वे कुछ न बोले, कर ही क्या सकते थे, लाचार थे। इस विद्रोह के शांत हो जाने पर भारतवर्ष एक राजनीतिक सत्ता के बन्धन में बँध गया और उसका शासन पूर्ण रूप से इंगलैण्ड के मंत्रिमंडल के हाथ में चला गया।

शासन-सम्बन्धी तथा अन्य सुधार

यहाँ के सामाजिक विचारों में परिवर्तन के साथ-साथ पश्चिमी विचारधारा का प्रभाव यहाँ के जन-समुदाय, विशेषकर अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों पर प्रबल वेग से पड़ने लगा। तारों का प्रबन्ध हो जाने के कारण भारतीय और इंगलैण्डस्थ सरकारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के सम्बन्ध में भी अन्तर कुछ कम हो चला। भारतीय राज्य-कार्य में अब तक तो वाइसरॉय का बहुत बड़ा हाथ रहता था, लेकिन अब देश की शासन-नीति इंगलैण्ड से निर्धारित की जाने लगी। लॉर्ड नार्थब्रुक (१८७२-१८७६) ने इसके कुछ आसार देखे थे। लार्ड रिपन (१८८०-१८८४) के जमाने में यह बात पूरी हो गई। भारतीय सरकार की जिम्मेदारी इससे और बढ़ गई। अँगरेजी राज्य में शासन-सम्बन्धी सुधार तो बहुत हुए, किन्तु भारतवर्ष की आर्थिक परिस्थिति दिन-पर-दिन शोचनीय होती गई और देश संसार के सबसे अधिक निर्धन देशों में गिना जाने लगा।

भारतवर्ष में सड़कों, नहरों, रेल, तार, डाक-विभाग आदि का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण विषय है। यद्यपि अँगरेजी सरकार ने स्वार्थवश ही इस ओर ध्यान दिया था, तो भी परोक्ष रूप में देश को उनसे बड़ा फायदा हुआ। न केवल भारतवर्ष के दूर-स्थित स्थानों के बीच का फासला ही कम हुआ, वरन् भारत और इंगलैण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ जाने की भी बहुत गुंजायश हो गई। इससे देश में पश्चिमी विचारों का प्रचार भी अधिकाधिक हो चला। वैसे तो रेल, तार आदि का बनना कम्पनी के राज्य में ही शुरू हो गया था, लेकिन उसके हाथ से राज्य निकल जाने के बाद ही यह योजना पूरी हो सकी। आगे चलकर देश की औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति में इससे बहुत सहायता मिली।

यूरोप में वाष्पशक्ति का आविष्कार होने से भारत और यूरोप का सम्बन्ध और भी बढ़ गया एलेक्जैण्ड्रिया के रास्ते से भी विदेश-यात्रा की सुविधा हो गई। १८६९ में स्वेज नहर के खुल जाने से भारत और यूरोप के बीच का फासला और भी कम हो गया। इससे व्यापार की ही उन्नति नहीं हुई, वरन् भारतीय भी बड़ी तेजी के साथ विलायत जाने लगे और समुद्र-यात्रा-सम्बन्धी सामाजिक प्रतिबन्ध शिथिल हो चला। इस तरह विदेशों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर वहाँ के विज्ञान और साहित्य का हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ने लगा। उधर पाश्चात्य विद्वान् भी देश की कला और संस्कृति का अध्ययन कर उसके प्राचीन गौरव का ज्ञान प्राप्त करने में जुट गए।

इन सब सुधारों और नई शक्तियों ने भारतवर्ष में एक नया युग उपस्थित कर दिया, जिसका अन्त में साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका।

धार्मिक एवं सामाजिक चेतना

भारतवासी बहुत दिनों से अपनी स्वाधीनता खो बैठे थे। देख-रेख करनेवाला जब कोई न रह गया तो हिन्दू धर्म का ह्रास होने लगा। जिस समय अँगरेजों का आधिपत्य स्थापित हुआ, उस समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। जिस धर्म के तत्त्व-ज्ञान के आगे संसार सिर झुकाता है, ब्राह्मण उसी को भूलकर दान लेने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझ बैठे। लेकिन अज्ञान और अन्ध-परम्परा से संवेष्टित अशिक्षित भारतीय जनता अब भी उनके आगे माथा टेक रही थी। यह जाति की दुर्बलता और प्राण-शून्यता का प्रतीक था। देश-काल के अनुसार सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत सती-प्रथा, बाल-हत्या और नर-बलि धर्म-सम्मत मानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाती थीं। बाल-विवाह समाज में घुन की तरह काम कर रहा था। असंख्य जातियों और उप-जातियों के भेद के कारण भारतवासियों के संगठित होने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। इसके साथ ही विधवा-विवाह-निषेध, बहु-विवाह, खान-पान-सम्बन्धी प्रतिबन्ध, समुद्र-यात्रा के कारण जाति-बहिष्कार, नशाखोरी, पर्दा, स्त्रियों की हीनावस्था, धार्मिक साम्प्रदायिकता, अफ़ीम खाना आदि कुप्रथाओं का चलन हो गया था। इनमें से कुछ तो कालवश स्वयं हिन्दू जाति में उत्पन्न हो गई थीं। आधुनिक काल तक आते-आते हिन्दू धर्म और समाज की अत्यन्त शोचनीय अवस्था दृष्टिगोचर होने लगती है।

अँगरेजों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी भारत आए। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कम्पनी सरकार ने ईसाई धर्म-प्रचारकों का पूरा विरोध किया, किन्तु वेलेज़ली की नीति और १८१३ के विल्बफ़ोर्स ऐक्ट से पादरियों का उत्साह बढ़ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक ईसाई धर्म का भारत में काफ़ी प्रचार हो चुका था। हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर उचित-अनुचित आक्षेपों के साथ उन्होंने आबकारी से होनेवाली सरकारी आय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। ईसाई धर्म में दीक्षित करने के प्रयोजन से वे कभी-कभी दीन-दुःखियों की रुपये-पैसे से मदद भी कर देते थे। अफ़ीम का प्रचार करने की प्रथा का भी उन्होंने विरोध किया। लेकिन इतना सब कुछ करते हुए भी पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक पादरियों को बहुत कम सफलता मिल सकी। थोड़े से उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणी के लोगों ने ही ईसाई धर्म की दीक्षा प्राप्त की। पर उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के प्रचार से अनेक हिन्दू-धर्मावलम्बी, जो ईसाई या मुसलमान हो गए थे, फिर से हिन्दू-धर्म की गम्भीर छाया के नीचे आ गये। इन दो धार्मिक आन्दोलनों से ईसाई और इस्लाम धर्म में सम्मिलित होने का स्रोत बहुत-कुछ बन्द हो गया। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिये चेष्टाएँ होने लगीं। उसके बाद ईसाइयत का प्रचार निम्न श्रेणी के अशिक्षित समुदाय तक ही सीमित रह गया। नव शिक्षा और सामाजिक आन्दोलनों के कारण आत्म-विस्मृत भारतीय जन-समूह को फिर से अपने धर्म क 1श्रेष्ठत्व मान्य हुआ।

लेकिन इतना ज़रूर मानना पड़ेगा कि ईसाई पादरियों ने अनेक भयंकर और क्रूर धार्मिक प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया और सरकार को उन प्रथाओं के बन्द करने पर मजबूर किया। उनका मतलब हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना कर ईसाई धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना था। परन्तु धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की अँगरेजों की शुरू से ही नीति थी। इसलिये लॉर्ड बेंटिक के काल के अतिरिक्त कम्पनी के राज्य में बहुत-सी धार्मिक कुप्रथाएँ जारी रहीं। सामाजिक और धार्मिक चेतना के फलस्वरूप स्वयं हिन्दुओं में उनके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो गया था। अनेक नव-शिक्षित भारतीय उन कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। सरकार को अच्छा अवसर मिला। तान्त्रिक मत की प्रबलता को लिये हुए नर-मांस द्वारा देवी, चण्डिका, चामुण्डा और काली आदि शक्तियों की उपासना बन्द कर दी गई। वंश-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृद्धि की कामना से कभी-कभी हिन्दू लोग अपना प्राणाधिक प्रिय पुत्र तक गंगासागर में फेंक देते थे या उसे देवताओं की बलि चढ़ा देते थे। कन्या को जन्मते ही मार डालते थे। सरकार ने ऐसी ही नृशंस रीतियों को रोकने का प्रयत्न किया। स्वयं हिन्दू समाज सुधारों के लिये छटपटाने लगा था। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ की जाने लगीं जिनमें सती-दाह, बालहत्या, नर-बलि, बाल-विवाह, विवाह में फ़िजूलखर्च आदि के विरोध में प्रस्ताव स्वीकार किए जाते थे। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि सरकार की हस्तक्षेप-नीति केवल दो चार अमानुषी प्रथाओं तक ही बरती जाती थी। गम्भीर धार्मिक विषयों में वह उदासीनता ग्रहण किये रही। इस नवजात चेतना के कारण हिन्दू धर्म की उन्नति और उसमें विश्व-श्रेष्ठ आत्म-गरिमा को पुनर्जीवित करने के लिये अनेक महान् व्यक्ति अपना जीवन उत्सर्ग करने लगे।

नवीन शिक्षा

प्राचीन काल से भारत में उच्च-से-उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। मुसलमानी काल में भी हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा क्रमशः पण्डितों और मौलवियों के हाथ में थी। अँगरेज़ी शासन काल के आरम्भ में यह शिक्षा-सङ्गठन टूट चुका था। तब भी शिक्षा का आदर बना हुआ था। लेकिन अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की दिन-दिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल धार्मिक शिक्षा से ही काम न चल सकता था।

ईसाई धर्म का प्रचार करनेवाली मिशनरी सोसाइटियों और वर्तमान भारत के आदि गुरु राजा राममोहन राय की प्रेरणा से तत्कालीन राजसत्ता का ध्यान शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। राजा साहब पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की शिक्षा के प्रचार से प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को बदलकर देश की सामाजिक अवस्था सुधारना चाहते थे।

अन्त में सरकार ने अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। १८४४ में हार्डिञ्ज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि नौकरियाँ अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को दी जायँ। इससे अँगरेज़ी के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता मिली। १८५७ में उच्च शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया और कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। इन संस्थाओं में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया।

भारतवासियों ने देखा कि संस्कृत शिक्षा की परिपाटी बिगड़ी हुई थी। उसके सहारे वे समय की प्रगति के साथ आगे नहीं बढ़ सकते थे। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली अपनाने में कोई रुकावट न समझी। यद्यपि पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य इतिहास के अध्ययन से देश की सामाजिक और धार्मिक अवस्था में बहुत-कुछ सुधार हुआ, नये-नये विचारों और राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ, देश की राजनीतिक एवं नैतिक उदासीनता दूर हुई और वह उद्योग-धंधों मे दिलचस्पी लेकर आगे बढ़ा, तो भी इस शिक्षा का सम्यक् प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। अँगरेज़ी भाषा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। देशी भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो गया। अंगरेज़ी शिक्षा पानेवालों पर पाश्चात्य शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा। परन्तु इससे उनकी मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हुआ। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर जो कुठाराघात हुआ, वह शायद संसार के किसी अन्य देश में न हुआ होगा। जिन महान् व्यक्तियों पर आज देश गर्व करता है वे इस शिक्षा-प्रणाली के कारण नहीं, वरन् अपनी शक्ति से उसकी बुराइयों को दूर करने के कारण आगे बढ़ सके, नहीं तो इस शिक्षा का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है और न उस समय छिपा हुआ था। इस शिक्षा के पीछे अँगरेजों का जो ध्येय था उसका पहले वर्णन किया जा चुका है। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य शिक्षा देश के लिये सर्वथा घातक सिद्ध हुई या उसका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम ही नहीं हुआ। बुराइयाँ होते हुए भी भारतवासियों ने इस नवीन-शिक्षा-योजना के साथ पूरा सहयोग किया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क से उनका दृष्टिकोण विस्तृत हुआ उनके जीवन के प्रत्येक पहलू में नई स्फूर्ति और उत्तेजना पैदा हुई और वे सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के साथ उन्नति की ओर अग्रसर हुए। हिन्दी-भाषा भाषियों और उनके साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ भारत में पाश्चात्य प्रभावों के प्रति प्रतिक्रिया भी शीघ्र ही प्रारम्भ हो गई। भारतवासियों ने अपनी आत्मा सुरक्षित रखने का अथक प्रयास किया। राजनीतिक संघर्ष इसी प्रयास का एक पक्ष मात्र था। यही प्रयास इतिहास में 'ईस्ट-वेस्ट' के संघर्ष के नाम से भी प्रसिद्ध है, जिसका लॉर्ड रौनैल्ड्शे ने अत्यन्त सुन्दर विश्लेषण किया है।

प्रेस तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कार

ब्रिटिश काल में हुई साहित्यिक उन्नति के साथ प्रेस का अभिन्न सम्बन्ध है। हेस्टिंग्ज और कॉर्नवालिस के समय में देश में कई प्रेस खुल गये थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विलायत से खबरों के आने-जाने का प्रबन्ध हो जाने और नव-शिक्षितों के सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने से प्रेस को प्रोत्साहन मिला। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक नेताओं के हाथ में वह एक प्रबल अस्त्र था। उससे वह लोक-मत को जिस रास्ते लगाना चाहते थे, लगा सकते थे। राजनीतिक क्षेत्र में काम करनेवाले नव-शिक्षितों का किसी एक पत्र के सहारे के बिना काम चल ही नहीं सकता था। पहले-पहल उन्होंने अँगरेजी में पत्र निकाले। लेकिन बहुत जल्दी उन्होंने अपनी ग़लती महसूस की और वे देशी भाषाओं में पत्र निकालने लगे। हिन्दी के प्रेमी शुभचिंतकों ने भी भाषा और साहित्य का जनता और अँगरेजी तथा उर्दू पढ़े-लिखों में प्रचार करने के लिये पत्रों का सहारा लिया। प्रेस के बल से हिन्दी में पत्रकार-कला की उन्नति हुई और उसके द्वारा हिन्दी गद्य भी नये-नये साँचों में ढाला जाने लगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवोत्थान

वैसे तो भारतीय नवोत्थान का प्रारम्भ १९२८ में बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना से ही हो गया था, लेकिन उस समय हिन्दी साहित्य से उसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही अनेक हिन्दू ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके थे। आगे चलकर अँगरेजी शिक्षा ने समाज में प्रवेश किया। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण समाज में परिवर्तन हुए। रेल, तार, प्रेस आदि ने सारे भारतवर्ष को एक कर दिया। जहाजों द्वारा उसका विदेशों से सम्बन्ध स्थापित हुआ। पाश्चात्य विद्वानों ने पूर्वीय सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन कर भारत के प्राचीन गौरव का ज्ञान प्राप्त किया। पुतलीघरों, उद्योग-व्यापार, रहन-सहन आदि के नवीन आर्थिक संगठन ने देश की काया पलट दी। ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग खुल गये। देश के नेताओं ने पुरानी नीति छोड़कर शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य आदि की ओर ध्यान दिया। विदेशों के साथ सम्बन्ध हो जाने से देश की विचारधारा पर भी नवीन प्रभाव पड़ने लगे। राष्ट्रीयता और जन-सत्तात्मक विचारों का जन्म हुआ। तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में शिक्षा, व्यापार-संगठन आदि की अपूर्व वृद्धि के कारण यहाँ के सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में उथल-पुथल शुरू हो गई। परिपाटी-विहित भावों और विचारों की जड़ें हिलने लगीं।

वास्तव में ईसा की अठारहवीं शताब्दी में जब भारतीय जीवन पारस्परिक कलह, राजनीतिक विशृङ्खलता, सामाजिक एवं धार्मिक जड़त्व और अवरुद्ध मानसिक एवं बौद्धिक गति से पीड़ित था, उसी समय के लगभग यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अभूतपूर्व जागरूकता एवं चेतना ने वहाँ के जीवन के सभी पक्षों को जो विस्तृति प्रदान की उसी के फलस्वरूप भारत का ग्रेट ब्रिटेन के माध्यम द्वारा यूरोप से सम्पर्क स्थापित हुआ। इस इतिहास के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप भारत के म्रियमाण जीवन में फिर एक बार मानसिक एवं बौद्धिक मन्थन प्रारम्भ हुआ और इस दैवी तथा आसुरी शक्तियों के संघर्ष के पश्चात् जो अमृतघट हाथ लगा उसी को इतिहासकारों ने भारतीय पुनरुत्थान या नवजागरण के नाम से अभिहित किया है। पुनरुत्थानकालीन भावना ने भारतीय जीवन के जिन अनेक पार्श्वों को स्पर्श किया उनमें से साहित्यिक पार्श्व किसी भी दशा में कम महत्त्व-पूर्ण नहीं था।

आर्य समाज

ब्रह्म समाज के आविर्भाव के बाद भारत में हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए नये-नये प्रयत्न होने लगे। अनेक व्यक्तियों ने घर-बार छोड़कर उसके हित जीवन का ही उत्सर्ग कर दिया। इस काल के ऐसे महान् व्यक्तियों में, जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३) का नाम बड़े गौरव और आदर के साथ लिया जा सकता है। १८७५ में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। थोड़े ही समय में समस्त उत्तरी भारत में उसका प्रचार हो गया और स्थान-स्थान पर उसकी शाखाएँ भी खुल गईं। भारतवासियों ने बहुत बड़ी संख्या में इस मत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को अपनाया, जिससे अधिकतर सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य की गतिविधि प्रभावित हुए बिना न रह सकी। आर्य समाज ने बहुत-से हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचा लिया। सामाजिक क्षेत्र में समाजियों ने सबसे बड़ा काम किया। विधवा-विवाह-निषेध, बाल-विवाह तथा ब्राह्मण-धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड और अन्ध-विश्वासों का विरोध कर उन्होंने विशुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार की आवाज़ बुलन्द की। उन्होंने प्राचीन ढंग से शिक्षा देने के लिए गुरुकुल और नवीन शिक्षा के प्रचारार्थ दयानन्द ऐंग्लो-वर्नाक्युलर शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कीं। इससे एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण का जन्म अवश्यम्भावी था। स्थान-स्थान पर गौ-रक्षिणी सभाएँ स्थापित करना भी उनका ध्येय रहा।

थियोसोफ़िकल सोसायटी

१८७५ में अमरीका के नगर न्यू यॉर्क में मैडम ब्लेवट्स्की और कर्नल अलकॉट ने थियोसोफ़िकल सोसायटी की नींव डाली। १८७९ में वे भारत आए। उन्होंने अपनी सोसायटी द्वारा पाश्चात्य दर्शन की महत्ता प्रकट की। परन्तु साथ ही वे भारत की ज्ञान-गरिमा से भी परिचित थे। १८९३ में जब श्रीमती एनी बेसेन्ट भारत आई तो इस मत का बड़े जोरों के साथ प्रचार हुआ। अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होंने देश के प्राचीन धर्म का गुणगान भी किया। लेकिन थोड़े-से अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में ही इस मत का प्रचार हो सका। हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि सोसायटी ने राष्ट्रीयता का पोषण काफी किया। उसने नवीन शिक्षा को भारत के हितों के विरुद्ध बतलाया।

आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द ने सब भेद-भावों को हटाकर शिकागो में भारत की आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया। अस्तु, नई शिक्षा और सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों के कारण देश में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ।

राजनीतिक चेतना

अब देशवासियों को अपनी पराधीनता खटकी। उन्हें देश की प्राचीन स्वतंत्रता का स्मरण हुआ। एनी बेसेन्ट और चार्ल्स ब्रैडला जैसे उदार-हृदय अँगरेज़ भी भारत-वासियों को आगे बढ़ने के लिए उत्साह देने लगे। नव-शिक्षित लोग युनिवर्सिटियों से निकलकर पाश्चात्य इतिहास और राजनीति के उदाहरण जनता के सामने रखने लगे। ह्यूम, दादाभाई आदि ने तत्कालीन परिस्थिति का अनुभव कर देश की राज-नीतिक उदासीनता दूर करने का प्रयत्न किया। इन सब बातों के सम्मिलित प्रभाव के कारण 'इलबर्ट बिल' आन्दोलन (१८८३) के बाद १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।

राष्ट्रीय भावना व्यक्त करने के दो मार्ग थे। एक तो धार्मिक क्षेत्र, जिसका वर्णन किया जा चुका है। दूसरा, कांग्रेस द्वारा राजनीतिक क्षेत्र। औरंगजेब के बाद (१७०७) के राजत्व-काल से जनता ऊब उठी थी। अस्तु, जब अँगरेजों की राज्य-स्थापना के बाद प्रत्यक्षतः कुछ शांति दिखाई दी तो देश को साँस लेने का कुछ अवसर मिला। शुरू में भारतवासियों ने अँगरेजी राज्य से संतुष्ट होकर उसकी प्रशंसा भी की।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय मध्यम वर्ग ने भी सरकारी नौकरियाँ मिलने और व्यापार में मुनाफ़ा होने के कारण अँगरेज़ी शासन का गुणगान किया। परन्तु इस वर्ग से भी भारत का आर्थिक शोषण न देखा गया। अँगरेज़ों की नीति के फलस्वरूप उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए थे। बेकार कारीगर गाँवों में जाकर बस गए और खेती करने लगे। परन्तु उस क्षेत्र में भी काम करने वालों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। साथ ही लगातार जोतने-बोने से ज़मीन की उर्वरा-शक्ति का भी ह्रास होने लगा। इससे देश की खेती-बारी पर वज्रपात हुआ। अँगरेज़ों की आर्थिक नीति भारतीय उद्योग-धन्धों की जड़ काटने की थी। उससे देश की कारीगरी और कृषि दोनों ही का सर्वनाश हुआ। ऊपर से दुर्भिक्षों की मार थी। अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्षों का इतना भीषण परिणाम न होता था जितना कि अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण। नतीजा यह हुआ कि देश का धन विदेश जाने लगा और भारतवासी भूखों मरने लगे।

भाषा

भारत की राष्ट्रीयता के साथ भाषा की समस्या का भी अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति तो रुकी ही, लेकिन हिन्दी की समस्या दूसरी थी। अँगरेज़ी शिक्षा अनिवार्य हो जाने से सब विषयों की शिक्षा अँगरेज़ी में होती थी। उधर अदालतों में उर्दू को स्थान मिला। फलतः लोगों का झुकाव अँगरेज़ी और उर्दू की तरफ़ हो गया। इससे हिन्दी की उन्नति का मार्ग और भी अवरुद्ध हो गया। सरकार की अनीति का समस्त देशभक्तों ने विरोध किया। १८८२ में हन्टर कमीशन के सामने बहुसंख्यक हिन्दी-भाषी जनता ने अनेक मेमोरेण्डम भेजे। ईसाइयों और मुसलमानों तक ने उनकी माँग का समर्थन किया। हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन बड़े वेग से फैला। अन्त में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा (१८९३) और पं० मदनमोहन मालवीय के प्रयत्नों से १९०० में ऐन्टनी मैकडॉनेल ने अदालत में हिन्दी और नागरी लिपि भी व्यवहार में लाने का आज्ञा-पत्र निकाला, जो कभी कार्य-रूप में परिणत न हुआ।

बीसवीं शताब्दी

अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के कारण उन्नीसवीं शताब्दी में जिन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनका पूर्ण विकास बीसवीं शताब्दी में मिलता है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवीन शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारों, प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन, पुरातत्त्व विभाग की खोजों आदि के फलस्वरूप समाज, धर्म, स्त्री-शिक्षा, राजनीति आदि के क्षेत्र में जो स्फूर्ति और चेतना उत्पन्न हुई थी, और जो इतिहास में भारतीय पुनरुत्थान के नाम से अभिहित की जाती है, उसी चेतना या पुनरुत्थान की भावना का विकसित रूप या द्वितीय चरण ही बीसवीं शताब्दी के ब्रिटिशकालीन सैंतालीस वर्षों में मिलता है। स्वामी दयानन्द अथवा नवीन शिक्षा के फलस्वरूप स्वयं सनातन धर्म में सुधार की भावना के फलस्वरूप समाज और धर्म में सुधार की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। भारतवासियों ने मध्य-युगीन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं का परीक्षण किया और उसके स्थान पर वैज्ञानिकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर आधारित प्रथाओं को जन्म देने की चेष्टा की। 'प्रियप्रवास' में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। साथ ही नवयुग के अनुकूल उपनिषद् और गीता-धर्म की स्थापना की गई। एक निर्धन, पराधीन और विभिन्न धर्मावलम्बियों से बसे हुए देश को कर्मठ और संगठित बनाने के लिए उपनिषद् और गीता-धर्म से अधिक श्रेष्ठ और दूसरा धर्म हो ही क्या सकता था? ईश्वर भी मानव-सापेक्ष बना। वह मन्दिर, मस्जिद और गिरजा-घर में निवास न कर गरीबों की झोपड़ियों में निवास करने लगा। दूसरे शब्दों में, मानव की सेवा ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन बनी और इस प्रकार उपनिषद् और गीता-धर्म के साथ सेवा-धर्म को भी महत्त्व दिया गया। यह सेवा-धर्म भी एक निर्धन, पराधीन, अशिक्षित, अन्ध-परम्पराओं से संवेष्टित देश के जीवन के प्रसंग में उचित ही था। लोकमान्य तिलक, श्रीमती एनी बेसेन्ट, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ स्वामी विवेकानन्द, लाला लाजपतराय, योगी अरविन्द, रमण महर्षि, महात्मा गांधी आदि भारत के आधुनिक निर्माताओं ने उपनिषदों और गीता पर आधारित यही सेवा-धर्म ग्रहण किया, उसका प्रचार एवं प्रसार किया। बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद पर बल दिया गया। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति निष्ठा उत्पन्न होना तो ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक ही था। भारतवर्ष के जगद्गुरुत्व की स्थापना करने की आकांक्षा फिर से उत्पन्न हुई। किन्तु इस जगद्गुरुत्व की स्थापना के लिए देश का स्वतंत्र होना अनिवार्य माना गया, क्योंकि गरीबों और गुलामों की न तो कोई संस्कृति होती है और न धर्म तथा दर्शन। अतः देश का सारा सामूहिक प्रयास स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ओर लग गया और फलतः सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों की ओर अधिक ध्यान न जाकर लोगों का ध्यान राजनीति पर अधिक केन्द्रित हो गया। आर्यसमाज का प्रभाव अभी बना हुआ था, यद्यपि वह धीरे-धीरे देश के व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन में घुल-मिल रहा था, और वैसे भी देश में सुधार की भावना विद्य-मान थी। किन्तु यह सुधार-भावना सिद्धान्त-रूप में अधिक और व्यावहारिक रूप में कम थी। गांधीजी के राजनीतिक आन्दोलन, मात्र राजनीतिक आन्दोलन नहीं थे। उनके आन्दोलनों ने महिला-जगत् में क्रान्ति मचा दी और स्त्रियों को वे अधिकार और सुधार स्वयमेव प्राप्त हो गए, जिनके लिए यूरोप की स्त्रियों को काफी दिनों तक संघर्ष करना पड़ा था। अछूतोद्धार तथा अन्य अनेक सुधारों की दृष्टि से भी गांधी जी के आन्दोलन प्रेरणा-स्रोत बने। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतवासियों का यूरोप के साथ सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और साथ ही देश में राष्ट्रीय भावना की लहर फैलती चली गयी। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और बाल गंगाधर तिलक ने धर्म, अध्यात्म और राजनीति में भारतवर्ष की श्रेष्ठता प्रारम्भ से ही घोषित की। इस आदर्श का भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। १९१४ में बङ्ग-विच्छेद के कारण उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना को बल प्राप्त हुआ। देश का मध्यम वर्ग अब काफी जाग गया था। स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय साहित्य और ललित कलाओं की नयी गतिविधि निर्धारित की और प्राचीन सिद्धांतों के प्रकाश में उनका नवीन संस्कार होने लगा। स्वदेशी आन्दोलन के पश्चात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९२१ में महात्मा गांधी द्वारा प्रचलित सत्याग्रह आन्दोलन भी एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन था। सत्याग्रह आन्दोलन ने निश्चित रूप से साहित्य, समाज और धर्म में नवीन चेतना उत्पन्न की। उसके साथ-साथ आर्यसमाज ने भी अपने विविध सुधार जारी रखे, जिससे साहित्यिक रचनाओं के लिए अनेक विषय और उपादान मिले। देश से बाहर की घटनाओं में १९२४ के रूस-जापान-युद्ध में जापान की विजय का यथेष्ट प्रभाव पड़ा ; रूस जैसी महान् शक्ति पर जापान जैसे छोटे और पूर्वी राष्ट्र की विजय से भारतवासियों में नवीन आशा का संचार हुआ। १९१४-१८ और १९३९-४५ के दो महायुद्धों ने हिन्दी साहित्य में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया और हिन्दी के साहित्यकार पहले से भी कहीं अधिक विदेशी भाषाओं और साहित्यों के सम्पर्क में आए और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विचारधाराओं से प्रेरित और प्रभावित हो साहित्य-सृष्टि करने लगे। साहित्य-निर्माण कार्य में १८९३ में स्थापित काशी नागरी-प्रचारिणी सभा और १९१९ में स्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं ने प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार और प्रचार-कार्य द्वारा अपना ऐतिहासिक योग दिया। किन्तु इन सब शक्तियों के रहते हुए भी भारतवासियों की मानसिक अराजकता दूर नहीं हुई। अँगरेजी राज्य ने और जो अहित किया हो सो किया हो, किन्तु भारतवासियों को मानसिक अराजकता उनके राज्य की एक बहुत बड़ी दुर्घटना थी। यही कारण है कि साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में अनेकानेक रचनाओं का निर्माण होने पर भी महान् साहित्यिक रचनाओं का अभाव रहा।

अस्तु, नवयुग की अवतारणा के साथ-साथ हिन्दी के साहित्यकारों में विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ। भाषा के शब्दकोश में वृद्धि हुई। गद्य का विकास हुआ और कवि ने अपनी परिपाटी-विहित और रूढ़िग्रस्त कविता छोड़कर दुनिया को नई आँखों से देखा।

१५ अगस्त, १९४७ को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य समाप्त हो गया। लगभग इस दो सौ वर्षों के ब्रिटिश काल के अन्तर्गत जिन कारणों ने हिन्दी साहित्य को उसकी पिछली परम्पराओं से एकदम अलग कर दिया, उनमें से निष्कर्षतः निम्नलिखित की ओर खास तौर से संकेत किया जा सकता है :

१. नवीन शासन एवं न्याय-पद्धति। साथ ही सामन्तवाद का अन्त, मध्यम वर्ग का जन्म और साम्राज्यवादी राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण और फलतः देश की अभूतपूर्व निर्धनता।

२. नवीन शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान का प्रचार—विशेषतः रेल, तार और प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार।

३. नवीन शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रचार तथा देश के प्राचीन गौरव की स्मृति के फलस्वरूप सुधारवादी आन्दोलनों और नवोत्थान का जन्म।

४. व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, स्वच्छन्द विचारों और अखण्ड राष्ट्रीयता का जन्म।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५. गद्य का हिन्दी साहित्य का अनिवार्य अंग बनना।

६. साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली की स्थापना (पहले गद्य और फिर कविता के क्षेत्र में)।

७. गद्य और काव्य-क्षेत्रों में विविध रूपों और साहित्य एवं कलात्मक आन्दोलनों का जन्म।

८. हिन्दी भाषा और साहित्य पर यूरोपीय, विशेषतः अँगरेजी भाषा और साहित्य का प्रभाव।

ब्रिटिशकालीन साहित्य की रूपरेखा

साहित्यिक दृष्टि से ब्रिटिशकालीन साहित्य की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

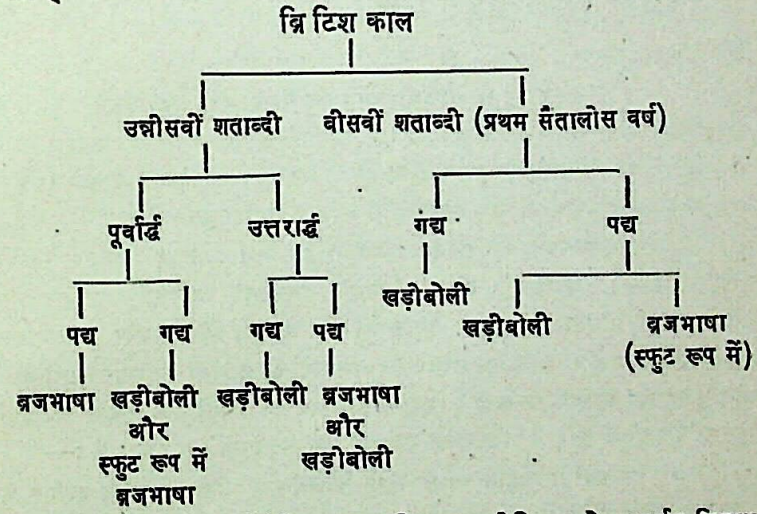

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के काव्य-साहित्य पर रीतिकाल के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। इसलिए हमें यहाँ केवल तत्कालीन तथा बाद के गद्य पर और फिर उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तथा बाद के काव्य साहित्य पर विचार करना है।

सुविधा की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की भारतेन्दु युग (१८५०-१९००) और बीसवीं शताब्दी के प्रथम २०-२५ वर्षों को द्विवेदी युग और उसके बाद १९४७ तक के युग को छायावादी-रहस्यवादी-प्रगतिवादी प्रवृत्तियों का युग कहा जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध : गद्य के प्रारम्भिक उन्नायक

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का गद्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसी समय से हिन्दी साहित्य में गद्य का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। यह वह समय था जब कि 'चौरासी' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' वाली ब्रजभाषा और राजस्थानी की स्फुट गद्य-परम्परा टूट गई और उसके स्थान पर स्फुट रूप में चली आ रही खड़ीबोली गद्य परम्परा के क्रमबद्ध इतिहास का सूत्रपात हुआ। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के काव्य 'राउल वेल' में खड़ीबोली का अभी तक का प्राचीनतम उपलब्ध रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(टक्की) मिलता है, जो दिल्ली-मेरठ के आसपास ही नहीं, वर्तमान पंजाब और हरियाणा में भी प्रचलित था। गोरखनाथ की रचनाओं में भी खड़ीबोली के रूप प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। इस सम्बन्ध में अभी तक की खोजों के आधार पर उपलब्ध एक अज्ञात सूफी कवि कृत 'कुतुबशतक' (१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में) का उल्लेख भी किया जा सकता है। यद्यपि इस रचना की कथा इतिहासपुष्ट नहीं है, तो भी वह रोचक और लोक-साहित्य के तत्त्वों से निर्मित है। पद्यांशों के अतिरिक्त ग्रन्थ के वार्त्तिक तिलक में मध्ययुगीन खड़ीबोली (जो दक्खिनी हिन्दी के समीप है) गद्य के उदाहरण भी मिलते हैं :

> ....अवलि पुरांन वाला बोला साहिजादे सलामति बहुत षुब सायति का वक्त है एक निवाला उठाइए....' आदि।

अथवा :

> 'तब ग्यारह सै आदमी कुतुबुद्दीन नवल पास रषे तिसमैं पंज सौ बूढ़ी। तिन्हौ के हाथ पंच सौ सोवन लठी। छिह सै छड़ीदार सोने की छड़ी लिये रहौ। तिन्हौ को पातिस्याह हुकम कीया कि बारीया बेलियां नैनां दिषलावों। पै साहिजादा अनंत जाणैं न पावै। ग्यारह सै आदमी असी भाँति रषै।....'

प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी प्राणनाथ (१६१८-१६९४) के 'रास-ग्रन्थ', 'प्रकाश', 'षड्ऋतु', 'कलस', 'सनंध', 'किरंतन', 'खुलासा', 'खेलबात', 'प्रक्रमा इलाई-दुल्हन', 'साबर सिङ्गार', 'निधि भाषा', 'मारफत सागर' और 'कियामत नामा' ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। 'कुलजम-स्वरूप' (प्राणनाथ की बानियों का संग्रह) प्रणामी सम्प्रदाय का पूज्य धार्मिक ग्रन्थ है। स्वामी प्राणनाथ की अपनी गद्य रचना 'मीरा जी का किस्सा' (१६७८ ई०) से खड़ीबोली गद्य का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

> ....तब उलमाहोंने जवाब दिया के आखिरी जमाने में यानि क्यामत के दौर में जाहिर होंऐंगे। तब हम मुसलमानों ने पूछा के आखर कब होऐगी। तब उन उलमाहों ने कह्या के आखर के दिन आए। ऐ ये तेहेकीक खबर नहीं। तब हमोने पूछा के किस वास्ते तेहकीक खबर नहीं। पस फुरमाया रसूल अल्लाह का क्या नहीं होता है तब फेर उलमों ने कह्या के जो कुछ रसूल साहिब ने फुरमाया है। सो सब हक है। और हक होऐगा। पर निसांमी आखर की ईस वास्ते मालूम नहीं होती हैं। के बीच इमारत्तों के लिखी है। ईस वास्ते मेरे दिल में ऐसा दरद पेदा हुआ है, के ऐ कलाम अल्लाह याने ऐ कित्तांवत खांबद ने हमारे ऊपर भेजी है। और इमारतें रसूल साहिब हमारे वास्ते ल्याऐ हैं। सो यह जो हम को मालुम न होवे तो हमारा जीवन कुछ नहीं।....'

'किताब जूवाब स्वाल' का भी एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

> 'स्वाल ॥ भला जो कछु कूरांन के माऐने कहो। जवाब ॥ बाबा कूरांन के माएने तो बे हिसाब हैं तूम केतेन सुनोंगे। स्वाल ॥ भला जी बिना हिसाब सो क्यों कर है। और में ना सुनों सो किस वास्ते। जवाब ॥ केतेक माऐनें रसूलें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईसारत्तों से कहे हैं। और केतेक हरफ रसूलें कानों से सुनें हैं। पर लिखे नहीं। युं बिना हिसाब हैं अब जो पूछो सो कहो। स्वाल]॥ भला जो रसूलें जाहिर कीऐं सो किस वास्ते। जवाब॥ बाबा जाहिर कोया दान महंमदी सा मुसलिम रूहों के वास्ते। वंदगी कराऐ उमेद लगाऐ हैं।....

स्वामी प्राणनाथ के ग्रन्थों में यद्यपि पद्यात्मक रचनाएँ ही हैं, किन्तु उनके पद्य प्रायः गद्यवत् ही रहते हैं, उदाहरण के लिए।

'ऐ होत फ़ुरमाया हक का॥ जो कोय पुलासा ऐ॥
कीऐ हादी ने जाहेर॥ याही मगअ मुसाफ के॥
खुले द्वार सब अरसो के॥ ऐ ही रूह अला इं लम॥
ऐ ही लुलंनी षुदाई॥ ऐ कोल हक हूकंम॥

इन पंक्तियों में खड़ीबोली गद्य के प्राचीन अपरिपक्व गद्य का आभास मात्र मिलता है। किन्तु उनके शिष्यों ने उनके ग्रन्थों का सम्पादन करते समय स्पष्टतः यत्र-तत्र खड़ी-बोली गद्य का प्रयोग किया। उनके एक प्रमुख शिष्य केसोदास ने 'कुलजम-स्वरूप' की तेरहवीं किताब 'मारफत सागर' के भूमिका-भाग में लिखा है :

'ऐ किताब मारफत सागर॥ जो हकताला के हुकुम से पैदा हुई॥ हादी के दिल पर आप बेठ के॥ विगर हिसाब बारीक बातें॥ चौपाइ आं दोहों से केहवाई। सो कलाम ज्यों आषते गऐ॥ त्यों यारों ने लिषे॥ और हादी फेर प्या सों गए॥ सो सुन-सुन के हुकुम से हाल अपन पर॥ अरसवका लाहूती का लेते गए॥ और जामां नाजुक होता गया।

इसी प्रकार 'कियामतनामा' के अन्त में उन्होंने लिखा है :

'और आज हमारे हादी को वांच परदे के हुऐ। दोए महीनें और दस रोज हुऐ॥ सो आज हमारे महबूब की सालगिरह का दिन है। याने जनम-उछव साल छहत्तरमां तमाम हुआ॥ पचहत्तर बरस और नौ महीनां और बीस रोज॥ इस फानी बीच हम गिरो खानी के वास्तें॥ कै फसाले सेहे सेहें गुजरान कीया॥....'

इन दोनों अवतरणों का समय १६९४ माना जाता है। प्रणामी साहित्य में इस प्रकार की भाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द (जो सर्वप्रथम फ़रिश्ता द्वारा प्रयुक्त मिलता है, न कि अँगरेजों द्वारा) का प्रयोग किया है और उसमें अरबी-फ़ारसी शब्दावली का बाहुल्य है। लालादास ने इस भाषा को 'हिन्दवी' कहकर भी पुकारा है। केसोदास से भी पूर्व, प्रणामी सम्प्रदाय के जीवनी-साहित्य, जिसे 'बीतक साहित्य' कहते हैं, में भी यत्र-तत्र इस प्रकार के खड़ीबोली गद्य के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से लालादास (जो १६५५ के लगभग स्वामी प्राणनाथ के शिष्य हुए) कृत रचनाएँ ('बीतक', 'बड़ी वृत्त', 'छोटी वृत्त', 'माजजा', 'बड़ा मसौदा' आदि) विशेषतः अवलोकनीय हैं। (प्रणामी साहित्य के सम्बन्ध में मैं श्री माताबदल जायसवाल, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, का आभारी हूँ)।

रामप्रसाद 'निरंजनी', और दौलतराम का पीछे उल्लेख हो चुका है। उनका गद्य इस प्रकार का था :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे भगवान् ? आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जानने हारे हो, मेरे एक सन्देह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो।'

—रामप्रसाद 'निरंजनी', : 'योगवासिष्ठ'

'जम्बू द्वीप के भारत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र लोक समान सदा भोगोपभोग करैं हैं और भूमि विषै साँठेन के वाड़े शोभायमान हैं।'

—दौलतराम : पद्मपुराण'

अँगरेजी राज्य की ज्यों-ज्यों स्थापना होती गई, त्यों-त्यों खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन मिलता गया। कुछ इतिहास-लेखकों के मतानुसार लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर, (१८०३-१८१०) की ऐसी खड़ीबोली में रचना हुई, जिसमें में अरबी-फ़ारसी शब्द निकाल दिये गये थे और उनके स्थान पर संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया गया था और इस प्रकार आधुनिक हिन्दी, खड़ीबोली, जैसी कृत्रिम गद्य-भाषा का आविष्कार कर लिया गया। किन्तु वास्तव में यह मत भ्रमात्मक है। लल्लूलाल की रचना से पहले 'निरंजन', दौलतराम और सदासुखलाल 'नियाज़' संस्कृत शब्दों से समन्वित खड़ीबोली गद्य में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। 'नियाज़' की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका मनोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये।'

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से यही परम्परा और भी आगे बढ़ती है। वैसे तो खड़ीबोली का काव्य में स्फुट प्रयोग गोरखनाथ और फिर अमीर खुसरो के समय से चला आ रहा था, किन्तु उन्नीसव के प्रारम्भ में ऐतिहासिक कारणों से खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो गया था और अँगरेज भी उसी के सम्पर्क में आए थे, अँगरेज जिस शासन-व्यवस्था और भौतिक-वैज्ञानिक संस्कृति को भारतवर्ष में लाये थे, उसके लिए काव्य उपयुक्त साधन नहीं था। उसके लिए गद्य ही उपयुक्त सिद्ध हो सकता था। फिर अँगरेजों द्वारा लाये गये प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार की सहायता से खड़ीबोली गद्य को और भी अधिक प्रचलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

रामप्रसाद 'निरंजनी' और दौलतराम के बाद गद्य के क्षेत्र में मुंशी सदासुख लाल 'नियाज़' का नाम उल्लेखनीय है। वे दिल्ली के रहनेवाले थे। उनका जन्म १७४६ में और मृत्यु १८२४ में हुई। उन्होंने 'विष्णुपुराण' का एक अंश लेकर खड़ीबोली गद्य में लिखा, जिसमें संस्कृत शब्दों के साथ-साथ पूर्वी शब्दों का प्रयोग मिलता है। खड़ीबोली गद्य के प्रारम्भिक उन्नायकों में 'नियाज़' के बाद इंशाअल्ला खाँ का स्थान है। वे उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी मृत्यु १८१८ में हुई। 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (१७९८ और १८०६ के बीच) उनकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छोटी-सी, किन्तु प्रसिद्ध रचना है। उन्होंने इस रचना का निर्माण अरबी फ़ारसी-तुरकी शब्दों, ब्रजभाषा और अवधी आदि के शब्दों और संस्कृत के शब्दों से विहीन ठेठ खड़ीबोली में किया है—अपने उद्देश्य की पूर्ति में यद्यपि वे पूर्ण सफल नहीं हो सके। वैसे उनकी भाषा चलती हुई और मुहावरेदार है और चुलबुलापन लिए हुए है। ठेठ खड़ीबोली में रचना करने के अतिरिक्त उनका एक और दृष्टिकोण से महत्त्व है प्रणामी सम्प्रदाय, 'निरंजनी', दौलतराम, सदासुखलाल 'नियाज़', लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाएँ धार्मिक एवं पौराणिक और एक प्रकार से पुराने ग्रंथों के आधार पर लिखी गयी थीं। इंशा ने एक भिन्न विषय प्रस्तुत किया। इस प्रकार आधुनिक खड़ीबोली गद्य के विकास में उनका वही स्थान है, जो आदिकालीन साहित्य में अमीर खुसरो का है। इंशा की मनोहर भाषा-शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे. पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। निवाड़ी, फूलनी, बजरी लचकी, मोरपंख, श्यामसुन्दर, रामसुन्दर और जितनी ढब की नावें थीं सुनहरीं; रुपहरी, किसी-किसी में सौ-सौ लचके खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, फिरतियाँ थीं। उन सब पर खचाखच कुंजनियाँ, रामजनियाँ, डोमिनियाँ भरी हुई अपने-अपने करतबों में नाचती गाती बजाती कूदती फाँदती धूमें मचातियाँ अँगड़ातियाँ जम्हातियाँ उँगलियाँ नचातियाँ और ढली पड़तियाँ थीं।'

इंशा के रचनाकाल के आस-पास ही लल्लूलाल का रचना-काल है। वैसे तो लल्लूलाल की 'माधोनल', राजनीति', 'ब्रजभाषा 'व्याकरण', 'सभाविलास' लाल-चन्द्रिका' आदि कई रचनाएँ हैं, किन्तु 'प्रेमसागर' के कारण ही उनका नाम अधिक लिया जाता है। 'प्रेमसागर' में भागवत दशम स्कन्ध की कथा है। उन्होंने विदेशी (अरबी-फ़ारसी) शब्दों को बचाकर गद्य लिखने की प्रतिज्ञा की थी। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में वे सफल तो हुए हैं, किन्तु अनजान में कुछ विदेशी शब्द आ गए हैं। उनकी भाषा में पंडिताऊपन है और उस पर काव्य भाषा (ब्रजभाषा) का पूर्ण प्रभाव है। लल्लूलाल के प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रेमसागर' से उद्धृत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

'महाराज ! जब ऐसे समझाय बुझाय अक्रूर जो ने कुंती से कहा तब वह सोच-समझ चुप हो रही औ उनकी कुशल पूछ बोलो—कहो अक्रूर जी, हमारे माता पिता औ भाई वसुदेव जी कुटुम्ब समेत भले हैं औ श्री कृष्ण बल-राम कभी भीम अर्जुन युधिष्ठिर नकुल, सहदेव इन अपने पाँचों भाइयों की सुध करते हैं ?'

लल्लूलाल के उपरांत सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' और 'अध्यात्म रामायण' नामक खड़ीबोली के दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। पहले ग्रन्थ में नचिकेता की प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। दूसरा अनुवाद है। सदल मिश्र की भाषा लल्लूलाल की भाषा से अधिक परिष्कृत है। जहाँ तक हो सका है, उन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा का प्रयोग किया है, यद्यपि ब्रजभाषा और पूर्वी बोली का उस पर बराबर प्रभाव मिलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'नासिकेतोपाख्यान' से एक अवतरण यहाँ उद्धृत किया जाता है :

'यह सुनते ही राजा चिहुँक उठे। एक क्षण तो ईश्वर का ध्यान किया, फिर बोले कि महारानी! शीघ्र कहो। क्या ऐसा अनर्थ हुआ कि जिससे इतनी घबरा रही हो? मैंने जीवनदान दिया। इसका कारण कहो। हमारे जीते ही तुम्हारी यह अवस्था होय।'

गद्य और नवीन शिक्षा

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि 'संवत् १८६० (१८०३) के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्त्तन तो हुआ, पर उस साहित्य की अखण्ड परम्परा उस समय से नहीं चली। इधर-उधर दो-चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी हुई हों, पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा में लिखी कोई पुस्तक सम्वत् १९१५ (१८५८) के पूर्व की नहीं मिलती।'

१८०३ और १८५८ के बीच में खड़ीबोली गद्य में नाटक-उपन्यास आदि की रचना तो नहीं हुई, किन्तु व्यावहारिक और उपयोगी साहित्य की दृष्टि से पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन ठीक नहीं है। १८०० मे अँगरेज शासकों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की थी। उस कॉलेज में संसार के लगभग सभी विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था थी। कॉलेज के माध्यम द्वारा वे अपनी नीति के कारण, 'प्रेमसागर' जैसे ग्रन्थ को ही आश्रय प्रदान कर सके, किन्तु उन्होंने भारत-वासियों में शिक्षा प्रचार करने के लिए समितियों और सोसाइटियों और आगरा कॉलेज तथा अन्य शिक्षा-संस्थाओं में देशी भाषाओं को भी स्थान दिया और उन्हें शिक्षा का माध्यम भी बनाया। उनकी इस नीति के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में संसार के लगभग प्रत्येक विषय—राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, कला-दस्तकारी, स्त्री-शिक्षा, इतिहास, भूगोल आदि—पर अनेकानेक पुस्तकें खड़ीबोली गद्य में प्रकाशित हुईं। प्रेस ने इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग दिया। श्रीलाल, बंशीधर कुंजबिहारीलाल, जवाहरलाल, शिवप्रसाद आदि अनेक लेखकों ने विभिन्न विषयों सम्बन्धी रचनाएँ प्रस्तुत कर खड़ीबोली गद्य का अभूतपूर्व विकास उपस्थित किया। अस्तु; १८०३ और १८५८ के बीच खड़ीबोली गद्य की परम्परा अखण्ड रूप में मिलती है। १८२२ में लिखित और कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित नीति कथा' नामक एक शिक्षा पुस्तक से लिया गया खड़ीबोली गद्य का नमूना इस प्रकार है :

'कई दिन एक गाँव होकर जाते हमने देखा जो एक बूढ़ा अपने कई पड़ोसियों के साथ, इकट्ठे हो एक बड़े पेड़ की छाँह मे बैठा था, उस प्राचीन मनुष्य के हाथ में कुछ लिखा हुआ कागज था, उसके पड़ोसियों में से कोई वह कागज पढ़ने लगा....'

गद्य और ईसाई पादरी

गद्य के प्रारम्भिक उन्नायकों और शिक्षा-संबंधी पुस्तकों के लेखकों के अति-रिक्त ईसाई पादरियों ने अपने धार्मिक ग्रन्थों का खड़ीबोली गद्य में अनुवाद भी किया और धर्म-प्रचार की दृष्टि से अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित कीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१८०१ में न्यू टेस्टामेंट (New Testament) का अनुवाद छपकर प्रकाशित हो गया था। १८०१ और १८३२ के बीच भारत की चालीस विभिन्न भाषाओं में इंजील और धर्म-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। ईसाई धर्म-प्रचारकों के संस्मरणात्मक लेखों के अनुसार १८०१ से १८३२ तक हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी का एक रूप), अवधी, व्रज भाषा, बघेली, मारवाड़ी और कन्नौजी में लाखों पुस्तकें छापी गई थीं। उनमें खण्डन-मण्डन, उपदेश, भजन आदि भी रहते थे। यद्यपि उनकी भाषा शिथिल, व्रजरंजित और अशुद्ध मुहावरों तथा व्याकरण सम्बन्धी प्रयोगों से भरी हुई है, तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसाइयों में हिन्दी की उन्नति की भावना न रहते हुए भी हिन्दी गद्य के प्रचार में उनसे यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें और नागरी का सुन्दर टाइप पहले-पहल उन्होंने ही तैयार किया था। हिन्दी-संसार इसके लिए उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा। १८३१ में प्रकाशित चैम्बरलैन द्वारा अनूदित 'न्यू टेस्टामेंट' से एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

'हे तुम सब जो परिश्रम करते हो और बोझ वाले होते हो मेरे पास आवो और मैं तुम्हें सुस्तावूंगा। अपनेयों पर मेरा जुआ लेवो और मुझसे सिखो जिसमें मैं नरम और मन में लघु हूँ और तुम अपने जीवों से विश्राम पावोगे। क्योंकि मेरा जूआ सहज और मेरा भार हलका है।'

गद्य और पत्रकार-कला

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का एक और वजह से हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। हिन्दी की पत्रकार-कला का बचपन-काल यही है। भारतवर्ष में अँगरेजी राज्य के साथ-साथ सबसे पहले बँगला में इस कला का जन्म हुआ। साहित्य-निर्माण का एक उपयोगी साधन समझकर हिन्दी-भाषा-भाषियों ने उसका अवलम्बन लिया। हिन्दी-पत्रकार-कला का जन्म कलकत्ता में पं० युगलकिशोर शुक्ल द्वारा हुआ। वे ही हिन्दी में इस कला के आदिप्रवर्त्तक हैं। उन्होंने १६ फरवरी १८२६ को सरकार से लाइसेंस लेकर ३० मई, १८२६ को 'उदन्त मार्तण्ड' नामक पत्र की पहली संख्या प्रकाशित की। यह पत्र साप्ताहिक था। परन्तु ग्राहकों की कमी के कारण यह पत्र ४ दिसम्बर, १८२७ को बन्द हो गया। इसके बाद ९ मई, १८२९ को 'बङ्गदूत', १८६४ में 'प्रजामित्र' और १८४४ के जून मास में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार' नामक पत्र तारामोहन मित्र के संपादकत्व में बनारस से भाषा-प्रचार की दृष्टि से निकला। उत्तरार्द्ध में पत्रों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में देश में एक प्रकार से शान्ति स्थापित हो गई थी और हिन्दी-भाषियों का पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क बढ़ रहा था। नव-शिक्षा के कारण अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन उठ खड़े हुए। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। इन सब बातों के फलस्वरूप हिन्दी गद्य का अभूतपूर्व प्रवर्धन हुआ। १८५४ में प्रकाशित 'समाचार-सुधा-वर्षण' के १८५५ के एक अंक से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'यिह सत्य हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा जल्दी बाँच सकता नहीं। चार-पाँच आदमी लोग इकट्ठा बैठ के ममा टटा घघा, डडा, कहिके फेर 'मिट्टी का घड़ा' बोल के निश्चित करते हैं। क्या दुःख की बात है।'

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध

१८३६ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के सरकारी दफ्तरों की भाषा फ़ारसी थी। उसके बाद उसकी जगह देशी भाषाओं को दी गई। परन्तु यह व्यवस्था बहुत दिनों तक न चलने पाई। मुसलमानों ने इस बात का घोर प्रयत्न किया कि सरकारी दफ्तरों की भाषा हिन्दी न हो सके, उर्दू हो जाय। अदालती लोगों में वैसे भी अरबी-फारसी शब्दों का अधिक प्रचार था। १८३७ में सरकारी दफ्तरों की भाषा अप्रत्यक्ष रूप से उर्दू हो गई और धीरे-धीरे 'नागरी' का बहिष्कार होता गया। उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य रहता था। सरकार ने जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए मदरसे खोलने की बात उठाई तो भाषा के सम्बन्ध में फिर हिन्दी का विरोध किया गया। जीविका की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को भूलते गए। जिस समय शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में आए, उस समय हिन्दी की ऐसी ही शोचनीय दशा थी किन्तु राजा साहब के 'मानव धर्मसार', 'इतिहास-तिमिरनाशक', 'भूगोल हस्तामलक', 'सिक्खों का उदय और अस्त' आदि ग्रन्थों और उनके भाषा सम्बन्धी विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सुझाव उर्दू की ओर था। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इतिहास-तिमिरनाशक' की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'तुगलक का भाई मसऊद खाँ निहायत हसीन था। बगावत का शुबहा हुआ। पूछने पर उकूबत और सियासत के डर से झूठा इकरार कर दिया बहुतेरे उकूबत और सियासत से मौत को बिहतर समझते हैं। बादशाह ने भाई का सिर कटवा डाला और लाश को तीन दिन तक उसी जगह पड़ा रखा।'

भाषा का विदेशी रूप ग्रहण करने के लिए देश तैयार नहीं था। स्वयं शिक्षा-विभाग के वीरेश्वर चक्रवर्ती ने राजा साहब की भाषा का रूप ग्रहण नहीं किया। वास्तव में यदि सच्ची हिन्दुस्तानी किसी ने लिखी, तो वह मुन्शी देवीप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने। उन्होंने अरबी-फारसी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है, जो सूबा हिन्दुस्तानी की जनता में प्रचलित थे। हिन्दुस्तानी स्कूल के सच्चे प्रतिनिधि वे ही हैं, राजा शिवप्रसाद नहीं। मुन्शी देवीप्रसाद के गद्य की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :—

'संवत् १६१० में सलेमशाह के मरने पर राठौड़ पृथ्वीराज ने जोधपुर से जाकर फिर अजमेर के किले को घेरा किलेदार ने हिन्दुपति को किला देना कहके चीत्तौड़ से बुलाया। महाराणा बहुत-सी फौज लेकर गये, पृथ्वीराज को हटाकर अजमेर में अमल कर लिया और पठानों को जिन्दा और सलामत निकाल कर नागौर भी जा दबाया....।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार देवकीनन्दन खत्री की भाषा का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों से प्राप्त होता है :

'चाहे कोई हिन्दू हो चाहे जैन या बौध हो और आर्यसमाजी व धर्म-समाजी ही क्यों न हो परन्तु जिन सज्जनों के माननीय अवतारों और पूर्वजनों ने इस पुण्यभूमि का अपने आविर्भाव से गौरव बढ़ाया है उनमें ऐसा अभागा कौन होगा जो पुण्यता और मधुरता युक्त संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रचार (न) चाहेगा !....'

वास्तव में अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा का अधिक प्रचार न हो सका। साहित्यकारों को भाषा का यह रूप बहुत खटका और उसकी कड़ी आलोचना की गई। राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६) ने हिन्दी का जो रूप ग्रहण किया, वह राजा शिवप्रसाद की भाषा की तरह विदेशी बाने में नहीं है। उन्होंने अपने सिद्धान्तानुकूल अरबी-फारसी की शब्दावली से विहीन हिन्दी भाषा को साहित्य के सिंहासन पर बिठाया।

परन्तु इतना जरूर कहना पड़ेगा कि राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा आईन, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञान के उपयुक्त नहीं है। विशुद्धता के जिस आदर्श को उन्होंने अपने सामने रखा, वह भाषाविज्ञान-सम्मत नहीं। सर्वसाधारण में व्यवहृत अरबी-फारसी के शब्द भी हिन्दी भाषा के अपने अंग बन गए थे। उनका प्रयोग करने में कोई हानि नहीं थी। वास्तव में राजा शिवप्रसाद के गलत मार्ग की प्रतिक्रिया के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह ने अरबी-फ़ारसी तथा अन्य किसी विदेशी भाषा के सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों तक का बहिष्कार करने की ठान ली हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके 'रघुवंश' से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

'जब फूल भी देह के सङ्ग से आयु का नाश करने को समर्थ हुए तो हाय मारने वाले दई का साधन और कौन सी वस्तु न होगी।'

अथवा यम कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है। इससे पहला दृष्टांत पाला लगने से नाश होने वाली कमलनी मैंने मानी है।'

इसी समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) का उदय हुआ। भाषा और साहित्य दोनों पर उनका प्रभाव पड़ा। उन्होंने भाषा का परिमार्जित और शिष्ट रूप जनता के सामने रखा। उनकी टकसाली हिन्दी का रूप देखिए :

'प्यारे, रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय ! मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने वाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय ! मैं तो अपने-पराए सबसे बुरी बन कर बेकाम हो गई। सबको छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति ली।'

लेकिन आर्यसमाज आन्दोलन द्वारा प्रेरित संस्कृत साहित्य के अध्ययन के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फलस्वरूप और बँगला भाषा से अनुवादों की प्रथा चल पड़ने के कारण हिन्दी संस्कृत-शब्दावली के अधिकाधिक प्रयोग की ओर चल पड़ी थी। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती को भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है।

'पुरुषों का और कन्याओं का ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाय तब जो देश का राजा होय और जितने विद्वान् लोग वे सब उनकी परीक्षा यथावत् करैं जिस पुरुष या कन्या में श्रेष्ठ गुण जितेंद्रियता, सत्य वचन, निरभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्ण विद्या, मधुर वाणी, कृतज्ञता, विद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति हो जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, कृतघ्नता कपट, ईर्ष्या, द्वेषादिक दोष न होवैं पूर्ण कृपा से लोगों का कल्याण चाहै उसको ब्राह्मण का अधिकार देवै....'

साथ ही जिस प्रकार मुसलमानों के आने से बहुत-से अरबी-फ़ारसी के शब्द हिन्दी भाषा में घुल-मिल गए, उसी प्रकार अँगरेजों के आने से अँगरेजी शब्द भी उसके स्वाभाविक और अखण्ड प्रवाह में मिल गए। सजीव भाषा की भाँति हिन्दी ने दूसरी भाषाओं के अनेक शब्द पचा लिए। दो जातियों के एक दूसरे के सम्पर्क में आने से उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नए-नए शब्द तेजी के साथ ग्रहण किए जाने लगे।

नवीन साहित्यिक रूप और लेखक

यह पहले कहा जा चुका है कि आलोच्य काल में साहित्य के नए-नए मार्ग खुले। गद्य भी पुष्ट होकर अपना स्वरूप स्थिर करने लगा। अनेक नवीन साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान तथा उपयोगी साहित्य की सृष्टि भी हुई। हिन्दी साहित्य जो अब तक वास्तविक जीवन से अलग पुराने रास्ते पर पड़ा हुआ था, बहुत जल्दी विज्ञान, इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, जीवनी, उपन्यास, नाटक, अर्थ-शास्त्र, आईन, यात्रा, गणित, राजनीति, गवेषणा सम्बन्धी आदि जैसे नए-नए गम्भीर विषयों की ओर प्रवृत्त हुआ। हिन्दी-लेखकों ने बड़ी तत्परता के साथ अपनी चौमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। जिन प्रतिभावान् लेखकों द्वारा यह गद्य-कार्य सम्पन्न हुआ उनमें से प्रमुख-प्रमुख ये हैं—राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६), राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५), श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७), स्वामी दयानन्द (१८२४-१८८३), कार्तिकप्रसाद खत्री (१८५१-१९०४), राधाचरण गोस्वामी (१८५१-१९२५), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३), ठाकुर जगमोहन सिंह (१८५७-१८९९), देवीप्रसाद मुन्सिफ़ (१८४७-१९२३), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६१-१९३२), तोताराम वर्मा (१८४७-१९०२), देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३), श्यामसुन्दरदास (१८७५-१९४५), महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८), अम्बिकादत्त व्यास (१८५८-१९००), आदि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रमुख शैलीकार : राजा लक्ष्मणसिंह

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में उर्दू के कारण भाषा का प्रश्न एक जटिल समस्या उपस्थित कर रहा था। कुछ लेखक अरबी-फ़ारसी-मिश्रित भाषा का प्रचार करना चाहते थे। किन्तु लेखकों की एक बहुत बड़ी संख्या ने इस नीति की कड़ी आलोचना की। राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी लेकर आगे बढ़े। उनकी भाषा सरल, साहित्यिक तथा देश की परम्परा के अनुकूल है। उन्होंने सर्वसाधारण में प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी उनकी भाषा पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी 'शकुन्तला' और 'मेघदूत' नामक रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। उनके द्वारा निर्धारित भाषा के रूप में वह दोष है, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है।

राजा शिवप्रसाद

राजा शिवप्रसाद ने भाषा की शुद्धता का अधिक विचार नहीं रखा। उन्होंने अपने को विशद और प्रभावपूर्ण रीति से प्रकट करने के लिये अन्य भाषाओं के शब्द भी ग्रहण किए। उन्होंने हिन्दी को संस्कृत के साँचे में ढालना उचित न समझा। उनकी रचनाओं में हिन्दी उर्दू मिश्रित वाक्यांश मिलते हैं और उन्होंने अनेक शब्दों के दुहरे प्रयोग (जैसे, 'कष्ट और तकलीफ़') किए हैं। यद्यपि प्रारम्भ में उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दी-उर्दू का भेद मिटा देना था, किन्तु धीरे-धीरे वे उर्दू की ओर झुकते गये और उनकी भाषा में उर्दू के शब्दों, मुहावरों, वाक्य रचना प्रणाली आदि का प्राधान्य मिलने लगता है। इतना होने पर भी राजा साहब की रचनाओं में शैली की प्रौढ़ता, रोचकता, परिमार्जन, वर्णन-शक्ति, सुन्दर पद-निर्माण, पुष्ट वाक्य रचना, विचारों का पूर्वापर सम्बन्ध, विचारों का स्पष्ट विभाजन आदि विशेषताएँ मिलती हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद जब भाषा-सम्बन्धी दो भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे थे, उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा का शिष्ट और परिमार्जित रूप जनता के सामने रखा। उनकी भाषा में न तो कठिन संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है और न क्लिष्ट तथा अप्रचलित विदेशी शब्दों का। संस्कृत तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों और सर्वप्रचलित तथा भाषा के अंग बन गये विदेशी शब्दों के साथ-साथ उन्होंने कहावतों और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी का जातीय रूप ग्रहण किया। उनकी भाषा में ब्रजभाषा के भी शब्द और रूप मिलते हैं। पूर्वी हिन्दी का प्रभाव भी उनकी भाषा पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली प्रधानतः दो प्रकार की मिलती है—(१) तथ्य-निरूपण वाली शैली और (२) भावुकता तथा आवेशपूर्ण शैली। गम्भीर विवेचन करते समय वे पहली शैली का अश्रय ग्रहण करते हैं और ऐसा करते समय उनकी भाषा भी कुछ क्लिष्ट हो जाती है। दूसरे प्रकार की शैली में उन्होंने अधिकतर अपने धार्मिक एवं देश-प्रेम सम्बन्धी भाव प्रकट किये हैं और ऐसे स्थलों की भाषा सरस, सरल और कवित्वपूर्ण रहती है। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी गद्य का स्वाभाविक एवं सजीव रूप प्रस्तुत किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लाला श्रीनिवासदास

लाला श्रीनिवासदास ने अधिकतर भारतेन्दु द्वारा निर्धारित मार्ग का अवलम्ब ग्रहण किया और शैलीगत अपनी निजी विशेषताएँ प्रकट कीं। उनकी भाषा में दिल्ली की भाषा की मिठास है, क्योंकि वे बहुत दिनों तक दिल्ली में रहे थे।

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादक थे और अँगरेजी-शिक्षित तथा उर्दू-दाँ लोगों में हिन्दी का प्रचार करना वे अपना मुख्य उद्देश्य समझते थे। इस उद्देश्य से उनकी भाषा और शैली दोनों प्रभावित हैं। उनके पत्र में सरल और गम्भीर दोनों प्रकार के निबन्ध प्रकाशित होते थे और सामयिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि विषय रहते थे। उन्होंने विचित्र, असाधारण और काल्पनिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों में गम्भीर तथ्य-निरूपण, मननशीलता और विवेचना के साथ-साथ हास्य और व्यंग्य का पुट भी रहता है। उनकी भाषा सरल होने के साथ-साथ अकृत्रिम और स्निग्ध है। मुहावरों का प्रयोग भी वे प्रायः कर लेते थे। भाषा की दृष्टि से वे विशुद्धवादी नहीं थे और संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू तथा अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग बराबर करते थे। हिन्दी शब्दों का प्रचार करने के लिए उन्होंने शब्दों के दुहरे-तिहरे प्रयोग ('सम्राट-शाहंशाह', 'गुरु रसूल-पैगम्बर' आदि) तक किए हैं। पूर्वीपन भी उनकी भाषा से अलग नहीं रह पाया। व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा में कहीं-कहीं अशुद्ध रूप मिल जाते हैं। उन्होंने अनेक नवीन शब्द भी गढ़े हैं। (जैसे, 'बुढ़ापा' के अनुकरण पर 'सुन्दरापा'—सौन्दर्य)। उनके वाक्य कुछ बड़े, किन्तु प्रभावपूर्ण, समयानुकूल और विषयानुकूल हैं। शैली की दृष्टि से भट्ट जी संस्कृत की ओर अधिक झुके हुए हैं। उनकी शैली में व्यंग्य, वक्रता, आत्मीयता है और उस पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। उद्धरणों से उनके लेख सुसज्जित रहते हैं। उन्होंने अलंकृत शैली में भी निबन्ध लिखे। वास्तव में भट्टजी के निबन्धों से सरस साहित्यकता टपकती है।

प्रतापनारायण मिश्र

भट्टजी के साथ प्रतापनारायण मिश्र का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उन्होंने भी सामयिक तथा अनेक साधारण और विचित्र विषयों पर निबन्ध लिखे। उनकी भाषा में भट्टजी की अपेक्षा परिमार्जन और नागरिकता कम है। उन्होंने तत्सम, तद्भव और देश ज या ग्रामीण सभी प्रकार के शब्दों का व्यवहार किया है। उनकी भाषा उनके जीवन के अनुरूप ही थी।—फक्कड़पन, किन्तु संयम से पूर्ण। उनमें साहित्यिकता का अभाव नहीं है। 'ब्राह्मण' के सम्पादक के रूप में उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे साधारण रूप से शिक्षित व्यक्ति ही समझ सकते थे। भाषा में सजीवता, लचीलापन और प्रसङ्गोपयुक्तता रखकर उन्होंने उसे प्रचार के लिए आवश्यक उपकरणों से सुसज्जित किया। लोकोक्तियों से तो उनकी भाषा भरी रहती है। सर्वसाधारण में प्रचलित अनेक लोकोक्तियों को उन्होंने विषयोपयुक्त बनाकर साहित्य में स्थान दिया। मिश्रजी पांडित्य-प्रदर्शन के प्रेमी नहीं थे। उनके निबन्धों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर उनके प्रेमी और फक्कड़ व्यक्तित्व की पूरी छाप है। उनकी शैली में घरेलूपन, व्यंग्य और हास्य-विनोद आदि गुण विशेष रूप से मिलते हैं। वे पाठकों के साथ घनिष्ठता स्थापित कर लेते हैं उनके निबन्धों में मननशीलता का अभाव है। पाठकों का उनसे मनोविनोद होता है। किंतु विनोदपूर्ण शैली में ही वे अत्यन्त सूक्ष्म और गंभीर बात कह जाते हैं। वास्तव में भट्टजी और मिश्रजी ने अपनी निबन्ध-रचनाओं द्वारा गद्य को पुष्ट किया। हिन्दी साहित्य में उन दोनों का वही स्थान है। जो अँगरेजी में एडीसन और स्टील का।

राधाकृष्णदास

राधाकृष्णदास ने भाषा और शैली की दृष्टि से भारतेन्दु को अपना आदर्श बनाया। उनकी भाषा नगरों में बोली जानेवाली सरस, भावपूर्ण और शिष्ट भाषा है। उसमें सरलता के साथ-साथ रसात्मकता भी है। उन्हें शब्दों के बहिष्कार में विश्वास नहीं था। ब्रजभाषा और पूर्वी का प्रभाव भी उनकी भाषा पर मिलता है। शैली उनकी निरलंकृत और सन्तुलित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती अहिंदीभाषी और आर्यसमाज के प्रवर्तक थे। स्वभावतः उनका झुकाव संस्कृत की ओर रहना आवश्यक था। तब भी उन्होंने सरल भाषा का ही प्रयोग किया है। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार उनकी भाषा में अशुद्धियाँ अवश्य मिलती हैं, विशेषतः लिंग-निर्धारण में। उनकी भाषा में कहीं-कहीं ब्रजभाषातत्त्व भी मिल जाता है। उन्होंने अनेक शब्दों का प्रयोग संस्कृत लिंग और धातुओं के अनुसार किया है। संस्कृत तत्त्व अधिक रहने से उनकी भाषा की गति मन्द हो गई है। उसमें उन्मुक्त प्रभाव नहीं मिलता। आर्यसमाज के प्रवर्तक होने के कारण उन्होंने हिन्दी गद्य को खण्डन-मण्डन एवं तर्क-पूर्ण शैली प्रदान की। उसमें ओज, विशदता और विरोधी पक्ष को प्रभावित करने की शक्ति है। साथ ही उनकी शैली में वक्तृता के गुण भी मिलते हैं। शास्त्रार्थों के उपयुक्त व्यंग्य और हास्य उनकी शैली के प्रधान अंग हैं। हिन्दी में गद्य-प्रवाह और शैली-निर्माण की दृष्टि से स्वामीजी चिरस्मरणीय रहेंगे ?

'प्रेमघन'

'प्रेमघन' जी 'आनन्दकादम्बिनी' का सम्पादन करते थे और उन्होंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। उनकी भाषा में स्वाभाविकता कम और बनावट अधिक है। स्पष्ट है कि उनकी भाषा विशुद्ध नहीं रह सकती थी। यद्यपि वे विदेशी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे, तो भी उन्होंने संस्कृत शब्दों के साथ-साथ अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। वैसे उन्होंने संस्कृत-गर्भित भाषा भी लिखी। उनके वाक्य अर्थ-गर्भित, लम्बे और सन्तुलित हैं। उन्होंने आलोचनात्मक शैली का आश्रय ग्रहण कर तर्क, पांडित्य, वक्रता आदि गुणों से उसे समन्वित किया। उन्होंने भाषा के पुराने प्रयोगों ('कवी', 'करैं' आदि) के साथ संस्कृत व्याकरण के अनुसार बने हुए भारी-भरकम शब्दों का भी प्रयोग किया। अनुप्रास की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। साधारण रीति से वे कोई बात कहना पसन्द नहीं करते थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य

कार्तिकप्रसाद खत्री और राधाचरण गोस्वामी ने भारतेन्दु का आदर्श अपने सम्मुख रखा। मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़ और देवकीनन्दन खत्री ने कठिन संस्कृत और विदेशी शब्दों से रहित जनसाधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। उनकी भाषा में अत्यधिक सरलता है। केवल नागरी वर्णमाला से परिचित व्यक्ति भी उनकी भाषा भली भाँति समझ सकता है। उनकी भाषा और शैली निरलंकृत, सुव्यवस्थित और वर्णनात्मक है। ठाकुर जगमोहनसिंह, किशोरीलाल गोस्वामी और तोताराम वर्मा ने नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि लिखकर हिन्दी-गद्य को पुष्ट किया। ठाकुर जगमोहन सिंह की संस्कृत और भाषा-योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। शब्द-शोधन और अनुप्रास की दृष्टि से उनकी शैली 'प्रेमघन' जी की शैली से मिलती-जुलती है, किन्तु उसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। किशोरीलाल गोस्वामी की भाषा में कोई विशेषता नहीं है। वह सीधी-सादी, किन्तु शुद्ध और पुष्ट है।

बीसवीं शताब्दी : द्विवेदी-युग

भारतेन्दु युग के हिन्दी-गद्य के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उसका विकास नवोदित राष्ट्रीयता और नवोत्थान की भावना के अन्तर्गत हुआ था। इस भावना ने एक ओर जहाँ धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में सजीवता एवं सप्राणता का संचार किया, वहीं दूसरी ओर भाषा के प्रसार के लिए भी लोगों को प्रेरित किया। भारतेन्दु के जीवन काल में आर्यसमाज आन्दोलन जन्म ले चुका था। उनके जीवन के अन्तिम वर्ष में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के साथ-साथ हिन्दी-प्रचार-कार्य भी आगे बढ़ता गया। केवल जनता में ही हिन्दी का प्रचार नहीं किया गया, वरन् राज-कार्य में भी हिन्दी के व्यवहार पर जोर दिया गया। हिन्दी के इस आन्दोलन में देश के बड़े-बड़े नेताओं ने भाग लिया। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी-प्रचार-कार्य में प्रमुख भाग लिया था, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में भी उन्होंने इस पुनीत कार्य में भरपूर योग दिया। कहना न होगा कि बीसवीं शताब्दी में इन पत्र-पत्रिकाओं में 'सरस्वती' का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'सरस्वती' के संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। भारतेन्दु-युग में गद्य का जो विकास हुआ था, वह इस समय शतधा होकर प्रस्फुटित हुआ। इतना ही नहीं, भाषा के परिमार्जन और परिष्करण का जो कार्य शेष रह गया था, वह भी द्विवेदीजी द्वारा संपन्न हुआ।

नवीन राष्ट्रीयता के साये में हिन्दी-प्रचार-कार्य बीसवीं शताब्दी में अधिकाधिक बढ़ता गया। स्थान-स्थान से पत्र निकले, सभा-सोसाइटियाँ स्थापित हुईं, सरकार के पास डेप्यूटेशन भेजे गए और लेखकों ने अपनी मौलिक एवं अनूदित रचनाओं द्वारा भाषा को समृद्ध बनाने की चेष्टा की। हिन्दी-प्रेमियों में उस समय दो प्रकार के लोग थे। एक तो वे थे, जो मूलतः हिन्दी-सेवी थे। दूसरे वे थे, जो देशभक्ति से प्रभावित हो हिन्दी-सेवा की ओर उन्मुख हुए थे। स्पष्ट है, दूसरे प्रकार के लोगों में अनेक तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे थे, जो हिन्दी से भली-भाँति परिचित भी न थे, और न वे हिन्दी-प्रान्त के निवासी ही थे। इससे हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। स्वयं हिन्दी प्रान्त में हिन्दी-उर्दू का संघर्ष था। अतएव हिन्दी का प्रचार बढ़ने के साथ-साथ लोग उसका मनमाने ढंग से व्यवहार करने लगे। व्याकरण के नियमों की भी अवहेलना की जाने लगी। बड़े-बड़े लेखक तक इस दोष से मुक्त न रह सके। भारतेन्दु के समय में ब्रजभाषा के रूपों का प्रयोग तो होता ही था, धीरे-धीरे उर्दू की शैली भी उसमें प्रवेश करने लगी। नये-नये भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए लेखक मनमाने ढंग से शब्द गढ़ने लगे। आर्यसमाज आन्दोलन, बँगला से अनुवादों और नवोत्थान-कालीन भावना के कारण भाषा में ऐसे-ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी की अपनी निजी शैली में खप नहीं पा रहे थे।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-गद्य एक अराजकतापूर्ण परिस्थिति से गुजर रहा था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा को स्थिरता प्रदान की। संपादक की हैसियत से, प्रकाशित होने के लिए आये लेखों को शुद्ध करने में वे अत्यधिक परिश्रम करते थे। शब्द-भंडार, व्याकरण, विराम-चिह्नों की दृष्टि से उन्होंने स्वयं अपने लेखों के माध्यम द्वारा भाषा का आदर्श जनता के सामने रखा। भावों-विचारों और विषयों के विस्तार के साथ-साथ अनेक शासन-सम्बन्धी, न्याया-पद्धति-सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी, ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी अँगरेजी, बँगला, मराठी, संस्कृत आदि शब्द ग्रहण कर भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाई गई। यह कार्य भारतेन्दु-युग में ही आरम्भ हो गया था। समयानुसार द्विवेदी-युग में वह और आगे बढ़ा। किन्तु इस सम्बन्ध में द्विवेदी-युग में एक बात अवश्य ऐसी हुई जिस पर हम आज अपना निर्णय दे सकते हैं—और जिस बात को भारतेन्दु ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ दूर ही रखा था। क्या ही अच्छा होता यदि द्विवेदी-युग के लेखक भारतेन्दु द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते। जो बात द्विवेदी-युग में हुई, वह यह थी कि भाषा को परिष्कृत करने और शब्द-भण्डार बढ़ाने की धुन में लेखकगण संस्कृत शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करने लगे। खड़ीबोली आवश्यकता से अधिक संस्कृत-गर्भित होती गई और जन-बोलियों से उसका कोई संपर्क न रहा। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इससे खड़ीबोली के सहज-स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ी है। साथ ही मुहावरेदानी के जिस अभाव के लिए खड़ीबोली आज बदनाम है, उसका उत्तरदायित्व द्विवेदी-युग पर है।

द्विवेदी-युग शब्द-भण्डार की वृद्धि के अतिरिक्त गद्य की विविध शैलियों के लिए भी स्मरणीय रहेगा। इस समय अँगरेजी की लाक्षणिकता, बँगला की कोमल-कान्त-पदावली, अलंकार, उर्दू की मुहावरेदानी से समन्वित शैली के जन्म के साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे लेखकों की कृतियों में भारतेन्दु द्वारा निर्धारित हिन्दी की निजी शैली का भी विकास हुआ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखक ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार शैलियों को जन्म दिया। इस युग में बालमुकुन्द गुप्त, माधव मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, पूर्णसिंह, यशोदानन्दन अखौरी, प्रेमचन्द, चतुरसेन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्री, 'उग्र', 'प्रसाद' रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि अनेक लेखकों ने आत्म-कथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक, हास्यात्मक, व्यंग्यात्मक, तर्क-प्रधान, कवित्व-पूर्ण, रूपकात्मक, कथनोपकथनात्मक आदि अनेक प्रकार की शैलियों को जन्म दिया। इन शैलियों के माध्यम द्वारा वे मानव-मन की अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक बातों का भी विश्लेषण करने लगे। उदाहरणार्थ, बालमुकुन्द गुप्त लार्ड कर्जन की ओर लक्ष्य करते हुए व्यंग्यपूर्ण शैली का प्रयोग करते हैं :

> .....उसका दर्शन दुर्लभ है। द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुख-चन्द्र के उदय के लिये कोई समय भी नियत नहीं। अच्छा, जिस प्रकार इस देश के निवासी माई लार्ड का चन्द्रानन देखने को टकटकी लगाये रहते हैं या जैसे शिव-शम्भु शर्मा के जी में अपने देश के माइ लार्ड से होली खेलने की आई उस प्रकार कभी माई लार्ड को भी इस देश के लोगों की सुध आती होगी ?

इसी प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल की विचारात्मक शैली का एक उदाहरण यह है :

> 'ग्लानि में अपनी बुराई, मूर्खता तुच्छता आदि के अनुभव से जो संताप होता है, वह अकेले में भी होता है, दस आदमियों के सामने प्रकट भी किया जाता है। ग्लानि अंतःकरण की शुद्धि का एक विधान है। इससे उसके उद्गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुःख से या सुख से कथन भी करते हैं—उसमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध का स्वीकार, आन्तरिक अवस्था का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वार है।'

अन्य शैलियों में उदाहरण भी उपर्युक्त लेखकों के निबन्धों में खोजे जा सकते हैं। 'प्रसाद' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की अलंकृत भाषा-शैलियाँ भी द्विवेदी-युग में उत्पन्न हुई थीं। पद्मसिंह शर्मा की चुटीली और व्यंग्यात्मक शैली का जन्म भी इसी समय हुआ था।

हिन्दी की इन विविध शैलियों में कुछ तो मौलिक थीं, कुछ अनुकरण मात्र थीं। जो शैलियाँ बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेजी आदि के अनुकरण पर निर्मित हुई थीं, उनका आज अस्तित्व नहीं रह गया है। हिन्दी की केवल अपनी विशेषताओं से सम्बन्धित शैलियाँ ही रह गई हैं। वास्तव में अनेक प्रकार के प्रभावों के बीच हिन्दी गद्य अपना 'अपनापन' सुरक्षित रख सका, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यही बात उसकी मूल शक्ति का भी परिचय देती है।

विविध प्रकार की भाषा-शैलियों के साथ-साथ द्विवेदी-युग में गद्य-साहित्य के विविध रूपों का सृजन भी अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की रचना तो हुई थी, किन्तु द्विवेदी-युग में उनको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कला, रचना-पद्धति, प्रकार आदि की दृष्टि से और भी अधिक विकास हुआ। कहानी तो निश्चित रूप से द्विवेदी-युग की देन है। निबन्ध-क्षेत्र में बालमुकुन्द गुप्त, यशोदा,-नन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, पूर्णसिंह, रामचन्द्र शुक्ल आदि जैसे यशस्वी कलाकार हुए, जिनकी परम्परा को विलीन होते देखकर आज बड़ा दुःख होता है। समालोचना क्षेत्र में भी भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक प्रगति हुई और महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास आदि जैसे गम्भीर विचारक और आलोचक हुए। उपयोगी विषयों के लिए भी द्विवेदी-युग एक महत्त्वपूर्ण युग है।

अस्तु, हिन्दी गद्य की जो परम्परा स्वामी प्राणनाथ, रामप्रसाद 'निरंजनी', लल्लूलाल, श्रीलाल, जवाहरलाल, कुंजबिहारीलाल, भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने स्थापित की थी, वह द्विवेदी-युग में आकर पुष्ट हुई। १८ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की नींव पर भारतेन्दु-युग में जो प्रासाद निर्मित किया गया था, वह द्विवेदी-युग में विविध प्रकार के बेल-बूटों से सुसज्जित किया गया।

२०वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख शैलीकार : महावीरप्रसाद द्विवेदी

जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी-गद्य अराजकतापूर्ण परिस्थिति से गुजर रहा था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा को स्थिरता प्रदान की। द्विवेदीजी ने विषय के उपयुक्त भावात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, व्यंग्यात्मक आदि अनेक प्रकार की शैलियों पर अपना अधिकार प्रकट किया। उद्धरणों एवं व्यंग्यों के द्वारा उन्होंने साहित्यिक उच्छृङ्खलता प्रकट करने वाले लेखकों पर प्रहार किए। उनकी शैली में प्रौढ़ता, विशदता और पांडित्य है और वह प्रसाद गुण-सम्पन्न है। वाक्यों के सामंजस्य और संतुलन से, भावों के उत्कर्षापकर्ष के अनुकूल भाषा के प्रयोग से उन्होंने अपनी शैली में एक विशेष गरिमा उत्पन्न कर दी है। सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वे रूपकों का सहारा लेते हैं। वास्तव में द्विवेदी जी की गद्य-शैली एक परिपक्व और सजीव शैली का उदाहरण प्रस्तुत करती है। उसमें हम व्यास-शैली का भी पुट पाते हैं।

माधव मिश्र

माधव मिश्र की भाषा परिमार्जित, प्रांजल और पुष्ट है, और उसमें मधुरता और कोमलता रहती है। उससे उनका पांडित्य झलकता है। अलंकारों के प्रयोग के कारण उनके निबन्ध पढ़ते समय समय कविता का-सा आनन्द आता है। उनके निबन्धों में विचार कूट-कूटकर भरे रहते हैं और भावुकता उनका प्रधान गुण है। वे उनके व्यक्तित्व से समन्वित हैं। कहीं-कहीं पर वे शब्दाडम्बर मात्र में संलग्न होते हुए देखे जाते हैं। उनकी रचनाओं में उर्दू-शैली का चमत्कार पाया जाता है।

गोविन्दनारायण मिश्र

गोविन्दनारायण मिश्र संस्कृत के पण्डित थे और उनका गद्य संस्कृतमय गद्य का उत्तम उदाहरण है। उनके वाक्य लम्बे-लम्बे समासयुक्त होते हैं। तब भी उनकी भाषा दुर्बोध नहीं होने पाई, क्योंकि वे ढूंढ़-ढूंढ़कर संस्कृत शब्द नहीं रखते थे। वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो स्वयं ही आ जाते हैं। साथ ही उनकी भाषा में सरल शब्दों का भी अभाव नहीं रहता। मिश्रजी की भाषा में काव्य और कल्पना का अनुपम मिश्रण पाया जाता है। उसमें कहीं-कहीं वक्तृता के गुण भी हैं, क्योंकि मिश्रजी स्वयं अच्छे वक्ता थे। कहीं-कहीं पर तुकांतपूर्ण होने के कारण उसमें एक प्रकार की लय उत्पन्न हो जाती है। उनका शब्द-चयन उपयुक्त होता है, और वाक्य-विन्यास दुरूह एवं गम्भीर। शब्दों के द्वारा वे अलंकारों की छटा दिखाने में सिद्धहस्त हैं। वे भाषा के कलाकार थे, शब्द-स्रष्टा थे। वे शब्द-मैत्री-सौंदर्य उत्पन्न करते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिन्दी के क्षेत्र में आये। उर्दू के अधिक प्रचार से हिन्दी की जो दुर्दशा हो रही थी, उसे देखकर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती थी। जैसी वे हास्य-व्यंग्य से भरी चुटीली उर्दू लिखते थे, वैसी ही उन्होंने फड़कती हुई हिन्दी लिखी। उन्होंने 'भारतमित्र' के सम्पादक के रूप में सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर भी लिखी और अनेक विषयों की आलोचना की। वह समय लार्ड कर्जन का शासन-काल था, अतः गुप्तजी ने उन पर करारे आघात किए। उनकी रचनाएँ 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' में संगृहीत हैं। उन्होंने हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है, किन्तु उनका झुकाव हिन्दी की ही ओर है। अनावश्यक और क्लिष्ट उर्दू-शब्दों का उन्होंने प्रयोग नहीं किया। साथ ही उनकी भाषा मुहावरों और कहावतों से सुसज्जित रहती है। उनके कुछ शब्द उर्दू के अनुकरण पर बनाये गये हैं (जैसे, 'अबके', 'हरेक' आदि) कहीं-कहीं पर तुकांतयुक्त वाक्य भी मिल जाते हैं। बालमुकुन्द गुप्त की भाषा सरल, पुष्ट और परिमार्जित है और उसमें ओज, वेग और प्रवाह है। व्यंग्य और हास्य उनकी शैली के प्रधान स्तम्भ हैं और उस पर उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है।

पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह (१८८१-१९३१) के निबन्ध भावात्मक और विचारात्मक निबन्धों के सम्मिश्रण के उदाहरण हैं, अर्थात् उनके निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी भावात्मक निबन्धों की कोटि में आते हैं। उनकी भाषा में प्रवाह, लाक्षणिकता और शक्ति-सम्पन्नता है। वह दैनिक जीवन में प्रयुक्त होनेवाली भाषा का साहित्यिक रूप है। पूर्णजी में भावों का प्रबल प्रवाह और विचारों की तल्लीनता है। उनकी शैली में गांभीर्य के साथ आकर्षण है।

पद्मसिंह शर्मा

पं० पद्मसिंह शर्मा एक निस्पृह साहित्य-सेवी थे। अन्तिम समय तक वे इसी सेवा में लीन रहे। हिन्दी साहित्यिकों में वे एक टाइप थे। वैसे व्यक्ति अब देखने को नहीं मिलते। जिस समय शर्मा जी ने लिखना प्रारम्भ किया, उस समय भाषा के क्षेत्र में बड़ी अराजकता फैली हुई थी—हिन्दी-उर्दू का संघर्ष, व्याकरण सम्बन्धी नियमों की अवहेलना आदि। पं० पद्मसिंह शर्मा का उद्देश्य अराजकता को दूर कर भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ाना था। उन्होंने संदिग्ध वाक्य-योजना, शब्द-निर्माण, लिंग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्णय आदि की दृष्टि से मार्ग-प्रदर्शन किया। क्योंकि पं० पद्मसिंह शर्मा को उर्दू और फ़ारसी का अच्छा ज्ञान था और वे सम्पादक भी थे, इसलिए उनके गद्य में उर्दू और फ़ारसी शब्दों, वाक्यांशों आदि के दर्शन हो जाते हैं। उनका प्रत्येक विदेशी शब्द ऐसा चस्पाँ हो जाता है कि उसके स्थान पर संस्कृत या हिन्दी का कोई शब्द नहीं रखा जा सकता। तद्भव और संस्कृत के आधार पर बनाये गए शब्द भी उनकी भाषा में मिल जाते हैं। वास्तव में शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से वे मध्यम मार्ग के अवलम्बी कहे जाएँगे। 'पण्डिताऊ' हिन्दी का तो वे मज़ाक बनाते थे। उनकी भाषा लम्बे-लम्बे समास और अलंकारों से लदी हुई नहीं है। उसमें तीव्र प्रवाह और स्वाभाविक सरलता है। हाँ, गम्भीर-से-गम्भीर विषय का प्रतिपादन करते समय भी, उनमें उछल-कूद, उक्ति-वैचित्र्य और अतिशयोक्ति रहती है। उनकी भाषा उनके भावों की अनुगामिनी है। शैली की दृष्टि ने उनकी गद्य-शैली आत्म-प्रधान या व्यक्तित्व-प्रधान शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें व्यंग्य, वाग्विदग्धता, उद्धरण, बिजली की शक्ति, अध्यननशीलता, स्पष्टवादिता, हास्य, मार्मिक विवेचन, मस्ती, तार्किकता आदि विशेषताएँ हैं। उनकी चुटीली शैली और चुस्त भाषा का कारण यह था कि वे सदैव उचित शब्दों और मुहावरों का अभ्यास किया करते थे। सरस्वती की रक्षा की खातिर वे बरहना शमशेर' थे।

गणेशशंकर विद्यार्थी

मातृ-भाषा तथा मातृ-भूमि के अनन्य पुजारी गणेशशंकर विद्यार्थी (१८९० में जन्म) एक प्रसिद्ध पत्रकार थे और साथ ही राजनीति तथा साहित्य में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की। उनकी वाणी में हृदय की सचाई और ओज विशेष रूप से विद्यमान है। उन्होंने शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से कट्टरता नहीं दिखाई। उनकी भाषा में उर्दू के चलते हुए शब्द भी आए हैं, जिससे भाषा की शक्ति बढ़ी ही है। उनकी शैली में स्पष्टता है। कहीं-कहीं पर व्यंग्यपूर्ण शैली भी मिल जाती है।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' अपनी अलंकृत भाषा के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी कहानियों में कथा-भाग की अपेक्षा अनुप्रासों, उपमानों, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं आदि की प्रचुरता रहती है, जिससे कहानी में कविता का-सा आनन्द आता है। उद्धरणों के साथ वर्णनात्मकता उनकी विशेषता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' प्रधानतः कवि हैं और काव्य-रचनाओं के द्वारा उन्होंने हिन्दी को एक नई शक्ति दी। कविता और गद्य दोनों क्षेत्रों में उन्होंने प्रयोग किए। संस्कृत-शैली और ठेठ हिन्दी शैली दोनों ही में उन्होंने अपनी सिद्ध-हस्तता प्रकट की। अतएव उनकी कोई विशिष्ट शैली नहीं है। किन्तु उसमें उत्कृष्टता है। उनका शब्द-भंडार प्रशस्त है।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द प्रसिद्ध कहानीकार और उपन्यास-लेखक थे, किन्तु उन्होंने कुछ लेखों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या निबन्धों की रचना भी की, जिनमें विविध साहित्यिक प्रश्नों और समस्याओं पर विचार किया गया है। जिस भाषा-शैली का जन्म और विकास भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त और महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हुआ वह प्रेमचन्द के हाथों में पड़कर पुष्ट हुई। प्रेमचन्द की भाषा जीवन-सापेक्ष है। उसमें अद्भुत वर्णनात्मक शक्ति और उर्दू की मुहावरेदानी है। वे अधिकतर समीकृत वाक्य लिखते हैं, जिनमें एक ही भाव कई तद्रूप पदों से प्रकट होता है और जिनमें एक अनोखा माधुर्य आ जाता है, वह चमत्कारपूर्ण हो जाती है। प्रेमचन्द ने मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग किया है, जिससे भाषा में रोचकता आ गई है। उनकी भाषा में क्लिष्टता नाममात्र को भी नहीं है। भाषा के बल पर उन्होंने अनेक सजीव चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनकी भाषा में 'संस्कृतपन' न होते हुए भी परिमार्जन और नागरिकता है। शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से वे कट्टर नहीं हैं। इन सब कारणों से उनकी शैली में एक कथाकार का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। वास्तव में बोलचाल की भाषा को ही प्रेमचन्द ने साहित्यिक रूप प्रदान किया।

सुदर्शन

सुदर्शनजी एक प्रसिद्ध कहानीकार हैं। वे प्रेमचन्दजी की पीढ़ी के कलाकार होने के कारण प्रेमचन्द की कला से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। उनकी भाषा प्रभावपूर्ण, मुहावरेदार और प्रांजल है।

श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास की भाषा सिद्धान्त-निरूपण करनेवाली सीधी, ठोस, भावुकता-विहीन और निरलंकृत होती है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से वे संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं और जहाँ तक बन पड़ा है, उन्होंने विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं किया। कहीं-कहीं पर बाबूजी की भाषा दुरूह और अस्पष्ट भी हो जाती है। उनकी भाषा में लोकोक्तियों का प्रयोग भी कम हुआ है। वास्तव में उनकी भाषा का महत्त्व उपयोगिता की दृष्टि से है और उसमें साहित्यिक गुरुता है। प्रारम्भ में उनकी भाषा में शिथिलता थी, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रौढ़, स्वच्छ, परमार्जित और संयत रूप में हमारे सामने आती है। उनकी शैली को हम आलोचना-शैली कह सकते हैं। वस्तुतः उनकी शैली एक अध्यापक की शैली है।

रामचन्द्र शुक्ल

पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के एक उत्कृष्ट और गम्भीर गद्य-लेखक थे। उन्होंने भावनात्मक और समीक्षात्मक दोनों प्रकार के निबन्धों की रचना है। उनकी भाषा संस्कृतमय है, किन्तु व्यंग्य और हास्य प्रस्तुत करते समय वे उर्दू और अँगरेजी के चलते हुए शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। जैसे वे स्वयं गम्भीर प्रकृतिवाले थे, वैसा ही गांभीर्य उनकी भाषा में है। उनके शब्द नपे-तुले और उपयुक्त होते हैं। कोई शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। उन्होंने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग कम किया है। उनके वाक्य छोटे, किन्तु सूत्र-रूप में होते हैं। शुक्ल जी की भाषा परिष्कृत, प्रौढ़, विषयानुकूल, समृद्ध और प्रभावोत्पादक है। भाषा में रूप-योजना और मूर्तिमत्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। उसमें संश्लिष्ट वर्णन की क्षमता है, चित्र प्रस्तुत करने की शक्ति है, और संतुलित वाक्य-विन्यास है। उनके विचारों में क्रमबद्धता और पूर्वापर सम्बन्ध पाया जाता है। विचारात्मक होने के साथ-साथ उनके निबन्ध व्यक्ति-प्रधान भी हैं, जो एक बड़ी भारी विशेषता है। उनकी प्रतिपादन-शैली में एक भव्यता है। उसमें गम्भीरता होते हुए भी रूखापन नहीं है। उनकी शैली निगमन-शैली है। वास्तव में कौशल, सौष्ठव, सौन्दर्य आदि की दृष्टि से शुक्लजी हिन्दी के एक उच्च गद्य-शैलीकार हैं।

वियोगी हरि

वियोगी हरि बड़े ही सरस और भावुक व्यक्ति हैं। ब्रजभाषा के प्रति उन्हें विशेष अनुराग है। उनकी विषयानुवर्तिनी भाषा में उनका व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता है। वियोगी हरि की शैली में पांडित्य-प्रदर्शन, सानुप्रासिकता तथा अन्य अलंकारों की छटा और सामाजिक सौन्दर्य के साथ-साथ भाषा का माधुर्य है और सरलता एवं भावुकता है। उनके वाक्य छोटे-छोटे और शब्द दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने उर्दू शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है, जिससे भाषा में सरलता और चपलता आ गई है। उनकी शैली में हृदय की सचाई और ओज एवं प्रभावात्मकता पाई जाती है। उनके गद्य-गीतों में व्यंग्य और अन्योक्ति के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

'प्रसाद'

'प्रसाद' जी प्रमुख रूप से कवि और नाटककार थे। किन्तु अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर उन्होंने हिन्दी गद्य को भी सँवारा। उनकी भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। उसमें संयम और गांभीर्य है। उनके वाक्य छोटे-छोटे सूत्र रूप में होते हैं। उनकी भाषा में आलंकारिता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। कहीं-कहीं गद्य की भाषा में 'प्रसाद' जी का भावुक कवि-हृदय प्रतिबिंबित हो जाता है। उनकी भाषा में स्निग्धता, मार्दव, प्रवाह और भाव-प्रवणता, चित्रमयता, कल्पना-शक्ति, सांकेतिकता और वर्णनात्मक शक्ति है। 'प्रसाद' जी की शैली विचारात्मक, गंभीर और उदात्त है। अर्थ-गांभीर्य और माधुर्य उनकी शैली की अपनी विशेषताएँ है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा प्रधानतः कवयित्री हैं 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ' उनकी प्रसिद्ध गद्य-रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में उनका कवि-हृदय प्रकट होता है। उनके वाक्य छोटे-छोटे, प्रवाहपूर्ण तथा सरल और शब्दावली मधुर तथा भाव-व्यंजक होती हैं। उनकी शैली में व्यंग्य और करुणा का अद्भुत मिश्रण है। कहीं-कहीं पर महादेवीजी की भावाभिव्यंजन की शैली आलंकारिक भी हो गई है। उनके कवि-व्यक्तित्व की पूरी छाप उनकी शैली पर है। उनकी गद्य-रचनाओं में अनुभूति की स्फूर्ति, चिन्तनशीलता, मार्मिकता, सुकुमारता, तरलता, सरलता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के गद्य-लेखकों में हैं। उन्होंने संस्कृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहित्य और हिन्दी के भक्ति-कालीन साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है और साथ ही विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पर्क मे आने से उनकी तथा अन्य बँगला लेखकों की कृतियों से भी प्रभावित हुए हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के अध्ययन से निकले हुए निष्कर्षों के प्रकाश में विविध समस्याओं का विवेचन किया है। उनके निबन्ध विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों की कोटि में सरलतापूर्वक रखे जा सकते हैं। द्विवेदीजी ने एक संवेदनशील हृदय पाया है। उनकी रचना शैली में एक उन्मुक्त गति और स्वच्छंदता पाई जाती है। कहीं-कहीं पर तो उसमें भाषण-कला का आनन्द प्राप्त होता है। द्विवेदीजी के निबन्धों से उनकी बहुज्ञता टपकती है। उनकी शैली आगमन-शैली कही जायगी। भाषा की दृष्टि से उनकी वाक्य-रचना सीधी, सरल और प्रवाहपूर्ण है। उनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ, किन्तु सरल है। उसमें तद्भव, देशज और सरल विदेशी (अरबी, फारसी और अँगरेजी) शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदीजी की रुचि मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की ओर जरा कम पायी जाती है। संक्षेप में, उनकी भाषा सुसंगठित, परिष्कृत और विषयानुकूल है।

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास हिन्दी के एक प्रसिद्ध कलाकार-लेखक हैं। उनकी गद्य-शैली पर विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव है। उन्होंने मानव-हृदय की अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना की है। शैली के निर्वाह में राय कृष्णदासजी ने कवि-कल्पना का आश्रय ग्रहण किया है। उनकी भाषा परिष्कृत, व्यावहारिक, प्रौढ़ और काव्य गुणों से समन्वित है। शैली पुष्ट, ललित, प्रसाद गुण-पूर्ण, अलंकृत और कलापूर्ण है।

ललित साहित्य की दृष्टि से लिखित गद्य-साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी में गद्य के माध्यम द्वारा उपयोगी साहित्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है और हो रही है। राजनीति शास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र, भूगोल, इतिहास, समाज शास्त्र, वैद्यक, विज्ञान वाणिज्य-व्यवसाय आदि पर अनेक पुस्तकों के प्रणयन से हिन्दी गद्य समृद्ध हुआ है। उदाहरणार्थ, मेरठ के स्वामी शिवानन्द द्वारा विरचित 'जीवन और सुख' (१९७२) और 'जीवन और अभय' ऐसी दो रचनाएँ हैं जिनमें नैतिक एवं आध्यात्मिक दिशा में और विचार-प्रेरक साहित्य-सर्जन की दृष्टि से हिन्दी गद्य को नया आयाम प्राप्त हुआ है। इन पुस्तकों में रूढ़िवादिता से अलग, वैज्ञानिक संगति के साथ भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों पर बल दिया गया है। ऐसी ही अन्य अनेक गद्य-रचनाओं से हिन्दी गद्य समृद्ध हुआ है।

गद्य-साहित्य के विविध रूप : उपन्यास—१९वीं तथा २०वीं शताब्दी

भारतीय जीवन में कथा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। किन्तु भारतेन्दु काल (१८५०-१९००) में जिस उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ, वह कुछ-कुछ प्राचीन कथाओं के समीप होते हुए भी उससे भिन्न है। उपन्यास-साहित्य जिस रूप में आज है, वह पश्चिमी साहित्य की देन है। जिस समय अनेक पौराणिक कथाएँ, विचित्रता और चमत्कारों से पूर्ण कहानियाँ जनता का मन बहला रही थीं, उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों की ओर ध्यान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिया। उन्होंने स्वयं अनुवाद किए और दूसरों को इस ओर उत्साहित किया। उनके अनुरोध से राधाचरण गोस्वामी, गदाधरसिंह, रामशंकर व्यास, राधाकृष्णदास आदि ने 'दीपनिर्वाण', 'सरोजनी', 'कादम्बरी', दुर्गेशनन्दिनी', 'मधुमती', 'राधारानी' आदि अनेक उपन्यासों की रचना की या उनके अनुवाद किए। स्वयं भारतेन्दु ने कई उपन्यासों का अनुवाद करना चाहा था, किन्तु अपना कार्य वे अपूर्ण छोड़ गए। कहा जाता है कि 'चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश' का अनुवाद कराकर उन्होंने उसे स्वयं शुद्ध किया था। वह मराठी से अनूदित उपन्यास है और 'उसमें वृद्ध-विवाह का अत्यन्त मनोरंजक ढङ्ग से विरोध किया गया है। भारतेन्दु के बाद उपन्यास-क्षेत्र में किशोरी लाल गोस्वामी का नाम उल्लेखनीय है। उनके 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदय-हारिणी', 'लवंगलता' आदि उपन्यासों में राष्ट्र-प्रेम-प्रचार और प्रचलित सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं का मूलोच्छेदन किया गया है। तदनन्तर देवीप्रसाद शर्मा, राधाचरण गोस्वामी, कार्तिकप्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, गोकुलनाथ, राधाकृष्णदास ने उपन्यास-साहित्य की समृद्धि की। इन लेखकों ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण कर शौर्य, प्रेम, चरित्र की उच्चता और कार्य व्यापार की कुशलता का परिचय कराया है। साथ ही सामाजिक कुसंस्कारों के प्रति उन्होंने उदासीनता ग्रहण नहीं की। विषय की दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट ('नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान'), रत्नचन्द प्लीडर, श्रीनिवासदास, लज्जाराम शर्मा तथा कुछ उपर्युक्त लेखकों ने शिक्षाप्रद और नैतिक उपन्यास लिखे। उन्होंने सामाजिक, गार्हस्थ्य आदि जीवन-क्षेत्रों से सम्बन्धित शिक्षा और नीति से पूर्ण उपन्यासों की रचना की। उनसे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। गुण-दोषों का ठीक-ठीक विवेचन करना और नैतिक अनुशासन और जीवन की उन्नति के मार्ग पर ले चलना इन औपन्यासिक कृतियों का अन्तिम ध्येय है। इसी समय देवकीनन्दन खत्री ने अपने तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास प्रकाशित किए। यह प्रवृत्ति वैसे तो पहले से चली आ रही थी, किन्तु देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर बहुत दिनों के लिए वह हिन्दी साहित्य का प्रधान अंग बन गई। इस प्रकार भारतेन्दु काल में जो उपन्यास लिखे गए, उनकी तिलस्मी उपन्यासों को छोड़कर, नैतिकता और शिक्षा सबसे बड़ी विशेषता है। लेखक जनता को अधोगति के गर्त से निकाल कर उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। नैतिकता और शिक्षा के अतिरिक्त उनमें प्रेम-तत्त्व प्रमुख है। किन्तु कला की दृष्टि से यह उपन्यास-साहित्य बहुत उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता। उसकी शैली में पुरानापन है। भारतेन्दु काल में मौलिक औपन्यासिक रचनाओं के अतिरिक्त बँगला, संस्कृत, अँगरेजी आदि की रचनाओं के अनुवाद भी प्रकाशित हुए। अनुवाद उन्हीं रचनाओं के हुए, जो हिन्दी उपन्यासों के पूर्वोल्लिखित दृष्टिकोण को पुष्ट बना सकती थीं। मौलिक या अनूदित सभी प्रकार के उपन्यासों में सत्य का अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया। उनसे समाज सुधार, जातीय गौरव की रक्षा, ऐतिहासिक सत्य, काव्य, दर्शन और मनुष्यत्व को प्रश्रय मिलता है। बँगला उपन्यासों के अनुवादों से हिन्दी में अनेक नवीन शब्दों, मुहावरों और वाक्यों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रचार हुआ। साथ ही उनसे अतिरंजना, संस्कृत पदावली और कोमल तथा सुकुमार भावनाओं और कल्पनाओं को प्रश्रय मिला।

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी उपन्यास साहित्य का अत्यन्त तीव्रगति से विकास हुआ। यह कहना अनुचित न होगा कि वर्तमान समय में उपन्यास नाटक और कविता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। बीसवीं शताब्दी की उपन्यास कला, विषय और उपादान तीनों दृष्टियों से उन्नीसवीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध) के उपन्यासों की अपेक्षा अधिक उन्नत है। उपन्यास कथा मात्र न रहकर कथोपकथन से भी सुसज्जित हुए। उपन्यासकारों ने रीति-परम्परा के अनुकरण पर प्रेम, मान, अभिसार आदि को स्थान दिया और पारसी थिएटरों ओर उर्दू-काव्य का अनुसरण किया। किन्तु कला की दृष्टि से वास्तविक विकास उस समय हुआ जब कि लेखक मनोविज्ञान और बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष का आश्रय ग्रहण कर उन्पयास रचना में प्रवृत्त हुए। अब तक के उपन्यासों में केवल अलौकिक घटनाएँ ही प्रधान रहती थीं। अब मानव मन और मानव जीवन का स्वाभाविक चित्रण होने लगा। इस नवीन पद्धति के उपन्यासों का श्रीगणेश प्रेमचन्द के उपन्यासों से होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास लेखक कथावाचक की भाँति श्रोताओं और पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कथा कहता चला जाता था। बीसवीं शताब्दी में वह श्रोताओं और पाठकों का ध्यान रखे बिना कथा कहते चला जाता है। उपन्यास सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण और तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान आदि अनेक प्रकार के लिखे गए। इस प्रकार के उपन्यासकारों में अन्य अनेक के अतिरिक्त, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द ('वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम' 'निर्मला', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि), चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ('मंगल प्रभात') लज्जाराम शर्मा, गोपालराम गहमरी, वृन्दावनलाल वर्मा ('गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'झाँसी की रानी—लक्ष्मीबाई', 'मृग-नयनी' आदि), जैनेंद्रकुमार ('परख', तपोभूमि', 'सुनीता', त्याग-पत्र' आदि), विशम्भरनाथ कौशिक ('माँ', 'भिखारिणी' आदि), चतुरसेन शास्त्री ('हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा,' 'आत्मदाह', 'वैशाली की नगरवधू' आदि), प्रतापनारायण श्रीवास्तव ('विदा', 'विजय' आदि), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ('दिल्ली का दलाल', 'बुचुआ की बेटी' आदि), ऋषभचरण जैन ('भाई', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'सत्याग्रह', 'बुर्दाफरोश' आदि), इलाचन्द्र जोशी ('संन्यासी', 'पर्दे की रानी,' 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'जिप्सी, आदि), 'अज्ञेय' ('शेखर—एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' आदि), यशपाल ('दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या' आदि), भगवतीचरण वर्मा ('पतन', 'तीन वर्ष', 'चित्रलेखा', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'भूले बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा'. 'सीधी-सच्ची बातें' आदि, सियारामशरण गुप्त ('नारी'), जयशंकर 'प्रसाद' ('तितली' और 'कंकाल'), उषादेवी मित्रा, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसके साथ सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों का भी जन्म हुआ। उपन्यास लेखकों ने जमींदारों के अत्याचार, दरिद्र किसान, अँगरेज शासकों की आर्थिक नीति और उसके भीषण परिणाम, नागरिक जीवन, नारी-समस्या, समाज में खान-पान का व्यवहार, विवाह-प्रथा, शिक्षा आदि अनेक विषयों के आधार पर उपन्यासों का निर्माण किया। प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', जैनेन्द्रकुमार, 'प्रतापनारायण श्रीवास्तव' आदि ने अपने सामाजिक उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं। सामाजिक परिस्थितियों से बाहर भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की चिरंतन समस्या की मीमांसा की। लेखकों ने गार्हस्थ्य और पारिवारिक जीवन के भी मार्मिक वर्णन किए—विशेष रूप से यूरोपीय आचार-विचार और भारतीय पद्धति के बीच संघर्ष के। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ भारतीय इतिहास का भी पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा। बँगला में राखालदास वंद्योपाध्याय ने मार्ग-प्रदर्शन किया था। हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा ही एक उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक हैं। उनकी 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि अत्यन्त सुन्दर औपन्यासिक कृतियाँ हैं।

किन्तु इस समय उपन्यास का पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप प्रेमचन्द ही लेकर आये जिसकी अन्तिम परिणति उनके 'गोदान' (१९३६) नामक उपन्यास में मिलती है। प्रेमचन्द के 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गबन' आदि अन्य उपन्यास हैं। 'गोदान' किसान जीवन का महाकाव्य है और उसमें प्रेमचन्द अपने पूर्वनिर्धारित मार्ग से कुछ अलग हट गये हैं। नायक होरी की असफलता भी उसे गौरव और दृढ़ता प्रदान करती है। प्रेमचन्द में अद्वितीय वर्णनात्मक शक्ति है और वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव-स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन करते हैं। उन्होंने अपनी कथाओं के उपकरण जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों से जुटाए हैं। साहित्य के क्षेत्र में वे अपने को मजदूर ही समझते रहे। वे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अनीतियों का विरोध करते हुए मनुष्यत्व को सर्वोपरि वस्तु मानते थे। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित पद-दलितों की हिमायत की। ग्रामीण जीवन तो जैसे उनके अपने जीवन का अभिन्न अङ्ग था और नागरिक जीवन की अपेक्षा वे उसे अधिक स्वस्थ और आत्मबल-संपन्न मानते थे, यद्यपि वे यह भी मानते थे कि स्वच्छता, शिक्षा आदि की दृष्टि से ग्रामीणों को भी नगर-निवासियों से बहुत कुछ सीखना है। साथ ही गाँधी युग की 'Back to the villages' वाली भावना भी उनमें कार्य कर रही थी। इन्हीं कारणों से वे अपने उपन्यासों में दुहरे कथानक रखते थे। उन्होंने तीव्र अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रत्येक समस्या का विश्लेषण किया और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया। इस समय 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' (१९२९) और 'तितली' (१९३२-३४) उपन्यासों की रचना की। 'कंकाल' के पात्र समाज द्वारा ठुकराए हुए और दलित पात्र हैं, किन्तु लेखक ने इन पात्रों में भी हृदय की महानता प्रदर्शित की है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी ने देश का समस्त धार्मिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और सामाजिक पाखण्ड और भ्रष्टाचार बटोरकर रख दिया है। वे हमारे विचारों को उत्तेजना प्रदान करते हैं। 'तितली' में उन्होंने ग्राम-समाज की ओर दृष्टिपात किया है। उसमें भी लेखक की अनुभूति अत्यन्त हृदयस्पर्शी रूप में हमारे सामने आती है। उसमें हमारे गाँवों के सब पहलू उनके यथार्थ चित्रण के भीतर से फूट पड़े हैं। उसमें मनुष्यता के विकास और लेखक की विदग्धता का और भी अधिक परिचय मिलता है। भगवती प्रसाद वाजपेयी पर प्रारम्भ में प्रेमचन्द का पूर्ण प्रभाव था, किन्तु शीघ्र ही उनके उपन्यासों में मनोविज्ञान की प्रमुखता होने लगी। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में मनोविज्ञान के साथ-साथ दर्शन का पुट रहा है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' के बाद हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नये-नये मार्गों का सृजन हुआ। ग्रामीण जीवन का चित्रण तो उनमें है ही, किन्तु अन्य क्षेत्रों से भी उपकरण जुटाए गये हैं। किसानों के साथ-साथ मध्य-वर्ग और मजदूर जीवन की आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं की ओर उपन्यास-लेखकों का ध्यान गया है। 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' में राजनीतिक दृष्टि से आतंकवादी और जीवन में व्यक्तिवादी नायक शेखर की जीवनी के बिखरे हुए सूत्र विश्लेषण-सहित एकत्र किए हैं। बौद्धिकता के आधार पर उसमें उच्च मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ है और शैली की दृष्टि से यह उपन्यास अन्य उपन्यासों से भिन्न है। उनके 'नदी के द्वीप' में नर-नारी से सम्बन्धित जीवनानुभूतियों का एकीकरण है और पात्र अभिजात है। यशपाल ने भी अपने पात्र मध्य वर्ग से लिये हैं। वे साम्यवाद से प्रभावित लेखक हैं और जीवन की विविध परिस्थितियों का स्वाभाविक वर्णन करते हैं। इस काल के उपन्यासों में बहुत कम लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि में व्यक्ति के मन का विश्लेषण किया हो। वे अधिकतर व्यक्ति की निस्संग मानसिक ऊहापोह को लेकर चले हैं। इस प्रकार के लेखकों में इलाचन्द्र जोशी का नाम अग्रगण्य है। मनोविश्लेषण के आधार पर वे सुशिक्षित और मानसिक दृष्टि से विकारग्रस्त व्यक्ति का चित्रण करते हैं। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'जिप्सी', 'भूत का भविष्य' आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इतिहास की परिधि में बाँध कर कथा-सूत्र का विकास करने वाले लेखकों में वृन्दावन लाल वर्मा के अतिरिक्त आधुनिक समय में राहुल सांकृत्यायन की कृतियों पर पूर्ण रूप से बीसवीं शताब्दी की छाप है। हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारुचन्द्र लेख' 'पुनर्नवा' आदि भी सफल उपन्यास हैं। अनेक नवीन लेखकों और लेखिकाओं ने मध्यवर्गीय नारी की सीमाओं और विशेषताओं को भी अंकित किया है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में फिर गाँवों की ओर दृष्टिपात किया गया है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का जवाब रांगेय राघव ने 'सीधे-सादे रास्ते' लिखकर उपस्थित किया है। वर्माजी का 'आखिरी दाँव' एक जुआरी की निष्फल प्रेम-कहानी है। इधर उनके और कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास-लेखकों ने युग-सत्य ग्रहण कर प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है और जीवन की युगीन ऐतिहासिक अभिव्यक्तियाँ उनकी कृतियों में सुस्पष्ट रूप से मिलती हैं। वास्तव में पिछले लगभग बीस वर्ष भारत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। सन् १९४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, भूख, निर्धनता, साम्यवाद, पूँजीवाद, आदि विषय यशपाल, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, रांगेय राघव, 'अज्ञेय' अमृतलाल नागर आदि के उपन्यासों और कहानियों में मिलते हैं।

हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की संख्या मौलिक उपन्यासों की संख्या से किसी प्रकार भी कम नहीं रही। बंकिमचन्द्र, प्रभात मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, शरद्चन्द्र आदि के बँगला उपन्यासों तथा मराठी, गुजराती, उर्दू, अँगरेजी, रूसी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद किये गये हैं और किये जा रहे हैं। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अभी बहुत पुराना नहीं है। किन्तु थोड़े से समय में ही उसने बहुत उन्नति की है और कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक जीवन की अनेक जटिल समस्याओं के सुलझाने में वह सहायक सिद्ध हो रहा है।

कहानी : जन्म और परिभाषा

अनादि काल से मनुष्य विविध साधनों द्वारा अपने हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति करता चला आता है। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, कविता आदि ऐसे ही साधन हैं। बाह्य जगत् जब मनुष्य के हृदय-रस में पगकर दो या दो से अधिक हृदयों में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है तो साहित्य और कला की सृष्टि होती है। प्रारम्भ में साहित्य और काव्य में कोई भेद उपस्थित नहीं किया जाता था। कालान्तर में गद्य के विकसित होने से काव्य को ही गद्य-काव्य और पद्य-काव्य में विभाजित किया जाने लगा और गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ (चम्पू) भी निर्मित होने लगीं। गद्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि को स्थान मिला। अन्य साहित्य-रूपों की भाँति, कहानी की परिभाषा देना भी कठिन कार्य है। कुछ लोग कहानी को उपन्यास का छोटा रूप समझते हैं, किन्तु यह भ्रम है। कहानी एक भिन्न और सर्वथा स्वतन्त्र साहित्य-रूप है। कहानी और उपन्यास में बाह्य दृष्टि से कुछ समानता भले ही हो, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में भेद है।

आख्यायिका, उपाख्यान, रेखाचित्र, 'रिपोर्ताज'

प्राचीन काल में 'कथा' शब्द का प्रयोग या तो साधारण कहानी के अर्थ में हुआ अथवा अलंकृत काव्य-रूप के अर्थ में। पहले अर्थ के अन्तर्गत पंचतंत्र की कथाएँ, महाभारत और अन्य पुराणों की कथाएँ, गुणाढ्य की बृहत्कथा, सुबाहु की वासवदत्ता, बाण की कादम्बरी आदि सभी कथाएँ हैं। दूसरे अर्थ में वह भामह और दण्डी द्वारा संकेतित अलंकृत गद्य-काव्य ही कहा जा सकता है और जिसकी परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में) और जो आगे भी चलती रही। 'रासो' में, विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' में, तुलसी कृत 'मानस' में भी कथाएँ हैं। वास्तव में 'कथा' शब्द का यह बहुत व्यापक प्रयोग है। वह व्यक्तियों के वार्तालाप के रूप में भी रह सकती थी। भामह ने 'आख्यायिका' को गद्य में लिखी गई एक ऐसी सरस रचना कहा है, जो उच्छ्वासों में विभक्त होती थी, वक्त्र, और अपवक्त्र छन्द-युक्त होती थी, स्वयं नायक द्वारा कथित होती थी और उसमें कन्या का अपहरण,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युद्ध, नायक-विजय आदि बातें रहती थीं। कथा में ये सब बातें नहीं पाई जातीं। दंडी ('काव्यादर्श' १।२३-२८) ने कथा और 'आख्यायिका' का यह भेद स्वीकार नहीं किया। किन्तु रुद्रट ('काव्यालंकार') ने मंगलाचरण, कवि-परिचय, प्रासंगिक कथाओं सहित सरल तथा परस्पर वार्तालाप द्वारा कही गई कथा ही 'कथा' मानी है। आचार्यों ने कथा की काल्पनिकता ('कादम्बरी') और आख्यायिका की ऐतिहासिकता ('हर्ष-चरित') की ओर भी संकेत किया है, अर्थात् कथानक-संगठन, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से कथा में रस-निष्पत्ति प्रधान मानी गई। कथाओं की श्रोता-वक्ता-योजना मिलती अवश्य है, किन्तु सभी कथाओं में इसका पालन किया गया हो, ऐसी बात नहीं है ('पद्मावत')। कथा के छोटे रूप को ही 'कहानी' (कथनिका) कहा जा सकता है विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' ('काहाणो')।

सामान्यतः प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों, जातकों आदि में जो कथाएँ हैं उन्हें उपाख्यान कहा जाता है और उपाख्यान को ही अथवा उसके अन्तर्गत छोटे-छोटे प्रसंगों को 'आख्यायिका' भी कहते हैं। इन उपाख्यानों या आख्यायिकाओं का उद्देश्य मनोरंजन न होकर धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करना था। उसमें अनेक अस्वाभाविक और अतिशयोक्तिपूर्ण बातें रहती थीं, दैवी घटनाओं का बाहुल्य रहता था। 'कादम्बरी' 'दशकुमार-चरित' आदि रचनाएँ उन्हीं कथाओं के साहित्यिक रूप हैं, जिनमें लेखकों ने भाषा, शब्द तथा अन्य साधनों द्वारा साहित्यिक सौंदर्य उत्पन्न किया है। भारतीय कथा-साहित्य में उपाख्यान या आख्यायिका उसके विकास का प्रथम चरण है और सैद्धांतिक दृष्टि से ये दोनों कहानी से भिन्न हैं। रेखाचित्र भी कहानी से भिन्न होता है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में रेखाचित्र बहुत प्रकाशित होते हैं। रेखाचित्र को 'शब्द-चित्र' भी कहा जाने लगा है। रेखाचित्र में कोई कथानक या कोई घटना नहीं होती, उसमें कहानी की तरह कुतूहल या चरम सीमा का कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो लेखक अपनी किसी विशेष दृष्टि से किसी के साधारण व्यक्तित्व को द्रुत गति से उभारकर पाठकों के सम्मुख रख देता है। हिन्दी में 'प्रसाद' ('मधुआ'), श्रीराम शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महादेवी वर्मा आदि ने सुन्दर रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं। रेखाचित्र के साथ-साथ हिन्दी में एक और शब्द प्रचलित हो गया है, जिसे 'रिपोर्ताज' (फ्रेंच शब्द है) कहते हैं। हिन्दी में उसे 'प्रसंग-चित्र' नाम दिया गया है। किसी घटना, युद्ध, भूचाल आदि के मनोरंजक विवरण का नाम 'रिपोर्ताज' है। उसमें लेखक का निजी व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही प्रधान रहता है और साथ ही उसमें व्यंग्य का पुट रहता है। 'अज्ञेय', रांगेय राघव, अमृतलाल नागर आदि ने कई 'रिपोर्ताज' लिखे हैं, जो 'हंस' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

कहानी और उपन्यास

प्रारंभ में कहानी और उपन्यास में कोई अन्तर नहीं समझा जाता था। किन्तु ज्यों-ज्यों कहानी-कला का विकास होता गया, त्यों-त्यों दोनों को अलग-अलग समझा जाने लगा। कहानी ने अपने उपकरण जुटाए और अब उसकी स्वतन्त्र सत्ता समझी जाने लगी है। ऐसा विवरण जिसमें किसी व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व और मानस-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापार का रहस्योद्घाटन उसके जीवन की घटनाओं और क्रियाओं अर्थात् उसके सामाजिक परिवेश को लेकर हो, वह कहानी है। उपन्यास के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। कहानी गद्य में भी हो सकती है और पद्य में भी। किन्तु कहानी के आवश्यक तत्त्व गद्य के माध्यम से ही उभरते हैं। और फिर, आधुनिक कहानी का तो जन्म ही गद्य के माध्यम से हुआ है। कहानी और उपन्यास में आकार का अन्तर तो स्पष्ट है। विशेषतः आज के संघर्षपूर्ण युग में अवकाश की कमी के कारण कहानी की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। आकार का यह भेद तात्त्विक नहीं, वरन् समय या परिस्थिति से उत्पन्न हुआ है। वास्तव में दोनों में प्रकार का भी अन्तर है। कहानी मानव-जीवन की एक झलक मात्र है और उपन्यास जीवन का एक विशद चित्र। कहानी किसी एक घटना को लेकर चलती है, उपन्यास में घटनाओं का बाहुल्य रहता है। कहानी में पात्रों की संख्या बहुत कम रहती है, उपन्यास में अधिक। उपन्यासों में कथानक का होना अनिवार्य है। आधुनिक कहानी में कथानक होना आवश्यक होते हुए भी अनिवार्य नहीं है, लेखक उसमें एक प्रभाव मात्र की सृष्टि करता है। कहानी में केवल एक ही कथा होती है, प्रासंगिक कथाएँ नहीं होतीं। उसमें जीवन का व्यापक वर्णन नहीं, वरन् जीवन के किसी अंग-विशेष पर प्रकाश डाला जाता है। वह दृश्य-चित्रण (landscape painting) न होकर एक स्नैपशॉट मात्र है। कहानीकार जीवन के किसी एक कोने में झाँकता है। कहानी में विशद चरित्र-चित्रण नहीं होता; कहानी लेखक तो चरित्र के किसी एक पक्ष-विशेष को ही स्पर्श करता है। बहुत-सी कहानियों में तो चरित्र होता ही नहीं। उपन्यास में चरित्र-चित्रण के लिए व्यापक क्षेत्र है। इसी प्रकार शैली की दृष्टि से कहानीकार किसी भी प्रकार के विस्तृत वर्णन में संलग्न नहीं हो सकता। उपन्यासकार के लिये ऐसा नियंत्रण नहीं है। कहानी की शैली बहुत गठी हुई होनी चाहिये। थोड़े में बहुत कहना कहानीकार की विशेषता है। आधुनिक कहानी में प्रभाव की अन्विति (unity of impression) बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो विशेष साधनों द्वारा सम्पन्न होती है। कहानी में कल्पना का योग भी रह सकता है और उपन्यास तो यथार्थ-सापेक्ष होता ही है। आदर्श या उद्देश्य की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास में अन्तर होता है। उपन्यास की विविध घटनाओं और पात्रों से हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। कहानी के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती; उसमें तो प्रभाव ही प्रधान होता है। शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी निबन्ध, एकांकी आदि के समीप है। इसके अतिरिक्त कहानीकार उत्सुकता, बहुत कम पात्रों, बहुत कम चरित्रों, बहुत कम घटनाओं एवं प्रसंगों द्वारा कथानक, चरित्र, प्रभाव, वातावरण आदि की सृष्टि करता है। व्यर्थ की बातों या कथोपकथन का उसमें कोई स्थान नहीं होता। वास्तव में कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौड़ना है।

कहानी, एकांकी और नाटक

जीवन के केवल किसी एक कोने में झाँकने, उत्सुकता और कुतूहल, प्रभाव की अन्विति, संक्षिप्ति, स्वाभाविक तथा व्यावहारिक कथोपकथन, घटनाओं की नाटकीयता, चरम सीमा आदि की दृष्टि से कहानी एकांकी नाटक के बहुत समीप है। इतना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवश्य कहा जा सकता है कि कहानी में दृश्य-परिवर्तन एकांकी की अपेक्षा अधिक सम्भव है। कहानी में पात्र आत्म-विश्लेषण भी कर सकता है। एकांकी में यह सम्भव नहीं, क्योंकि वह कार्य-प्रधान होना चाहिए। घटना, कथोपकथन, मार्मिक दृश्यों का चित्रण, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण, चरम सीमा आदि की दृष्टि से कहानी और अनेकांकी नाटक में समानता है। कहानी में भी नाटकीयता विद्यमान रहती है। किन्तु चरित्र-चित्रण और कथानक-विस्तार, अंक-विभाजन, आत्म-विश्लेषण आदि की दृष्टि से कहानी और अनेकांकी नाटक में अन्तर है। कुछ पाश्चात्य आलोचकों का मत है कि कहानी उपन्यास की अपेक्षा नाटक से अधिक सम्बन्धित है। नाटक एकांकी हो या अनेकांकी, उसकी अपनी सीमाएँ हैं दोनों रूप कुछ नियमों के बन्धनों से जकड़े रहते हैं—घटना-विस्तार, चरित्र-चित्रण, प्रभाव, समय और स्थान की दृष्टि से। वास्तव में कहानी को उपन्यास और नाटक के बीच में रख सकते हैं।

कहानी, कविता और निबन्ध

कहानी में पाठक का ध्यान घटना की ओर होता है, कविता में भावों की ओर। कविता में हम भावों में रम जाते हैं। कविता का आनन्द उठाने के लिए मानसिक परिष्कार की आवश्यकता होती है। कहानी के लिए यह उतना आवश्यक नहीं है। कहानी सरल होती है। रचना, भाव-विधान आदि की दृष्टि से कविता कुछ दुरूह होती है। इसी प्रकार कल्पना, आदि-अंत, संक्षिप्ति, प्रभाव, स्वाभाविकता आदि की दृष्टि से कहानी और निबन्ध में समानता है किन्तु निबन्धकार कुछ-कुछ विचारात्मकता की ओर झुका रहता है।

हिन्दी में कहानी

हिन्दी में आधुनिक कहानी के प्रारम्भ और विकास का पूर्ण श्रेय द्विवेदी-युग (१९००-१९२५) को है। कहानियों का प्रारम्भ १९०० में 'सरस्वती' मासिक पत्र से होता है। प्रारम्भ में अंगरेजी और संस्कृत कथाओं के कहानी-रूपान्तर प्रकाशित हुआ करते थे। धीरे-धीरे सामयिक जीवन में घटित होनेवाली साधारण घटनाओं के आधार पर कहानियों का निर्माण होने लगा। साथ ही कल्पना पर आधारित कहानियों की सृष्टि भी हुई। इस प्रकार प्रारम्भ से ही हिन्दी में यथार्थवादी और कल्पना-प्रसूत कहानियाँ लिखी जाने लगीं। ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'कौशिक', प्रेमचन्द, सुदर्शन आदि यथार्थवादी सम्प्रदाय के लेखक हैं और जयशंकर 'प्रसाद', हृदयेश' आदि कल्पना-प्रसूत कहानियों के लेखक हैं। प्रारम्भिक कहानियों में दैवी घटनाओं और संयोग को प्रमुख स्थान दिया जाता था। किन्तु प्रेमचन्द ने उनके स्थान पर यथार्थ घटनाओं, सामाजिकता आदि पर जोर दिया और इस प्रकार उन्होंने कहानी-कला को उन्नति-पथ पर अग्रसर किया। बहुत दिनों तक कहानी का यही रूप हिन्दी में प्रचलित रहा। किन्तु शीघ्र ही कहानियों में लेखक पुराण-कथाओं और रूपक-कथाओं के सहारे किसी सत्य के उद्घाटन में प्रवृत्त हुए। कहानियों के प्रकारों में भी विविधता उत्पन्न हुई और चरित्र-प्रधान (कौशिक कृत 'ताई'), वातावरण-प्रधान (प्रेमचंद कृत 'शतरंज के खिलाड़ी'), कथानक-प्रधान (कौशिक कृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'पावन पतित'), कार्य-प्रधान (जासूसी या वैज्ञानिक आविष्कार-सम्बन्धी कहानियाँ), प्रतीकवादी (राय कृष्णदास कृत 'कला और कृत्रिमता'), हास्य-प्रधान आदि प्रकारों की कहानियाँ लिखी गईं और उनके लिए वर्णनात्मक, संभाषणात्मक, पत्र, डायरी आदि विभिन्न शैलियाँ अपनाई गईं। कहानी-लेखकों में प्रेमचन्द, राधिकारमण प्रसाद सिंह, 'कौशिक', जयशंकर 'प्रसाद', जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'हृदयेश', विशम्भरनाथ जिज्जा, गोविन्दवल्लभ पन्त, भगवतीचरण वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, चतुरसेन शास्त्री, 'उग्र', 'अज्ञेय', यशपाल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द आदि ने हास्य रस-सम्बन्धी कहानियाँ भी लिखी हैं, किन्तु उनमें उच्च कोटि के कला के दर्शन नहीं होते।

प्रमुख कहानीकार : प्रेमचन्द

प्रेमचन्द ने हिन्दी को तीन-सौ के लगभग कहानियाँ दी हैं। कहानियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियो में वर्णनात्मक और घटनाओं को प्राधान्य मिलता है। उनमें चरित्रगत रहस्योद्घाटन नहीं है। धीरे-धीरे प्रेमचन्द की कहानियों में भाषा और कला का और परिष्कृत तथा प्रौढ़ रूप मिलने लगा और वे चरित्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन करने लगे। उन्होंने कहानियों के कथानक सामाजिक, राजनीतिक, ग्रामीण, ऐतिहासिक आदि विविध और व्यापक क्षेत्रों से लिए हैं। राष्ट्रीयता और आदर्श उनकी कहानियों मे ओतप्रोत हैं। प्रेमचन्द ने घटना-प्रधान वातावरण प्रधान, ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी। उन्होंने मानव-जीवन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और अनेक प्रसंगों और परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। उनमें रमणीयता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण मिलता है। मानव-स्वभाव के मार्मिक चित्र उनकी कहानियों में मिलते हैं। विषय-विस्तार के साथ-साथ कहानियों के प्रकारों और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द का क्षेत्र व्यापक है। चरित्र-चित्रण करते समय उन्होंने मानवी विशेषताओं की ओर ध्यान दिया है। चरित्र-चित्रण की कला में तो वास्तव में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। ऐतिहासिक कथावस्तु के संगठन में भी उन्हें सफलता मिली है। संवेदनशीलता ही उनकी कला की विशेषता है। उन्होंने पश्चिम से कहानी का ढाँचा लिया, उर्दू से एक चुस्त और धारावाहिक शैली ली और अपने चारों ओर के जीवन में प्रेरणा ली। कथोपकथनों से उनके पात्रों के चरित्र पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वे स्वाभाविक और व्यावहारिक हैं। भाषा के कारण उनकी कहानियों में और भी सजीवता आ जाती है। चुस्त मुहावरों और लोकोक्तियों से समन्वित चित्रोपम, प्रसाद गुण-युक्त और सजीव भाषा ने उनकी कहानी-कला में चार चाँद लगा दिए हैं। प्रेमचन्द यथार्थवादी-आदर्शवादी लेखक हैं। (रचनाएँ—'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रेम-द्वादशी', 'प्रेम-प्रतिभा', 'सप्त सुमन' आदि। 'मानसरोवर' में उनकी लगभग सभी कहानियाँ संगृहीत हैं।)

सुदर्शन

सुदर्शन ने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ अधिक लिखी हैं। उनकी कहानियाँ बड़े शान्त और गम्भीर ढंग से आगे बढ़ती हैं। उत्सुकता और कुतूहल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनकी कहानियों में विशेष रूप से पाया जाता है। उनकी दृष्टि मानव-जीवन के साधारण पहलुओं की ओर गई है। उनकी कला का वास्तविक रूप हमें उनकी वातावरण-प्रधान कहानियों में मिलता है जिनमें वे मनुष्य के सूक्ष्म मानसिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उन्होंने पुराण-शैली में सामयिक सत्यों की व्यंजना भी की है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे प्रेमचन्द के समीप हैं—यथार्थ से आदर्श की ओर। उनके कथोपकथन सुन्दर और स्वाभाविक हैं और भाषा व्यावहारिक। (रचनाएँ—'परिवर्तन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थ-यात्रा', 'फूलवाली', 'चार कहानियाँ', 'पनघट' आदि)।

'प्रसाद'

कहानी-लेखकों में 'प्रसाद' जी का अपना विशेष स्थान है। उन्होंने अपनी कहानियाँ राष्ट्रीयता और सुधारवाद से प्रेरित होकर नहीं लिखीं। उनकी कहानियाँ अधिकतर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित रहती हैं। उनकी कहानियाँ प्रायः भाव-प्रधान और कल्पना-प्रधान होती हैं और वह पाठकों के हृदय को अधिक स्पर्श करती हैं, बुद्धि को नहीं। उनकी कहानियों में मनुष्य का हृदय अधिक प्रस्फुटित हुआ है, उसका बाह्य जीवन नहीं। कवि होने के नाते उनकी अनेक कहानियों में काव्यत्व भी आ गया है और भाषा, प्रकृति का मानवीकरण आदि विशेषताएँ भी उनकी कविताओं के अनुरूप हो गई हैं। कथा-भाग उनकी कहानियों में कम रहता है। वास्तव में 'प्रसाद' आंतरिक सौंदर्य पर जोर देनेवाले कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों का वातावरण अद्भुत कवित्व-शक्ति से ओतप्रोत रहता है। 'प्रसाद' जी ने कुछ घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और ऐतिहासिक तथा यथार्थवादी कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी सब प्रकार की कहानियों में खण्ड-काव्य का आनन्द आता है। विविध प्रकार की परिस्थितियों में अनेक पात्रों का चरित्र प्रस्फुटित होता है। नाटकीयता उनकी अपनी विशेषता है। वास्तव में अपनी कहानियों में भी वे अपना कवि और नाटककार का रूप छोड़ नहीं सके हैं। नाटककार होने के कारण उनके कथोपकथनों में नाटकीय सौन्दर्य और अर्थ-गांभीर्य मिलता है। साथ ही उनसे घटना-विकास और पात्रों के चरित्र-विकास पर भी प्रकाश पड़ता है। उत्सुकता और कुतूहल द्वारा वे कहानी का सौंदर्य बढ़ा देते हैं। शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि की दृष्टि से उनकी भाषा में सौष्ठव और परिमार्जन है। (रचनाएँ—'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी'; 'इन्द्रजाल', और 'छाया'।)

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने जीवन में तीन ही कहानियाँ लिखीं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसनें कहा था'। किन्तु अंतिम कहानी ही उनकी कीर्ति का प्रधान स्तम्भ है। यह कहानी चरित्र-प्रधान कहानी है और निःस्वार्थ प्रेम, आत्म-त्याग, बलिदान और वीरता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। इस कहानी को अच्छी तरह समझने के लिए उसका प्रारम्भिक भूमिका भाग पहले समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रधान पात्र लहनासिंह के चरित्र की कुंजी और सम्पूर्ण कहानी के वातावरण का मूल इसी भाग में है। कथानक का विकास उत्तरोत्तर स्वाभाविक ढंग से होता है, उसमें नाटकीयता है, प्रभाव-ऐक्य है, घटनाओं की सुसम्बद्ध शृङ्खला है, उत्सुकता और कुतू-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हल है, और सुन्दर प्रभावोत्पादक चरम सीमा है। पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय लेखक को अपनी ओर से कुछ नहीं कहना पड़ता। विविध परिस्थितियों के बीच पड़कर अपने कथोपकथन से वे अपने चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। लहनासिंह का चरित्र-चित्रण निर्दोष और साथ ही कलात्मक है। वह मानवता की उच्च भूमि पर स्थित है। वह संवेदनशील, वीर, निर्भय निःस्वार्थी, देश-प्रेमी, कर्त्तव्य-परायण और त्याग-भावना से ओतप्रोत है। उसकी वीरता यूरोपीय Chivalry की याद दिलाती है। गुलेरीजी ने उसके चरित्र द्वारा एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। इस कहानी का कथोपकथन अत्यन्त कलात्मक, स्वाभाविक, संक्षिप्त, परिस्थिति के अनुकूल और भावात्मक है। भाषा सरल, मुहावरेदार, आडम्बरहीन और प्रभावोत्पादक है। कहानी में शृङ्गार और वीर रस का निष्कलंक और शुद्ध निरूपण हुआ है।

'कौशिक'

'कौशिक' ने अधिकतर घटना-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं और वे घटनाएँ दैनिक, सामाजिक या पारिवारिक जीवन से लेते हैं। पारिवारिक जीवन के उन्होंने बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। किन्तु उनकी कुछ कहानियाँ चरित्र-प्रधान भी हैं, जैसे 'ताई', जिसमें वे प्रभावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चरित्र-परिवर्तन उपस्थित करते हैं। अधिकतर उन्होंने कुरीतियों और कुप्रथाओं का चित्रण किया है। उनकी कहानियों के पात्र ऐसे चरित्र का उद्घाटन करते हैं, जो मानवीय होते हुए भी एकदम नवीन प्रतीत होता है। कथोपकथन द्वारा वे पात्र की मानसिक परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। उनके कथोपकथन संक्षिप्त, स्वाभाविक और भावों के अनुकूल होते हैं। भाषा उनकी साफ-सुथरी मुहावरेदार है। 'कौशिक' आदर्शवाद की ओर झुके हुए कहानीकार हैं। (रचनाएँ—'गल्प-मन्दिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम-प्रतिज्ञा', 'कल्लोल' आदि।)

'उग्र'

'उग्र ने राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्य को लेकर कहानियाँ लिखी हैं और पुराण-शैली में अनेक सामयिक तत्त्वों की अभिव्यंजना की है। उनके पात्र सजीव, सशक्त और आकर्षक होते हैं और कथोपकथन सरल, संक्षिप्त और स्पष्ट। भाषा उनकी हृदय की चुटकी लेनेवाली, वक्र और स्वच्छन्द होती है। कहानीकार की अपेक्षा 'उग्र' एक भाषा-शैलीकार अधिक हैं। (रचनाएँ—'चिनगारियाँ', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्ज' आदि।)

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री भी हिन्दी के पुराने कहानी-लेखक हैं और उन्होंने अनेक कहानियाँ समाज की जीर्णशीर्ण अवस्था को प्रकाश में लाने के लिए लिखीं। उनकी कहानियाँ छोटी, आकर्षक, कुतूहलपूर्ण, हृदय को गुदगुदाने वाली और मानव-हृदय के रहस्यों का उद्घाटन करनेवाली होती हैं। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं और उनमें वातावरण से पूर्ण कथानक की सृष्टि कर अनुपम सौंदर्य उपस्थित किया है। शास्त्रीजी के पात्रों में स्वतन्त्रता है। लेखक ने उनके मनोभावों को समझने की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेष्टा की है। उनमें अद्भुत वर्णन-शक्ति है। तद्भव शब्दों, मुहावरों, व्यावहारिकता आदि गुणों से सम्पन्न उनकी भाषा उनके कथोपकथन में जान डाल देती है। (रचनाएँ—'अक्षत', 'रजकण' आदि।)

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास भाव-प्रधान कहानियाँ लिखने में पटु हैं। उनकी कहानियों पर उनके गद्य-गीतों का प्रभाव है—भाव-भाषा और शैली की दृष्टि से। उनकी कहानियाँ ऐतिहासिक और सामाजिक सामग्री पर आधारित हैं। राय साहब ने पात्रों का मन टटोला है और उसकी दार्शनिक व्याख्या की है, जिससे उनकी कहानियों में कुछ दुरूहता आ जाती है। कथोपकथन और प्राकृतिक चित्रणों में उन्होंने क्रमशः स्वाभाविकता और चित्रोपमता को स्थान दिया है। उनकी भाषा संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली से समन्वित है। (रचनाएँ—'सुधांशु', 'अनाख्या', आदि।)

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र कुमार एक दार्शनिक और विचारक कहानी-लेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रायः मध्यम वर्ग की मनोवैज्ञानिक असंगतियाँ और कमज़ोरियाँ परखी हैं। वे व्यक्ति पर जोर देकर उसके मन का विश्लेषण करते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण उनकी कुछ कहानियों में दुरूहता और अस्पष्टता का आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय-सामग्री अधिकतर वे अपने आस-पास के जीवन से ही लेते हैं। फलतः उनकी कहानियों के कथानकों का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है। उनकी कहानियों में मनोरम खण्ड-दृश्य हैं, जिनमें वे किसी-न-किसी एक केन्द्रीय भावना को स्थान देते हैं। इसी आस-पास के जीवन को वे साधारण परिस्थिति में रखकर उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। चरित्र-प्रधान कहानी लिखने में जैनेन्द्र जी कुशल हैं। उनकी कहानियाँ पढ़कर मानव-जीवन की तह में क्या है, यह समझने की उत्सुकता होती है। जैनेन्द्रजी के कथानक चुस्त और प्रवाहपूर्ण हैं। कथोकथन और भाषा का व्यवहार करते समय वे अपनी दार्शनिकता से अपने को बचा नहीं पाते। इसीलिए कथोपकथन और भाषा में दार्शनिकता-जन्य वक्रता और असाधारणत्व है। उनके वाक्य छोटे-छोटे और मनोभावों को लपेटे हुए होते हैं और उनसे चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। (रचनाएँ—'फाँसी', 'स्पर्द्धा', 'वातायन', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'एक रात', 'दो चिड़ियाँ' आदि।)

अन्य कहानी-लेखक

चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने घटना, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि सभी बातों में स्वाभाविकता लाने की सफल चेष्टा की है। उनकी कहानियों में भावुकता होती है और कथानक नाममात्र को रहता है। अपनी कहानियों में वे कोई-न-कोई आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा-शैली अलंकृत है। (रचनाएँ—'नन्दन-निकुंज' और 'वनमाला')। गोविन्दवल्लभ पंत की कहानियों में भावुकता, प्रेम, वातावरण, रोचकता आदि बातों की प्रधानता रहती है। सियारामशरण गुप्त ने अपनी कहानियों के लिए समाज को आधार बनाया है और अनेक भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पात्र आध्यात्मिक धरातल पर ऊँचे उठते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उनके पात्र सरल-हृदय होते हैं और वैसी ही उनकी भाषा होती है। (रचना—'मानुषी')। भगवतीप्रसाद वाजपेयी मनोविज्ञान के आधार पर असाधारण सामाजिक परिस्थितियों के बीच पात्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। उनकी कहानियों में कथानक नाममात्र के लिए होता है। वे घटनाओं और प्रसंगों की ओर संकेत मात्र करते चलते हैं। साधारण पाठकों के लिए उनकी कहानियाँ कुछ दुरूह हो जाती हैं। चित्रोपमता, स्वाभाविकता व्यावहारिकता, भाषा का सौंदर्य आदि बातें उनकी कला की विशेषताएँ हैं। (रचनाएँ—'खाली बोतल', हिलोर', 'पुष्करिणी' आदि)। भगवतीचरण वर्मा ने भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से कहानी-कला को समृद्ध किया है। किसी चीज को तह तक पहुँचना, उसके वास्तविक रूप को समझना वे अच्छी तरह जानते हैं। कहानी कहने का उनका ढंग अत्यन्त मनोरंजक, कल्पनापूर्ण और आकर्षक है और उनके द्वारा वे किसी ऐतिहासिक या सामाजिक सत्य की व्यंजना करते हैं, जिसमें व्यंग्य का पुट रहता है। उनकी कहानियों में पात्र बहुत कम होते हैं, किन्तु उनमें मांसलता रहती है। उनके कथोपकथन चटकीले और अनूठे हैं। वर्माजी पर आधुनिक वैज्ञानिक युग द्वारा उत्पन्न बौद्धिकता और फलतः असन्तोष का प्रभाव है। उनकी कहानियाँ पाठक के मन पर प्रभाव छोड़ जाती हैं। (रचनाएँ—'दो बाँके', 'इन्स्टालमेंट' आदि)। 'अज्ञेय' की कहानियाँ प्रभाववादी होती हैं और वे किसी-न-किसी सामयिक सत्य की व्यञ्जना करते हैं। उन्होंने किसी प्रकार के दर्शन का आश्रय ग्रहण नहीं किया और न जीवन को वर्गीय खण्डों में बाँटकर देखा है। वे अपनी सामग्री अधिकतर दैनिक जीवन से लेते हैं। उनकी कहानियों में प्रतीकों, स्वप्नों, स्मृतियों और वातावरण के कुछ प्रयोगों के साथ-साथ कोमल मानवी प्रवृत्तियों का भी सुन्दर संवेदनीय चित्रण रहता है। 'अज्ञेय' ने अपनी कहानियों में मध्य वर्ग के जीवन की विषमताओं का वर्णन किया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उनके अपने व्यक्तित्व की छाप भी उनकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। उनके कथोपकथन और भाषा में स्वाभाविकता रहती है। (रचनाएँ—'विपथगा', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि)। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार दैनिक जीवन की कहानियाँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से कहते हैं। सामयिक सत्य की व्यञ्जना करने में वे प्रवीण हैं। उनकी कहानियाँ प्रभाववादी और प्रभावपूर्ण होती हैं और वे मनोविज्ञान के सहारे पात्र के अंतर्तम में पैठकर जीवन के सम्बन्ध में कुछ शाश्वत सत्य उद्घाटित करते हैं। उनकी भाषा भावानुकूल और पात्रानुकूल रहती है (रचनाएँ—'चन्द्रकला', 'अमावस' आदि)। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उर्दू से हिन्दी में आए हैं। उन्होंने एकांकी नाटकों और उपन्यासों के अतिरिक्त अनेक कहानियाँ लिखी हैं। वे समाज को कुछ-कुछ मार्क्सवादी दृष्टि से देखते हैं। वातावरण प्रस्तुत करने में 'अश्क' को काफी सफलता मिली है। वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परिस्थितियों का ध्यान रखते है और पात्रों का यथार्थ चित्रण करते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ-साथ वे जीवन की बाह्य परिस्थितियों का भी चित्रण करते हैं। उनका दृष्टिकोण व्यापक रहता है और वे प्राचीनता के प्रति मोह के बंधन में नहीं फँसते। (रचनाएँ—'पिंजरा',

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'निशानियाँ' आदि)। यशपाल मार्क्सवादी या प्रगतिवादी कहानी-लेखक हैं और उन्होंने जीवन के विविध संघर्षों का सजीव, किन्तु वर्गगत चित्रण किया है। जीवन की विविध परिस्थितियों का चित्रण भी, ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर किया है। मानव-भावनाओं से वे भलीभाँति परिचित हैं और उनका सूक्ष्म विश्लेषण करना उनकी विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वे कट्टरपंथी नहीं हैं। (रचनाएँ—'दो दुनियाँ', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'चित्र का शीर्षक' आदि)। 'पहाड़ी' जी ने भी अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।

नाटक

उपन्यास-साहित्य की भाँति नाटक-साहित्य का जन्म भी भारतेन्दु-युग (१८५०-१९००) में हुआ। भारतेन्दु से पहले हिन्दी में नाटकों का एक प्रकार से अभाव था। रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' की रचना हुई। महाराज विश्वनाथसिंह एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। कबीर के बीजक पर लिखी टीका से उनके पांडित्य का पूर्ण परिचय मिल जाता है। वे विद्या-प्रेमी थे। 'विनयपत्रिका की टीका', 'भजन शांतिशतक', 'संगीत रघुनन्दन', 'वेदान्त पंचक' आदि उनके अन्य ग्रन्थ हैं। भारतेन्दु के समय में रामलीलाएँ, पारसी थियेटर आदि ही जनता के मनोरंजन के साधन बने हुए थे। भारतेन्दु तथा अन्य साहित्यकारों की दृष्टि में वे भ्रष्ट थे। किन्तु एक तो हिन्दी नवोत्थान की भावना के अन्तर्गत साहित्यकार का ध्यान प्राचीन भारतीय नाटक-साहित्य की ओर गया, दूसरे, अँगरेजी नाटक-साहित्य के अध्ययन से भी इस ओर प्रेरणा मिली, विशेष रूप से जब कि एलिजाबेथ-कालीन और प्राचीन भारतीय नाटकों की रचना-पद्धति में कुछ-कुछ साम्य था। फलतः जो वृक्ष काल-गति से सूख गया था, वह अनुकूल वातावरण पाकर फिर से पुष्पित-पल्लवित हो उठा। यह पुनीत कार्य भी स्वयं भारतेन्दु द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने अंगरेजी और संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। बंग देश में वे नाटकों का सूत्रपात होते देख चुके थे। हिन्दी में ऐसे उपयोगी साहित्य के अभाव का अनुभव कर वे इस ओर अग्रसर हुए। उनके नाटक मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के हैं। मौलिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्री चन्द्रावली नाटिका', 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' और अनूदित नाटकों में 'मुद्राराक्षस' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु ने सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक और राष्ट्रीय एवं राजनीतिक नाटकों की रचना की। भारतेन्दु की रचनाओं में प्रेम मुख्य तत्त्व है—वह या तो ईश्वरोन्मुख प्रेम है, या देशोन्मुख। धार्मिक दृष्टि से वे अत्यन्त सहिष्णु थे और देश के पतन के कारणों को दूर कर उसे उन्नति की ओर अग्रसर करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अन्य नाटककारों की विचार-धारा भी भारतेन्दु की विचार-धारा के लगभग समान थी। श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, राव कृष्णदेवशरण सिंह आदि के 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'तप्ता-संवरण', 'संयोगिता स्वयंवर', 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती', 'महाराणा प्रताप', 'मयंकमंजरी महानाटक', 'माधुरी रूपक' आदि नाटकों में भारतेन्दु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा स्थापित नाटकीय परम्परा ही आगे बढ़ी है। किन्तु प्रचारात्मकता, पारसी कम्पनियों के प्रभाव, मानसिक अराजकता आदि के कारण, कुछ उपर्युक्त उच्च कोटि के नाटकों के अतिरिक्त, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीनिवासदास के जीवन-काल में (१८८७ तक) तथा उनकी मृत्यु के बाद निश्चित रूप से हिन्दी में कोई अपूर्व और मनोहर नाट्य-ग्रन्थ देखने में नहीं आता। नाटकों की जैसी दुर्दशा उन दिनों हो गई थी, उसे देखकर साहित्य-रसिकों को बड़ा दुःख होता था। अनेक नाटककारों ने प्रेरणा तो भारतेन्दु से ग्रहण कीं, किन्तु रचनाएँ प्रचलित रंगमंच के लिए कीं। हिन्दी की साधु अभिनयशाला का अभाव भी इस ह्रास का एक प्रधान कारण था। देश-काल-प्रभाव के कारण नाट्य-साहित्य की जैसी उन्नति होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। वास्तव में वह अपने शैशव-काल में ही रोग-ग्रस्त हो गया था। नाट्य-साहित्य जैसे उपयोगी साधन के सफल प्रयोग के लिए प्रतिभाशाली लेखकों का अभाव था। इसी प्रकार भारतेन्दु, देवकीनन्दन त्रिपाठी, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, विजयानन्द त्रिपाठी आदि ने 'अन्धेर नगरी', 'बैल छः टके को', 'महाअन्धेर नगरी' आदि प्रहसनों की रचना की, जिनमें लेखकों ने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक कुरीतियों और दौर्बल्य तथा निन्दनीय बातों पर व्यंग कसे। किन्तु वे प्रहसन भी उच्च कोटि के नहीं हैं। उनमें अधिकतर अर्थहीन प्रलाप और असंगत तथा अस्वाभाविक परिहास मिलता है। तब भी प्रहसन-लेखकों ने मानसिक दौर्बल्य के निबिड़ अन्धकार में हास्य की फुलझड़ियाँ छुटाईं, यही क्या कम था। शास्त्रीय रचना-पद्धति की दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाट्य-साहित्य ने भारतेन्दु द्वारा स्थापित नवीन नाट्यधर्म का अनुसरण किया। भारतेन्दु ने न तो प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्त ज्यों-के त्यों ग्रहण किए और न पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र का अन्धानुकरण ही किया। काल और परिस्थिति के अनुसार सुहृद्जनों की परिवर्तित रुचि देखते हुए उन्होंने दोनों नाट्य-पद्धतियों का समन्वय उपस्थित किया। इसलिए भारतेन्दु काल में हमें यदि विशुद्ध भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखी गई नाट्य-कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, तो पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुसार लिखी गई रचनाएँ भी मिलती हैं। स्वयं भारतेन्दु ने उन तीनों पद्धतियों के उदाहरण रखे थे और उनके सहयोगियों ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया। किन्तु अब भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि नवीन या मिश्र पद्धति से लिखे गए नाटकों में परिवर्तन केवल बाह्य दृष्टि से उपस्थित हुआ। उनकी अन्तरात्मा अधिकतर वही प्राचीन सुखपूर्ण और आदर्शवादी बनी हुई थी। हिन्दीवालों ने कोट-पतलून पहनना भले ही सीख लिया था, किंतु अन्तर्जगत् में वे अभी भारतीय ही बने हुए थे। कालान्तर में जिस प्रकार भारतीय जन का अन्तर पश्चिम से प्रभावित हुआ, उसी प्रकार नाटकों का भी। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु-कालीन नाटक यदि बिल्कुल प्राचीन नहीं हैं, तो बिल्कुल नवीन भी नहीं हैं। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी से अनूदित नाटकों ने भी इस क्रम में अपना योग प्रदान किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यदि हिन्दी की साधु अभिनयशाला की स्थापना और कर दी होती तो यह हिन्दी-भाषियों का सौभाग्य होता। उसके अभाव में पारसी रंगमंच ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहुत दिनों तक हिन्दी नाट्य-साहित्य को पनपने का अवसर ही प्रदान नहीं किया। 'प्रसाद' के द्वारा उसका उद्धार अवश्य हुआ, किन्तु रंगमंच की समस्या तो अब तक बनी हुई है। चित्रपट के कारण विद्वानों में निराशावाद का प्रचार देखा जाता है, किन्तु अमरीका, फ्रांस, इंगलैण्ड, रूस तथा पश्चिम के अन्य देश इस सम्बन्ध में उत्साह-वर्द्धक सिद्ध हो सकते हैं।

ऊपर पारसी रंगमंच का उल्लेख किया गया है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रथम पच्चीस-तीस वर्षों में पारसी रंगमंच का और भी प्रचार हुआ और अनेक लेखकों ने केवल पारसी रंगमंच के लिए नाटकों की रचना की। ऐसे लेखकों में 'बेताब', आगा हश्र कश्मीरी, शैदा, जौहर, राधेश्याम कथावाचक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आर्थिक दृष्टि से पारसी कम्पनियों ने उर्दू के साथ-साथ हिन्दी का प्रयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु इन नाटकों में नाट्य-कला का हीन रूप ही दृष्टिगोचर होता है। ये नाटककार चमत्कारपूर्ण एवं रोमांचकारी दृश्यों की अवतारणा कर दर्शकों में आश्चर्य और भयानक रसों का मिश्रण उत्पन्न करते थे, वे शेक्सपियर की नकल पर स्वतंत्र हास्य-रसात्मक उपकथानक की सृष्टि भी करते थे, किन्तु वह अत्यन्त भद्दा और अपरिष्कृत रहता था। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में नाट्य-कला अराजकतापूर्ण और अव्यवस्थित थी—जो एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी की देन थी। नाटककार किसी कलात्मक नियम का पालन नहीं करते थे। यही कारण है कि पारसी रंगमंच के लिए लिखे गए नाटकों में उच्च कोटि की रचनाएँ नहीं मिलतीं।

स्वभावतः पारसी रंगमंच के लिए लिखे गए नाटकों के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया—वास्तव में यह आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से ही चला आ रहा था। साहित्यिक नाटकों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए बँगला से द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीश घोष आदि के नाटकों के अनेक हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए, जिससे साहित्यिकता के साथ-साथ रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती थी। हिन्दी में प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय तक कोई भी उत्तम कोटि की मौलिक रचना उपलब्ध नहीं होती—यद्यपि बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवन-दहन' जैसे कुछ अपवाद-स्वरूप नाटकों में नाटकीय तत्त्व, चरित्र-चित्रण, कथा-संगठन, साहित्यिकता आदि की दृष्टि से उज्जवल भविष्य का संकेत मिल जाता है। इसी समय स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' अपनी कला लेकर जनता के सामने आए। हिन्दी में पाश्चात्य नाट्य-पद्धति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने ही ग्रहण कर ली थी। धीरे-धीरे हिन्दी के नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति पूर्णतः अपना ली। 'प्रसाद' जी ने शिक्षित समुदाय के सामने भारत के प्राचीन गौरव का चित्रण तथा आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण करते हुए एक नवीन-दर्शन प्रस्तुत किया। उनके ऐतिहासिक नाटक आगे बढ़ने की प्रेरणा लेकर आए। उन्होंने ऐतिहासिक नाटक लिखे, इसलिए कथानकों के ऐतिहासिक आधार के कारण उनकी रचनाओं में दोष उत्पन्न हो गए हैं, किन्तु संघर्ष, आदर्श, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से उनके नाटक महत्त्वपूर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं और वे हिन्दी की नाट्य-कला का विकास उपस्थित करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद उनका कार्य सराहनीय है। उनका विकास स्वच्छन्दतावादी ढंग का है। उनके नाटकों में आदर्शवाद, दार्शनिकता और कवित्वपूर्ण शैली का मिश्रण है। 'प्रसाद' जी की रचनाओं में 'राज्यश्री', 'विशाख' 'अज्ञातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी नाटकों का नया स्वरूप और जीवन प्रदान करने में 'प्रसाद' जी का कार्य सर्वोपरि है। हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट आदि के नाटक भी उच्चकोटि के हैं, किन्तु उनके नाटक 'प्रसाद'-शैली के ही रूपान्तर हैं।

समस्या नाटक

बीसवीं शताब्दी में इधर पिछले लगभग तीस वर्षों में समस्या नाटकों और एकांकी नाटको का निर्माण भी हुआ है। समस्या नाटकों में बुद्धिवाद के आधार पर सामाजिक, धार्मिक, व्यक्तिगत तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यर्थ के आडम्बर और वाह्याचारों तथा परम्परा पालन का विरोध किया जाता है। सेठ गोविन्ददास और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ अच्छे समस्या नाटकों की रचना की है। इस क्षेत्र में मूल प्रेरणा यूरोपीय नाटककारों—इब्सन और शॉ—से प्राप्त हुई।

वास्तव में प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य विशेष सम्पन्न और समृद्ध नहीं है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी के रंगमंच का अभाव और फिल्मों का प्रचार है। प्रथम तो लेखकों में मौलिक और उच्च कोटि के बड़े अनेकांकी नाटक लिखने की विशेष प्रेरणा नहीं पायी जाती, किन्तु जहाँ कहीं नाट्य-शैली के निर्माण की चेष्टा भी की गई है, 'प्रसाद' के नाटकों की सी प्रभावशीलता उत्पन्न नहीं हो सकी। प्रायः नाटकों में प्रेम-कथा और उससे सम्बन्धित भावनाओं का ही चित्रण रहता है। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान समय में हिन्दी-नाटकों की रचना केवल 'प्रसाद' का परम्परा-पालन मात्र ही रह गई है। प्राग्-ऐतिहासिक और सामाजिक स्थितियों और समस्याओं के आधार पर लिखे गए नाटक भी 'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों की समकक्षता नहीं कर सके (लक्ष्मीनारायण मिश्र अपवाद स्वरूप हैं।)

एकांकी नाटक : जन्म और विकास

एकांकी अँगरेजी साहित्य की देन है। हिन्दी में एकांकी का प्रचार १९३० के बाद ही माना जा सकता है। उससे पहले भारतेन्दु तथा अन्य युगों में एकांकी की खोज करना अवैज्ञानिक और भ्रामक है। एकांकी एक श्रेष्ठ कला है और नाटक लिखने की अपेक्षा अधिक कठिन है। ईसा की दसवीं शताब्दी में यूरोप में सन्तों की जीवनियों का अभिनय हुआ करता था, जिसमें त्याग, बलिदान और धार्मिकता पर बल दिया जाता था। कहानी की तरह उनमें एक भावना, पात्रों की संख्या दो या तीन, और कम समय की अपेक्षा रहती थी। कालांतर में प्रीतिभोजों से सम्बन्धित या सामाजिक समारोहों के अवसरों पर थोड़े समय में समाप्त होनेवाले नाटक अतिथियों के मनोरंजनार्थ खेले जाने लगे। उन्हीं से यूरोप में एकांकी की साहित्यिक कला का जन्म और विकास हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकांकी-रचना-पद्धति

एकांकी ऐतिहासिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, समस्यामूलक, लोकगाथात्मक, प्रचारात्मक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कथानक या कथा को एक विशेष साँचे में ढालना पड़ता है जिससे एकांकी के उद्देश्य की पूर्ति हो। कथा के इस संगठित रूप को वस्तु कहते हैं। एकांकी-कला के वस्तु-निरूपण (नाटकीय पात्रों, घटनाओं, विस्मय, संवाद आदि का समन्वय) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसे रंगस्थल के अनुकूल बनाना; गीत की भाँति उसमें एक भावना, एक स्थिति या एक चित्तवृत्ति रखना; पात्रों, परिस्थितियों और पृष्ठभूमि में और आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों में सामंजस्य उपस्थित करना; वस्तु में निरूपण, द्वंद्व, उत्कर्ष, चरमसीमा और अपकर्ष, इन विविध अंगों और स्थलों में सामंजस्य उपस्थित करने पर एकांकी की सफलता निर्भर रहती है। वस्तु के लिए कथानक जीवन के किसी भी क्षेत्र से लिया जा सकता है। कथानक की सफलता के लिए चार तत्त्व आवश्यक हैं—(१) जीवन से सम्बन्ध। यथार्थ पर लेखक को कल्पना का आवरण चढ़ाना चाहिए और नाटकीय तत्त्वों को खोजना चाहिए! (२) लेखक को उसमें उत्तेजना या कुतूहल या जिज्ञासा को स्थान देना चाहिए। पाठक यह जानने के लिए उत्सुक रहे कि आगे क्या होनेवाला है। किन्तु (३) लेखक अंतिम फल को अन्त तक कलात्मक ढङ्ग से छिपाये रखे। इसे 'विस्मय' कहते हैं। एकांकी के लिए यह तीसरा तत्त्व बहुत महत्त्वपूर्ण है। अंत में (४) एकांकी में रोचकता होनी चाहिए अर्थात् आनान्द, हास्य, आकर्षण आदि के सहारे पाठक या दर्शक का मन उसमें रमा रहना चाहिए। वास्तव में कथानक और वस्तु के ऐक्य और समन्वय से ही एकांकी की रूपरेखा बनती-बिगड़ती है। कथानक और वस्तु-निरूपण के बाद लेखक को चरित्र-चित्रण पर ध्यान देना चाहिए। चरित्र चित्रण यथार्थ, स्वाभाविक, निष्पक्ष, व्यक्तित्व से पूर्ण, चारित्रिक वैचित्र्य के साथ (प्रत्येक पात्र की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ) और स्वाभाविक रूप में विकसित होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में लेखक अपनी रुचि के अनुसार आदर्शवादी या यथार्थवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर सकता है। नायक का चुनाव सावधानी से होना चाहिए। चरित्र-चित्रण के बाद एकांकी में संवादों का स्थान है। संवादों द्वारा पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और वस्तु-निरूपण के लिए वे महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें स्वाभाविक किन्तु साहित्यिक पुट लिये हुए, संक्षिप्त, व्यावहारिक, प्रभावोत्पादक, गतिपूर्ण, सार्थक, प्रयोजन सहित, पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाले, वस्तु-विकास पर प्रकाश डालनेवाले, और हास्य, श्लेष आदि से पूर्ण होना चाहिए। फिर, एकांकी में एक भावना का प्राधान्य होना चाहिये और उसका पाठक या दर्शक के हृदय पर प्रभाव पड़ना चाहिए। इस कार्य में वस्तु-सामंजस्य और संवाद सहायक सिद्ध होते हैं। आनन्द और शिक्षा दोनों ही दृष्टियों से उसे प्रभावोत्पादक होना चाहिये। एकांकी को पढ़ या देख लेने के बाद भी बहुत देर तक वह हमारे मन को प्रभावित करता रहे यह उसकी सफलता का चिह्न है। एकांकी के लेखक को चरमसीमा (क्लाइमैक्स) पर विशेष ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो एकांकी का सारा प्रभाव नष्ट हो जाएगा। अन्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में, एकांकी में कार्य (action) होना भी आवश्यक है, नहीं तो वह 'बातचीत' मात्र होकर रह जाएगा।

एकांकी नाटक और फैंटेसी

यह मत कि एकांकी केवल एक छोटा नाटक है, भ्रमात्मक है। नाटक और एकांकी में महान् अंतर है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कहानी और उपन्यास में अन्तर है। पश्चिम में नाटक के जन्म की कहानी एकांकी के जन्म की कहानी से भिन्न है। उसका सम्बन्ध ग्रीक और रोमन सभ्यताओं से है। एकांकी की विशेषताएँ तो ऊपर बताई जा चुकी हैं। नाटक की पृष्ठभूमि विस्तृत होती है, उसमें अनेक पात्र होते हैं, प्रभाव की अन्विति पर बल नहीं दिया जाता, उसका रूप असम होता है, वह विस्तृत होता है और उसके लिए समय का अभाव नहीं (एकांकी तो १/२ या १ घण्टे में समाप्त हो जाना चाहिए)। नाटक की ये विशेषताएँ एकांकी में नहीं पाई जातीं। फ़ैंटेसी में कल्पना-लोक की रंगीन सृष्टि और अद्भुत वातावरण की अवतारणा रहती है।

हिन्दी में यद्यपि अनेकानेक एकांकी लिखे जा रहे हैं, किन्तु एकांकी की वास्तविक कला की कसौटी पर खरे उतरनेवाले एकांकी कम ही मिलेंगे। हिन्दी में भुवनेश्वर प्रसाद ('कारवाँ'—हिन्दी में यह सर्वप्रथम एकांकी संग्रह माना जाता है), सेठ गोविन्ददास ('सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत' आदि संग्रह), उदयशंकर भट्ट ('अभिनय एकांकी नाटक', 'समस्या का अन्त' आदि संग्रह), गणेशप्रसाद द्विवेदी ('सुहाग-बिन्दी'—संग्रह), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ('पापी', 'विवाह के दिन', 'जोंक', 'अधिकार का रक्षक' एकांकी), सद्गुरुशरण अवस्थी ('मुद्रिका', 'बाइबिल', 'गृहत्याग' आदि), विष्णु प्रभाकर आदि एकांकीकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

निबन्ध

आलोच्य काल में उपर्युक्त प्रमुख साहित्य-रूपों के अतिरिक्त निबन्ध, जीवनी-साहित्य, अनेक पत्र-पत्रिकाओं और समालोचना-साहित्य का प्रकाशन हुआ। निबन्ध से तात्पर्य सच्चे साहित्यिक निबन्धों से है, जिनमें लेखक अपने-आपको प्रकट करता है, विषय को नहीं। विषय तो बहाना मात्र होता है। इस दृष्टि से यद्यपि भारतेन्दु का नाम भी निबन्धकारों में लिया जाता है, किन्तु अभी यह विषय विवादास्पद है। निर्विवाद रूप से इस काल में दो प्रमुख निबन्धकार हुए—बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र जो क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' का सम्पादन करते थे। उन्होंने अनेक सामाजिक, साहित्यिक और मनोरंजक विषयों पर सुन्दर निबन्ध लिखे। निबन्धकार हुए तो और भी होंगे, किन्तु जब तक भारतेन्दु काल के पत्रों की पूरी फाइलें नहीं मिल जाएँगी, निबन्ध-साहित्य का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धकारों के उपादान, विषय-विस्तार और उनकी शैली सीमित रही। निबन्ध-साहित्य के विकास का द्वितीय चरण हमें द्विवेदी-युग में मिलता है। इस समय महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, केशवप्रसाद सिंह, पूर्णसिंह, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास; पद्मसिंह शर्मा आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनेक निबन्ध लेखक हुए। निबन्धों में विषय-विस्तार और विविध शैलियाँ हैं और कथात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध पाए जाते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के बाद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी एक प्रमुख निबन्ध-लेखक हैं। 'अशोक के फूल' में उनके वास्तविक साहित्यिक निबन्धों के कई उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक समय में सिद्धान्त-प्रतिपादन के मोह के कारण वास्तविक साहित्यिक निबन्ध का अभाव हो चला है। निबन्ध में व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाश मिलना चाहिए। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि जैसे निबन्ध-लेखकों का अब अभाव है। कुछ प्रमुख निबन्धकारों की गद्य-शैलियों के उदाहरण इस प्रकार हैं :

'ईश्वर न करे किसी की हिये की फूटै, हिये की फूटने से फिर किसी तरह का निस्तार नहीं है। हमारे देशवालों के हिये की फूटी हैं हम लोग सौ सौ बार सहस्त्र बार कहते-कहते थक गये इन्हें चेताने और हिये की खोलने के लिये भरसक यत्न करने में त्रुटि नहीं करते पर इनके चित्त में उसका अणु मात्र भी असर नहीं होता।'

—बालकृष्ण भट्ट : 'मन और नेत्र'

'वे भला बतलाइए तो क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह! आप तो आप ही हैं। यह कहाँ की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण सम्पादक हैं, अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं; आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब हैं, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं।

—प्रतापनारायण मिश्र : 'आप'

'माई लार्ड! लड़कपन में इस भंगड़ को बुलबुल का बड़ा चाव था। गाँव में कितने ही शौकीन बुलबुलबाज थे। वह बुलबुलें पकड़ते थे, पालते थे और लड़ाते थे, बालक शिवशम्भु शर्मा बुलबुलें उड़ाने का चाव नहीं रखता था। केवल एक बुलबुल को हाथ पर बिठा कर ही प्रसन्न होना चाहता था। पर ब्राह्मण-कुमार को बुलबुल कैसे मिले? पिता को यह भय कि बालक को बुलबुल दी तो वह मार देगा, हत्या होगी।'

—बालमुकुन्द गुप्त : 'बनाम लार्ड कर्जन'

'रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। पूर्व दिशारूपिणी स्त्री को प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस सी रही है। वह यह सोचती सी है कि इस चन्द्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया, जब तक यह मेरी संगति में रहा—तब तक उदित ही नहीं रहा, इसकी दीप्ति भी खूब बढ़ी। परन्तु देखो वही अब पश्चिम दिशारूपिणी स्त्री की तरफ जाते ही हीनदीप्ति होकर पतित हो रहा है।'—'महावीरप्रसाद 'द्विवेदी : 'प्रभात'

'कवित्व-संसार बड़ा ही सुन्दर है। स्वर्ग की अप्सराएँ, नन्दनवन के पारिजात, पूर्णिमा का चन्द्र सुन्दर कहे जाते हैं; किन्तु कवित्व के सामने इन सबकी सुन्दरता अकिंचित्कर है। वसन्त ऋतु की मलयानिल, प्रातःकाल का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिग्मंडल, संध्या का अरुणिम आकाश भी सुन्दर कहे जाते हैं; किन्तु क्या वे कवित्व की सुन्दरता की समता कर सकते हैं।' —चतुर्भुज औदीच्य : 'कवित्व'

'दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द-वर्ग में वही स्थान 'उत्साह' का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति में अपने को दूर रखने के लिये प्रयत्नवान् होते हैं, उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम उत्साह है। कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।'

—रामचन्द्र शुक्ल : 'उत्साह'

जीवनी-साहित्य

हिन्दी का जीवनी-साहित्य बहुत थोड़ा और साधारण है। भारतेन्दु, रमाशंकर व्यास, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ आदि ने अनेक जीवनियाँ लिखीं। जहाँ तक हो सका है, लेखकों ने किंवदन्तियों का सहारा न लेकर अध्ययन और ऐतिहासिक तथ्यों को ही विशेष स्थान दिया है। भक्तों और सन्तों की जीवनियों में प्रामाणिकता की ओर अधिक ध्यान न देकर लेखकों ने परम्परागत किंवदन्तियों का सहारा अधिक लिया। लेखकों में मानवी-चरित्र के स्थान पर लोकोत्तर चरित्र देखने की इच्छा प्रबल पाई जाती है। कुछ जीवनियों में विचारों और सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जैसे लाला लाजपतराय कृत 'ग्विसेप मेजिनी' (१९००) में। साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास ग्रन्थों—तासी, शिवसिंह, ग्रियर्सन आदि कृत में भी कवियों की जीवनी-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है—यद्यपि उनमें खोज और परिश्रम से काम लिया गया है, तो भी उनका प्रयोग सतर्कता से करने की आवश्यकता है।

बीसवीं शताब्दी में मौलिक जीवनियों में रामनरेश त्रिपाठी कृत 'मालवीय जी के साथ तीस दिन', भवानीदयाल संन्यासी कृत 'एक प्रवासी की आत्मकहानी', श्याम-सुन्दरदास कृत 'मेरी कहानी' और स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रप्रसाद कृत 'आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिकाएँ १८२६ में युगलकिशोर शुक्ल द्वारा स्थापित परम्परा का विकसित रूप है। भारतेन्दु-कालीन प्रत्येक प्रसिद्ध लेखक या कवि किसी-न-किसी पत्र का सम्पादक था। पत्रों में यदि एक ओर सुधारवादी आन्दोलनों को शक्ति मिली तो दूसरी ओर निबन्ध-कला को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु जनसाधारण में शिक्षा और रुचि के अभाव के कारण कोई पत्र दीर्घायु प्राप्त न कर सका। फिर भी साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास में पत्रों ने जो भाग लिया, वह महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक समय में 'सरस्वती', 'चाँद', 'सुधा', 'माधुरी', 'विशाल भारत',

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'हंस' आदि मासिक पत्रों में; और 'हिन्दुस्तान', 'वीर अर्जुन', 'आज', 'संसार' आदि दैनिक पत्रों में उल्लेखनीय हैं। अनेक दैनिक पत्रों के साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित होते हैं। 'राजस्थान भारती', 'मरु-भारती', 'हिन्दुस्तानी', 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' आदि प्रसिद्ध खोज-पत्र हैं। अँगरेजी का प्रचार और भाषा-सम्बन्धी यान्त्रिक साधनों की कठिनाई होने के कारण हिन्दी के दैनिक पत्रों का स्तर और सम्पादन उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता।

समालोचना

हिन्दी समालोचना का जन्म मध्ययुग के रीतिकाल में माना जाता है। उस समय कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों और सम्प्रदायों का अनुकरण कर अलंकार, रस, पिंगल आदि पर रचनाएँ प्रस्तुत कर सैद्धान्तिक समालोचना की नींव डाली। केशव, देव, मतिराम, चिंतामणि, कुलपति, दास तथा अन्य अनेक कवियों ने आलोचना का यह मार्ग प्रशस्त किया। मध्य युग में प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों की टीका करते समय और अनेक सिद्धान्तों और लक्षणों का उल्लेख करते समय भी टीकाकारों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के उदाहरण प्रस्तुत किए। आलोचना का यह मध्य-युगीन रूप पद्य-बद्ध मिलता है। यह परम्परा बहुत-कुछ भारतेन्दु-युग तक बनी रही। बेनी प्रवीन ('नवरसतरंग', १८१७, 'नानाराव प्रकाश', 'शृङ्गार भूषण'), ग्वाल (१८२२ से १८६१ तक रचना-काल; 'रसिकानन्द', 'अलङ्कार', 'रसरंग, रस : 'दूषणदर्पण', काव्य-दोष : 'यमुनालहरी', १८२२ और 'हमीरहठ', १८२४), प्रताप साहि १८२३ और १८४३ के बीच रचना-काल; 'शृङ्गार-मंजरी', १८३२; 'शृङ्गार-शिरोमणि', १८३७; 'अलङ्कार चिन्तामणि', १८३४; 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', १८२५; 'काव्य-विलास', 'काव्य-विनोद' आदि; (पजनेश (१८४३ के लगभग रचना-काल)। बेनी प्रवीन का नाम 'नवरसतरंग' के कारण उल्लेखनीय है। 'नवरसतरंग' में कवि की काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है, न कि आचार्यत्व। उन्होंने नव रस और स्थायी भावों के उल्लेख के बाद नायिका-भेद का वर्णन किया है। कवि ने लक्षण तो बरवै या दोहा छन्दों में दिए हैं और उदाहरण मनहर तथा सवैया छन्दों में। अन्य कवियों की भाँति बेनी प्रवीन ने भी प्रधानता शृङ्गार रस को ही दी है। अन्य रसों का चलता हुआ उल्लेख कर दिया गया है। ग्वाल की रचनाओं में से रीति की दृष्टि से 'रसरंग' प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना १८४७ में हुई। कवि ने दोहा छन्द ग्रहण कर नवों रसों का विवेचन किया है। किन्तु अन्य कवियों की भाँति ग्वाल ने भी शृङ्गार को प्रमुखता दी है और उसके अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन किया है। कवि ने नई नायिकाओं की कल्पना भी की है। प्रताप साहि कृत 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' काव्य-सौन्दर्य और आचार्यत्व दोनों ही दृष्टियों से एक आदरणीय रचना है। कवि ने व्यंग्यार्थ और अलङ्कार को लेते हुए नायिका-भेद प्रस्तुत किया है। मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को उन्होंने आधार माना है। प्रताप साहि अपने उदाहरण देकर नायिका-भेद, अलङ्कार आदि को स्पष्ट करते हुए व्याख्या कर देते हैं। कवि लछिराम। (पलटन राम के पुत्र और अमोढ़ा, जिला बस्ती के निवासी) ने अयोध्या-नरेश और बस्ती के राजा आश्रय में रहकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रघुवीर विलास', 'रामचन्द्रभूषण' आदि कई ग्रन्थों की रचना की। किन्तु उनके 'रावणेश्वर कल्पतरु' (गिद्धौर-नरेश की आज्ञानुसार लिखा गया) और 'महेश्वरविलास' (रामपुर जिला सीतापुर के महेश्वर बख्श सिंह की आज्ञानुसार लिखा गया) सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'रावणेश्वर कल्पतरु' की रचना १८९० में हुई। ग्रन्थ के बारह कुसुमों में मङ्गलाचरण, वंश-वर्णन आदि के पश्चात् काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रस तथा स्थायी भावादि, भावोदय, भावशबलता गुण, अलंकार, काव्य-दोष आदि पर विचार किया गया है। बीच-बीच में कवि ने ब्रजभाषा में टिप्पणियाँ भी दी हैं। रीति-कालीन ग्रन्थों की परम्परा में 'रावणेश्वर कल्पतरु' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'महेश्वर विलास' में रस-वर्णन है। लक्षण बरवै और दोहों में हैं, उदाहरण कवित्त-सवैयों, और कहीं-कहीं, बरवै छन्दों में हैं। किन्तु परम्परा के अनुसार ग्रथ में रस का सैद्धान्तिक विवेचन कम और नायिका-भेद अधिक है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अन्त में कवि राजा मुरारिदान ने अपने अलंकार-सम्बन्धी प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थ 'जसवन्त भूषण' (मारवाड़ नरेश महाराज जसवन्त सिंह की आज्ञा से, १८९३) की अग्निपुराण, नाट्य-शास्त्र, चिन्तामणि कोष, चन्द्रालोक आदि ग्रन्थों के आधार पर रचना की। इन्होंने अलंकारों के नामों की व्याख्या से ही लक्षण प्रतिपादित किए हैं। इसी ग्रन्थ का विस्तृत रूप 'जसवंत जसोभूषण' है। कवि राजा ने कुछ नवीन अलंकारों का उल्लेख भी किया है। अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह कृत 'रस-कुसुमाकर' (१८९४) रस-सम्बन्धी सुन्दर ग्रन्थ है। कवि ने पन्द्रह कुसुमों में स्थायी भाव, संचारी, अनुभाव, हाव, सख्य सखी, दूती, विभाव, नायिका-भेद, शृङ्गार, रस, वियोग की दस दशाओं, अन्य रसों, दृश्य और श्रव्य-काव्य आदि पर विचार किया है, ' अयोध्या-नरेश ने लक्षण गद्य में दिए हैं और 'द्विजदेव', पद्माकर, देव, बेनी, शम्भु आदि कवियों की रचनाओं से अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। विषय-विवेचन की पद्धति अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट है। शृंगार रस, नायक-नायिका-भेद आदि की दृष्टि से सरदार कवि कृत 'शृङ्गार संग्रह', भारतेन्दु कृत 'सुन्दर तिलक' और हफीजुल्लाह खाँ कृत 'हजारा' और 'षट्ऋतु काव्य-संग्रह' भी सहायक ग्रन्थ हैं। १८९६ में कन्हैया लाल पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। ग्रथकार ने लक्षण गद्य में और उदाहरण पद्य में दिए हैं। यही ग्रंथ आगे चलकर 'काव्य-कल्पद्रुम' (१९२६) के 'अलंकार-मंजरी' (१९३६) भाग के रूप में सामने आया—'रस-मंजरी' वाला अंश १९३४ में प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी साहित्य में काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों की परम्परा तो पहले से चली ही आ रही थी और उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों ने इसकी समृद्धि में योगदान किया। इस समय गद्य का प्रयोग प्रारम्भ हो जाने के कारण कवियों को विषय-विवेचन, सिद्धान्त-निरूपण, लक्षण आदि की दृष्टि से अधिक सुविधा हुई और ग्रन्थों को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जाने लगा। उदाहरण भी ब्रजभाषा काव्य और खड़ीबोली काव्य दोनों से दिए जाने लगे। किन्तु इतने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी में और उससे पूर्व लिखे गए ग्रंथों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। हाँ, कन्हैयालाल पोद्दार के 'अलंकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाश' नामक ग्रन्थ से रीति-परम्परा में आधुनिकता के दर्शन अवश्य होने लगते हैं और साथ ही उससे समाज की परिवर्तित रुचि और नवीन दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होने लगता है।

आधुनिक समालोचना का उद्भव भारतेन्दु-युग में माना जाता है। आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और नूतन साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न होने के फलस्वरूप—१. प्राचीन विषयों पर रूढ़िगत प्रणाली के अनुसार विचार न करके नवीन ढंग से विचार किया गया। काव्य और साहित्य से सम्बन्धित अन्य समस्याओं पर परिवर्तित अभिरुचि के अनुसार तथा स्वच्छन्द रीति से निरूपण किया जाने लगा। २. विषय-निरूपण एवं विचार करने की दृष्टि से यह साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर लिखे गए ग्रन्थ और ( ) व्यावहारिक आलोचना को लेकर लिखे गए ग्रन्थ। जहाँ तक पहले भाग से सम्बन्ध है, वैसे तो अनेक लेखकों के नाम मिलते हैं, किन्तु मौलिकता और साहित्य समालोचना की गतिविधि निर्धारित करने की दृष्टि से महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल के नाम अग्रगण्य हैं। उनके विचारों से कोई सहमत हो या न हो, उनके ग्रन्थों ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचारधारा को प्रभावित अवश्य किया है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक आलोचना की सृष्टि के लिए पत्र-पत्रिकाओं ने अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया—विशेषतः 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' ने। द्वितीय भाग के अन्तर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अब तक अनेक लेखकों की गणना की जा सकती है और कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीराँ, बिहारी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रसाद' आदि हिन्दी साहित्य-निर्माताओं पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है। हिन्दी साहित्य के विशिष्ट कालों और प्रवृत्तियों का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया है। इस दृष्टि से विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा किया गया खोज-कार्य भी सराहनीय है। ३. आधुनिक काल में स्वयं कवियों द्वारा अपने काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों, विविध पक्षों और मान्यताओं के सम्बन्ध में लिखी गई भूमिकाएँ या निबन्ध की आलोचना साहित्य के प्रमुख अंग हैं। 'प्रसाद, पंत, निराला', महादेवी वर्मा आदि के नाम इस दृष्टि से विशेषतः उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के प्राचीन कवियों के सामने भी कविता का एक आदर्श रहता था। उन्होंने अनुभूति और कला-पक्ष दोनों में से एक को प्रधानता दी। कबीर जायसी, सूर, तुलसी आदि ने अनुभूति को प्रधानता दी, यद्यपि उनमें कलापक्ष का भी अभाव नहीं है। बाद को केवल मनोरंजन की वस्तु रह जाने के कारण कविता में कला-पक्ष की ही प्रधानता हो चली और वह जीविकोपार्जन का साधन मात्र रह गई। अनेक प्राचीन कवियों ने अपने आदर्शों की ओर उसी भाँति संकेत किया है, जिस प्रकार 'कबि न होउँ नाहिं चतुर प्रवीनू....' अथवा 'का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच' आदि कहकर संकेत किया गया। रीतिकालीन कवियों द्वारा दिये गए प्रकार के अनेक संकेत मिलते हैं और जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि उसके सामने काव्य का जो स्वरूप था, वह सूर, तुलसी द्वारा निर्धारित स्वरूप से भिन्न था। इस सम्बन्ध में कुछ अपवाद अवश्य मिल जाते हैं, जैसे, घनानंद।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आधुनिक काल में कवियों के आदर्श और विचार बदले। नवीन विचारों का प्रचार हुआ। उनके प्रचार के लिए प्रेस और पत्र-पत्रिकाओं का आश्रय ग्रहण किया गया। यह परिवर्तन-क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ हो गया था। श्रीधर पाठक के समय से उस क्रम ने और भी अधिक तीव्रता ग्रहण की। काव्य के क्षेत्र में भाषा और विषय-निर्वाचन की दृष्टि से परिवर्तन हुए ही, साथ ही कवियों के कविता-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी मौलिक परिवर्तन होने लगा। आगे चलकर छन्द-बन्धन भी शिथिल पड़ गये और हिन्दी कविता को एक अभूतपूर्व कलात्मक रूप मिला—आन्तरिक और बाह्य दोनों ही दृष्टियों से 'प्रसाद' जी इस दृष्टि से अग्रणी थे। उन्होंने महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्धारित काव्यादर्श और शैली ग्रहण न कर स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण किया। उनकी और उनके समकालीन तथा बाद के कवियों की भाषा, भाव, छन्द आदि से सम्बन्धित नवीनताओं की तीव्र आलोचना की गई। इन आलोचनाओं और आक्षेपों का उत्तर देने के लिये उन्हें अपने विचार स्पष्ट करने पड़े। यह स्पष्टीकरण ही भूमिकाओं और निबन्धों के रूप में है। प्रारम्भ में यह नवीन समालोचना केवल 'पुस्तक-परिचय' या 'समीक्षा' के रूप में रही। 'कविवचन-सुधा' (१८६८) और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३) में इस प्रकार की समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। (१८७७) में 'आनन्द कादम्बिनी' और फिर 'हिन्दी प्रदीप' में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से आलोचना के अन्तर्गत भाषा, प्रबन्ध, शास्त्रीय नियम और सिद्धान्त आदि की परीक्षा की जाने लगी। उसमें गुण-दोष-दर्शन अधिक मिलता है। 'प्रेमघन' जी और भट्ट जी से प्रोत्साहन ग्रहण कर अन्य अनेक पत्रों के सम्पादकों ने भी इसी प्रकार की आलोचनाएँ प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। किन्तु उनमें गुण-दोष दर्शन ही बहुत अधिक है। किसी कवि या लेखक की रचना का गुण-दोष-दर्शन हमें लगभग १८९८ तथा 'हिन्दोस्थान' (१८८५) में महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में भी होते हैं। १९०१ में यह लेख-माला पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। उसमें उन्होंने लाला सीताराम कृत कालिदास की रचनाओं के अनुवादों में व्यतिक्रम बताये हैं। वास्तव में खड़ीबोली के विकास-काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारों का यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने काव्य की भाषा, काव्य का प्रयोजन, काव्य-प्रेरणा, कविता का स्वरूप, काव्य के विषय, प्रकृति-चित्रण आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण विषयों पर विचार किया है। उनकी ये रचनाएँ लेखों के रूप में हैं और वे उनकी 'रसज्ञ-रंजन' नामक पुस्तक में संकलित हैं। उन्होंने अपने समय की कवि-चेतना पह-चानी और काव्यादर्श स्पष्ट किया, आदर्श और यथार्थ के समन्वय की ओर कवियों को प्रेरणा दी। वे उसी रचना को सफल रचना मानते थे जिससे हृदय को शान्ति प्राप्त हो और उदात्त भावनाओं का जन्म हो। उन्होंने इस बात की अथक चेष्टा की कि नवोदित खड़ीबोली काव्य की भाषा प्रांजल और काव्योपयुक्त तथा प्रसादगुणपूर्ण बने। वास्तव में द्विवेदीजी के लेखों से हिन्दी की बदलती हुई काव्य-रुचि का परिचय प्राप्त होता है और आधुनिक समालोचना के विकास में उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। 'प्रेम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घन' जी की भाँति द्विवेदीजी ने भी उपर्युक्त पुस्तक में दोष ही दोष निकाले हैं, गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। 'प्रेमघन' जी और द्विवेदीजी की परम्परा में अनेक समालोचनाएँ प्रकाशित हुईं, किन्तु उनमें कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं मिलती। १८९७ में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिन्दी समालोचना साहित्य की विशेष वृद्धि हुई। 'पुस्तक-समीक्षा' या 'पुस्तक-परिचय' के रूप में आलोचना रहने के साथ-साथ उसमें गम्भीर अध्ययन के बाद लिखे गये गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित होने लगे, जिनमें प्राचीन और नवीन पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर एक नया मार्ग खोज निकालने का प्रयास मिलता है। साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालनेवाला पहला लेख गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'समालोचना' (१८९७) था। १८९६ में यह लेख एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो चुका था। 'पत्रिका' के इसी १८९७ वाले अंक में ही 'रत्नाकर' कृत 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'गद्य-काव्य-मीमांसा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुए। 'समालोचनादर्श' पोप कृत 'Essay on Criticism' का पद्य-बद्ध अनुवाद है। 'पत्रिका' द्वारा स्थापित समलोचना-प्रणाली तथा पहले से चली आ रही समीक्षा-प्रणाली का और भी विकास स्वयं 'पत्रिका' और बाद को 'सरस्वती' (१९००) द्वारा हुआ। वास्तव में आधुनिक हिन्दी में यह सैद्धान्तिक समालोचना का सूत्रपात था जिसमें साहित्यिक सिद्धान्तों का स्थापना की जाती है; साहित्य क्या है, कविता क्या है, आदि समस्याओं पर विचार किया जाता है। यह एक प्रकार से समालोचना का शास्त्रीय पक्ष है। ऐसे समालोचक को साहित्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिये।

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न नवीन चेतना के फलस्वरूप हिन्दी के शिक्षित समुदाय ने प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों और कवियों के ग्रन्थों का अध्ययन और उनके सम्बन्ध में अनेक बातें जानने की उत्कंठा प्रकट की। इस प्रकार खोज और अध्ययन का कार्य प्रारम्भ हुआ। गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, महावीरप्रसाद द्विवेदी, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि ने संस्कृत कवियों से सम्बन्धित 'नैषध चरित-चर्चा', 'कालिदास', 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा' आदि लेखों में खोज की प्रवृत्ति प्रकट की। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में भी राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दरदास, मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़ आदि ने अनेक खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये। इन सब प्रकार की खोजों की चरम सीमा हमें मिश्रबन्धु कृत 'विनोद' (१९१३) में मिलती है।

बीसवीं शताब्दी के समालोचना क्षेत्र में हमें कुछ विद्वान् तो ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं, जो प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का निरूपण कर रहे थे—रस, छंद, अलंकार आदि पर लिख रहे थे। यद्यपि इस समय हिन्दी साहित्य में नवीन दृष्टि की अवतारणा हुई और पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात् करने की अथवा पाश्चात्य विचारों के प्रकाश में भारतीय परम्पराओं का पुनर्मूल्यांकन करने की प्रक्रिया तीव्र हुई, तथापि काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अथवा रीति की रूढ़िगत परम्परा का थोड़ा-बहुत निर्वाह अवश्य होता रहा। किन्तु इस रूढ़िगत परम्परा में विषय-प्रतिपादन अथवा विवेचन-शैली की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्टि से कुछ नवीनता है। इस दृष्टि से कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद 'भानु',-लाला भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'भानु' जी कृत 'काव्य प्रभाकर' (१९१०) में काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों की विवेचना मिलती है। विवेचना-प्रणाली स्पष्ट और तर्क-संगत है। लक्षण और उदाहरण दोनों ही उपयुक्त, सुबोध और सुलझे हुए हैं : भानु जी ने उदाहरण के रूप में हिन्दी साहित्य के अन्दर छंदों का संग्रह प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों, जैसे 'अलंकार प्रश्नोत्तरी,' 'रस रत्नाकर,' हिन्दी काव्या-लंकार,' 'छंद प्रभाकर' आदि का सार भी 'काव्य-प्रभाकर' में दे दिया है। 'काव्य-प्रभाकर' के विभिन्न मयूखों में छंद ('छंद प्रभाकर'), काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, संगीत, गद्य और उसके भेद, नायिका-भेद, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, काव्य दोष, काव्य-निर्णय, छंद-निर्णय, ध्वनि-भेद-निर्णय आदि अनेक विषय हैं। वास्तव में 'भानु' जी का यह ग्रंथ काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों और साहित्य-मर्मज्ञों के लिए अपूर्व भण्डार है। लाला भगवानदीन की प्रसिद्ध रचना 'अलंकार मंजूषा' (१९१६) में शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार और काव्य-दोषों पर विचार किया गया है। उन्होंने दोहों में लक्षण दिये हैं, किन्तु गद्य में विवेचना द्वारा लक्षणों का स्पष्टीकरण किया है। उदाहरण अत्यन्त सरस और चुने हुए हैं। कहीं-कहीं पर 'दीन' जी ने फ़ारसी और अँगरेजी के सदृश अलङ्कार भी दे दिये हैं। 'अलङ्कार मंजूषा' अपने विषय की एक उपयोगी पुस्तक है। कन्हैयालाल पोद्दार कृत 'काव्य-कल्पद्रुम' (१९२६)—१९३४ और १९३६ में क्रमशः 'रसमंजरी' और 'अलङ्कार-मंजरी'—बीसवीं शताब्दी की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। रसमंजरी में उनका नवीन दृष्टिकोण सामने आता है। उन्होंने काव्य में ध्वनि और अलङ्कार को प्रधान माना है। रस में भी उसी समय सौन्दर्य उत्पन्न होता है जब उसमें ध्वनि निहित रहती है और अलङ्कार तो आभूषण हैं ही। पोद्दारजी की व्याख्या-प्रणाली स्पष्ट और वैज्ञानिक है। उन्होंने 'काव्य-प्रकाश, का मत ग्रहण करते हुए काव्य-भेद, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, शब्द-शक्ति अर्थ-शक्ति, ध्वनि, रस, भावाभास, भाव-शान्ति, भाव-शबलता, भाव-सन्धि आदि विषयों का विवेचन किया है। पोद्दारजी ने लक्षण गद्य में दिये हैं। गद्य का आश्रय ग्रहण करने के कारण वे काव्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विस्तार से और गम्भीरता-पूर्वक विचार कर सके हैं। उनकी विवेचना-पद्धति में प्रौढ़ता है। 'अलंकार-मंजरी' में भी उनकी विद्वत्ता प्रकट होती है। 'रसमंजरी' की भाँति 'अलंकार-मंजरी' की भूमिका में भी उन्होंने प्रतिपाद्य विषय की सुन्दर विवेचना कर अन्य आचार्यों के मतों की परीक्षा की है। उनके ग्रन्थों में अनेक ऐसी बातें हैं, जो पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलतीं, जैसे उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा , युक्त रूपक, अयुक्त रूपक कारणातिशयोक्ति अदि भेद। वास्तव में 'काव्य-कल्पद्रुम' बीसवीं शताब्दी का काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। रस और अलङ्कार-सम्बन्धी यह एक प्रामाणिक रचना है और इससे ग्रन्थकार का आचार्यत्व प्रदर्शित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्जुनदास केडिया कृत 'भारती भूषण' (१९३०) अलङ्कार सम्बन्धी पुस्तक है। उसमें अलंकारों का विवेचन, लक्षण, उदाहरण आदि अत्यन्त उत्तम ढंग से दिए गए हैं। लक्षणों में कोई अस्पष्टता नहीं है। केडियाजी ने भेदों के अतिरिक्त मूल अलंकारों के लक्षण भी दिये हैं। उदाहरण देने में भी उन्होंने उदारता, मौलिकता प्रदर्शित की है। ग्रन्थ से केडियाजी की आलोचनात्मक शक्ति और मौलिकता प्रदर्शित होती है और उसमें अनेक ऐसी बातें हैं, जो अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। अलंकारों के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत ही सुलझे हुए हैं।

रस-सम्बन्धी आधुनिक रचनाओं में 'हरिऔध' कृत 'रसकलस' (१९३१) एक प्रसिद्ध एवं आदरणीय रचना है। ग्रन्थ की भूमिका में 'हरिऔध' जी ने रस और नायिका-सम्बन्धी अनेक प्राचीन और नवीन समस्यओं पर विचार कर अपनी कवि-सुलभ मौलिकता प्रदर्शित की है। उन्होंने लक्षण गद्य में दिये हैं, लेकिन उदाहरण रूप में स्व-रचित छंद प्रस्तुत किये हैं, जो बड़े ही सरस और अनूठे हैं। इस दृष्टि से 'रसकलस' हरिऔध जी की विवेचना-शक्ति और काव्य-प्रतिभा दोनों ही बातों का सुन्दर प्रमाण है। विषय की विवेचना करते समय कवि ने संस्कृत के ग्रन्थों का आश्रय लिया है। रस की उत्पत्ति, रस के साधन, रसास्वादन के प्रकार, आनन्दानुभूति, रस-दोष, रसाभास, शृङ्गार और वात्सल्य आदि विषयों पर उन्होंने विचार किया है। उनके सभी विचारों से सहमत हुआ ही जाय यह तो आवश्यक नहीं है, किन्तु वे विचार-णीय अवश्य हैं। 'रसकलस' की विशेषता यह भी है कि उसमें अनेक नवीन नायिकाओं का उल्लेख मिलता है। इन नायिकाओं की कल्पना के पीछे नवीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। 'हरिऔध' जी ने ग्रन्थ में सर्वत्र सुरुचि को स्थान दिया है और साहित्य-सम्बन्धी नवीन विकासों को दृष्टि-पथ में रखते हुए रस-वर्गी-करण और नायिका-भेद किया है। निस्सन्देह 'रसकलस' बीसवीं शताब्दी की रस सम्बन्धी एक श्रेष्ठ रचना है।

उपर्युक्त लेखकों और उनकी रचनाओं के अतिरिक्त सीताराम शास्त्री कृत 'साहित्य-सिद्धान्त' (१९२३), बिहारी भट्ट कृत 'साहित्यसागर' (१९३७), मिश्रबन्धु कृत,' 'साहित्य पारिजात' (११४०), डॉ० 'रसाल' कृत 'अलंकार पीयूष' आदि रचनाएँ भी इसी प्राचीन परम्परा की आधुनिक और एक प्रकार से अन्तिम कड़ियाँ हैं।

कुछ विद्वानों ने केवल पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का अध्ययन, मनन और प्रचार प्रारम्भ किया। किन्तु ऐसे लेख अभी प्राथमिक अवस्था में थे। पदुमलाल पुन्ना-लाल बख्शी के 'विश्व-साहित्य' में ऐसे ही लेखों का संग्रह है। तत्कालीन समालोचना-क्षेत्र में विद्वानों का एक समुदाय ऐसा भी था, जो भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपस्थित करना चाहता था। इस समुदाय में महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल अग्रगण्य थे।

बीसवीं शताब्दी के समालोचना-क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके 'हिन्दी नवरत्न' (१९१०-१९११) और 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३) में अनेक प्राचीन कवियों और उनकी साहित्यिक कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत किया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया है। इन दोनों ग्रंथों में उन्होंने रीति-कालीन परम्परा का—गुण-दोष-विवेचन वाली परम्परा का—अनुसरण करते हुए भी आधुनिक समालोचना-पद्धति का यत्र-तत्र परिचय दिया है। मिश्रबन्धुओं की समालोचना निर्णयात्मक समालोचना का वह रूप प्रस्तुत करती है, जिसमें समालोचक स्वयं जज बन जाता है। वह कुछ सिद्धांतों के आधार पर साहित्यिक कृतियों का मूल्य निर्धारित करता है, अपने सामने एक आदर्श रखता है। इसी समय पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी' का अध्ययन प्रस्तुत कर तुलनात्मक और स्वतन्त्र या भावना-प्रधान समालोचना को जन्म दिया। तुलनात्मक पद्धति से तो आलोचक का अध्ययन प्रकट होता है। किन्तु प्रभाववादी पद्धति में उनकी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि बहुत काम करती है। इसमें 'वाह! वाह', 'धन्य है', 'हाय-हाय' 'अफ़सोस!' आदि की बौछार रहती है। स्वतन्त्र या भावना-प्रधान समालोचना में आलोचक इतना तल्लीन हो जाता है कि मुख्य विषय का विवेचन छोड़कर वह भाव-लहरी में बह जाता है। आलोच्य रचना उसके भावों का आलम्बन बन जाती है। ऐसी आलोचनात्मक कृतियाँ रचनात्मक साहित्य का अंग बन जाती हैं।

इस समय की सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण समालोचना-पद्धति पं० रामचन्द्र शुक्ल की है। उन्होंने अपने 'काव्य में रहस्यवाद', 'चिन्तामणि' में संकलित लेखों, 'काव्य और प्रकृति', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और 'रस-मीमांसा' जैसी पुस्तकों और अन्य स्फुट लेखों तथा भाषणों में काव्य के स्वरूप, काव्य और जीवन, काव्य और प्रकृति, रस, काव्य का प्रयोजन, काव्य के विषय, भाषा, छन्द, अलंकार, काव्य और कला, रहस्यवाद और छायावाद, अभिव्यंजनावाद, साधारणीकरण आदि विषयों को प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के सिद्धांतों के प्रकाश में समझने का प्रयास किया है और काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याएँ सुलझाई हैं। शुक्लजी की विचार शैली गम्भीर, वैज्ञानिक और निष्पक्ष है। हिन्दी के समालोचना-क्षेत्र में इस समय शुक्लजी से अधिक समर्थ समालोचक दृष्टिगोचर नहीं होता। वे रसवादी थे और रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। काव्य में प्रेषणीयता, साधारणीकरण और लोक-मंडल की भावना को वे बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उन्हें प्राचीन और नवीन सिद्धांतों के सुन्दर समन्वय में विश्वास था। भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही वे आगे बढ़ना चाहते थे। उसका मर्म पहचानकर और नवीन पाश्चात्य सिद्धांतों के प्रति उदारता का भाव धारण कर ही वे साहित्य को परखना उत्तम समझते थे। उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी पर अध्ययन प्रस्तुत कर हिन्दी समालोचना को एक निश्चित रूप दिया। शुक्लजी द्वारा गृहीत इस पद्धति को हम व्याख्यात्मक पद्धति कह सकते हैं, जिसमें उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की पद्धति में साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है, जिससे रचनात्मक साहित्य के वर्गीकरण और विकास में सहायता पहुँचती है। समालोचक लेखक के दृष्टिकोण, मत आदि की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि पृष्ठभूमियों के साथ उदारता और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से गवेषणा करता है। कुछ विद्वानों ने इसे ऐतिहासिक समालोचनात्मक पद्धति भी कहा है। शुक्लजी द्वारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवर्तित इस परम्परा में श्यामसुन्दरदास, विश्वनाथ मिश्र, जगन्नाथ शर्मा, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा अन्य अनेक समालोचक हुए। इसमें समालोचक को वैज्ञानिक का दृष्टि-कोण ग्रहण करना पड़ता है।

हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में स्वर्गीय डॉ० श्यामसुन्दरदास का कार्य पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के आलोचना-सम्बन्धी सिद्धांतों को सुव्यस्थित रूप में रखना भर रहा है। उन्होंने अनेक अँगरेजी और संस्कृत-ग्रंथों का सार हिन्दी-पाठकों के सामने रखा। वास्तव में हिन्दी साहित्य को विश्वविद्यालयीय स्तर तक ले आने के लिए ही डॉ० श्यामसुदन्रदास ने सब जगह से सामग्री लेकर अपने ग्रंथों का निर्माण कर हिन्दी समालोचना के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। निस्संदेह यह एक महान् सेवा-कार्य था क्योंकि पं० रामचन्द्र शुक्ल की अपेक्षा उनका कार्य कुछ भिन्न था, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से सिद्धांतों की विवेचना नहीं की। हिन्दी पाठकों को सिद्धांतों से अवगत करा देना ही उनका प्रधान कार्य था। इस दृष्टि से उनका 'साहित्यालोचन' (१९२२) एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें साहित्य के लगभग सभी अङ्गों, जैसे कला, साहित्य, काव्य, कविता, गद्य-काव्य, रस, शैली साहित्य की आलोचना आदि विषयों का सैद्धांतिक विवेचन है। इस ग्रंथ में विचार बहुत ही सुलझे हुए हैं। हिंदी में यह अपने ढंग का एकमात्र ग्रंथ है। १९३१ में डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा डॉ० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल ने भारतीय नाट्यशास्त्र पर 'रूपक-रहस्य' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इस ग्रंथ का निर्माण भी हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लाभार्थ ही हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत नाट्य-शास्त्र पर एक प्रबन्ध और महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत नाट्य-शास्त्र पर एक छोटी-सी पुस्तिका के अतिरिक्त हिन्दी में भारतीय नाट्य-शास्त्र को समझाने के लिए कोई अच्छा ग्रंथ नहीं था, और न अभी है। 'रूपक-रहस्य' ने इस अभाव की पूर्ति की। उसमें रूपक का विकास, रूपक का परिचय, वस्तुविन्यास, पात्र, वृत्ति, रूपक रचना, रूपक उपरूपक, रस, रंगशाला आदि विषयों का विवेचन धनंजय कृत 'दशरूपक' तथा उस पर निर्मित धनिक की टीका के आधार पर किया गया है। अनेक स्थलों पर 'रसार्णवसुधाकर', 'साहित्य-दर्पण' और भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' का भी उपयोग हुआ है। लेखक ने इस गूढ़ विषय के अनेक अस्पष्ट और गूढ़ स्थलों को भली-भाँति समझने की चेष्टा की है और कई स्थलों पर स्वतन्त्र विवेचन भी किया है।

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी साहित्य में छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं का उद्भव और विकास का समय है। 'प्रसाद', पंत, 'निराला', महादेवी वर्मा तथा अन्य प्रसिद्ध कवियों ने अपनी मान्यताओं और अपने विशिष्ट काव्यगत सौंदर्य को स्पष्ट करने के लिए अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में अपने विचार व्यक्त किए। उनके विचार एक ओर तो द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित काव्य-गत सामाजिक मर्यादा और नैतिकता की प्रतिक्रिया के रूप में हैं। इन भूमिकाओं से हिंदी में एक समालोचना-पद्धति का जन्म हुआ जिसे 'स्वच्छन्दता-वादी समालोचना' नाम दिया गया है। इस पद्धति के अनुसार कवि की आन्तरिक संवेदना, ध्वन्यात्मक, भावाभिव्यक्ति, कल्पना-सौंदर्य, शब्द-चयन, व्यक्तित्व, अनुभूति,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि के आधार पर काव्य की समालोचना की गई। वास्तव में इस पद्धति में भारतीय रस-सिद्धान्त और पाश्चात्य संवेदनीयता का समन्वय है। सामाजिक मर्यादा और नैतिकता के मापदण्डों को स्वीकार करते हुए भी ये समालोचक काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। स्वयं छायावादी-रहस्यवादी कवि डॉ० नगेन्द्र आदि इस पद्धति का अनुसरण करते हैं। डॉ० मदान का आलोचनात्मक दृष्टिकोण व्यापक रूप से समाजशास्त्रीय और प्रगतिशील (प्रगतिवादी नहीं) है।

कम्यूनिज्म और मार्क्सवादी विचारों के प्रचार के साथ-साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समालोचना-पद्धति का प्रचार हुआ है। मार्क्सवाद 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' पर आधारित है। वह वस्तुजगत्, वर्ग संघर्ष, आर्थिक दृष्टि से उत्पादन और वितरण के साधनों आदि पर बल देता है। वह मनुष्य और उसकी दुनिया से परे धर्म, ईश्वर, आत्मा, भाग्य, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करता। सामन्तवाद और पूँजीवाद का वह घोर विरोधी है। उसके लिए व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं। वह सामूहिकता पर जोर देता है। सर्वहारा या शोषित मजदूर वर्ग के प्रति उसकी सहानुभूति रहती है। इन्हीं सब बातों तथा बौद्धिकता और यथार्थवाद के आधार पर वह मार्क्सवादी तथा प्रगतिवादी साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करता है। यह विचारधारा स्वयं अपने में काफी वैज्ञानिक है। किन्तु भारतीय मार्क्सवादी अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्तिवाला व्यक्ति होने के कारण इस समालोचना-पद्धति को व्यापक नहीं बना सका।

उपर्युक्त प्रधान समालोचना-पद्धतियों के अतिरिक्त फ्रॉयड, ऐडलर और युङ्ग (Jung) के मनोविश्लेषण के आधार पर श्री इलाचंद्र जोशी ने मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति का प्रचार किया है। इस पद्धति के अनुसार मनुष्य के अवचेतन या उपचेतन को प्रधानता देकर साहित्य में उसकी दमित वासनाओं या कुण्ठाओं या अपूर्ण इच्छाओं की अभिव्यक्ति मानी जाती है। साहित्य में मनुष्य इन्हीं दमित वासनाओं का उदात्तीकरण करता है। मार्क्सवादी आलोचक इस पद्धति का विरोध करते हैं, क्योंकि वह व्यक्ति पर आधारित है। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में अतियथार्थवाद (Surrealism) और अस्तित्ववाद (Existentialism) का भी कुछ-कुछ प्रचार हुआ है। इस समय सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रचार कम हो गया है उपर्युक्त वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किया गया है, अन्यथा एक ही समालोचक एक से अधिक प्रणालियों का आश्रय ग्रहण करता था। वास्तव में इस समय अभी हिन्दी समालोचना विविध 'वादों' के अधकचरे ज्ञान का Curio Mart (अजायबघर) बनी हुई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के बाद अभी तक हिंदी का कोई प्रतिनिधि समालोचक नहीं हुआ। हमारे यहाँ समालोचना का रूप स्थिर होने की सख्त जरूरत है, और इस कार्य के लिए साधना की आवश्यकता है।

काव्य : उन्नीसवीं शताब्दी

प्राचीन परम्परा : ब्रजभाषा काव्य

अभी तक हम गद्य का जिक्र कर रहे थे। भारतेन्दु-काल में हमारे पास जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूंजी थी, वह पुराने ढंग की कविता थी और कविता की इसी प्राचीन परम्परा का प्राधान्य बना रहा। प्राचीन शैली की कविता के घने वन में नवीन कविता स्वच्छ, किन्तु क्षीण जल-धारा के समान थी। प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत किशनजी आढ़ा (१८२२-२४ रचना काल), सूर्यमल मिश्र (१८१५-१८६३), भारतेन्दु, 'द्विजदेव', सरदार, हनुमान, द्विज कवि मन्नालाल, नकछेदी तिवारी, भुवनेश, 'ललित किशोरी', दत्त कवि, कविराजा मुरारिदान, रघुराजसिंह, रघुनाथदास, रामसनेही तथा अन्य कवियों ने शृङ्गार रस, अलंकार, पिंगल, नायक-नायिका-भेद, राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति, वीर रस आदि से सम्बन्धित रचनाएँ प्रस्तुत कीं। प्राचीन शैली की कविता का परिचय निम्नलिखित अवतरणों से प्राप्त किया जा सकता है :

'मुद मंजु मलिंद कहैं तिनके उर होकर केसर सालै लगीं।
सरदार सुभावनते गुनगो करतार कछू तक तालै लगीं॥
परजोन परेई पली तिनको बिन ओर निहार निकालै लगीं।
चरचा सुन के चित चातक की चित चाह चकोरनि पालै लगीं॥'

—सरदार

'मानै कानि काहू की न आनत कछुक उर,
लाज काज मानहुँ रसातल तले गये।
हारी हौं सिखाय तऊ ठानत न क्यों हूँ तोष,
ऐसे ही कछुक छल छंदन छले गये॥
द्विजदेव जा दिन ते दरस दिखाये कहूँ,
अति ही निकट मनमोहन चले गये।
होते जो हमारे तो हमारी कही मानते री,
बीस बिसे आली मेरे नैन बदले गये॥'

—'द्विजदेव'

'बूझत हो कहा बाकी दशा भुवनेश जू बात वृथा बहि जायगी।
साँची कहे पतियाहु नहीं नहिं काची कछू हम सों कहि जायगी॥
आस नहीं बचिबे की अबै पर प्यारी जऊ रहते रह जायगी।
बीस बिसे बन फूले पलासन देखि अँगारन सों दहि जायगी॥'

—'भुवनेश'

एक ही गाँव में बास सदा घर पास कहो इहिं जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती हैं॥
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचन्द' महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥'

—हरिश्चन्द्र

किन्तु कवियों को अब कविता का यह प्राचीन आदर्श खटकने लगा। पण्डित मदन-मोहन मालवीय 'मकरन्दलांछन' का कहना है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'भारत चारहुँ ओर दुखी दुःख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सो होय निवारन ॥
सो सब दूरि रहै मकरंद समै इन बातन में केहि कारन।
होय सो होय इहाँ नहिं भूलिनो राधिका रानी कदंब की डारन ॥'

नवीन परम्परा : ब्रजभाषा और खड़ीबोली

इस प्रकार हिन्दी कविता की नवीन धारा का जन्म हुआ। नवीन कविता यथार्थवाद-प्रधान है। वह समकालीन इतिहास को दोनों भुजाओं से आवृत किये हुए है। नवशिक्षित कवियों को देश का अधःपतन, देश की रूढ़िप्रियता, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, पुलिस और अदालती लोगों की लूटखसोट, देश के स्वार्थी अमीरों की स्वार्थपरता, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल, कपट, भारत की निर्धनता, पारस्परिक कलह और फूट आदि से सामूहिक हित की कोई आशा नहीं थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारत की दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं :

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
....अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
....तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
....अब जहँ देखहु तहँ दुःखहिं दुःख दिखाई ॥
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।
....धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई ॥
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई।'

अथवा

'बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहुँ न छोड़त याहि सों बँधे मोह के फाँस ॥'

अथवा

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥'

विचार-स्वातन्त्र्य के जन्म के साथ वे लोक कल्याण की बात सोचने लगे। भारतेन्दु नवयुग के अवतार और देश-भक्त कवि थे। उन्होंने देश-भक्ति, लोक-हित, समाज-सुधार, धार्मिक पुनर्निर्माण, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता आदि की आवाज सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया। उदाहरणार्थ, राधाकृष्णदास कहते हैं :

'प्रभु हो पुनि भूतल पर अवतरिए।
अपुने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ॥
धरम गिलानी होति जब ही जब तब-तब तुम वपु धारत।
दुष्टनि हरि साधुन निर्भय करि तबही धरम उबारत ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महा अविद्या राच्छस ने या देसहिं बहुत सतायो ।
साहस, पुरुषारथ, उद्यम, धन, सबही निधिन गँवायो ।।'

कवियों ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में राज-भक्ति तो अवश्य प्रकट की ।

'डिसलायल हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग ।
दृग भरि निरखहिं आज ते राज-भक्ति संयोग ।।

—भारतेन्दु

किन्तु साथ ही 'स्वतन्त्रता', आर्थिक उन्नति-सम्बन्धी माँगें, अँगरेजी राज्य के अन्तर्गत भारतवासियों के प्रति अत्याचार, भेद-भाव और दुर्व्यवहार का सविनय विरोध, बराबरी का दर्जा मिलने की माँग, अँगरेजी राज्य के कारण, वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से लाभ और दुष्टों से रक्षा होने पर हर्षावेग प्रकट करना, सर्वत्र शान्ति स्थापित करने के लिए राज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, जनसत्तात्मक प्रणाली की माँग आदि बातें नवीन हिन्दी कविता में अभिव्यक्ति पाने लगीं । कुछ बातों के उदाहरण इस प्रकार हैं । बालमुकुन्द गुप्त का कहना है :

'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर-दर ।
चाटहिं ताके वैर लपकि मानहि जो ठोकर ।।'

अथवा, प्रतापनारायण मिश्र का कहना है :

धन धरती जिन हरी सुकरिहैं कौन भलाई ।
जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई ।।
सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव ।
राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाव ।।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ब्रिटिश राज्य का गुणगान करते हुए कहते हैं :

'जिन मारयो सब दुष्ट जन, भली भाँति दै दण्ड ।
जयति कुइन विक्टोरिया, परम प्रताप प्रचण्ड ।।
यों बहु भाँतिन कर भारत उन्नति मनभावनि ।
तब उन्नति अपनी कीनो, तुम हिय हरषावनि ।।'

आदि ।

नवीन कविता के जन्म में मध्यम वर्ग का सबसे बड़ा हाथ था । भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी एक ओर तो जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने रखते थे, 'हिज़ मैजेस्टीज़ अपोज़ीशन' के रूप में, और दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्न करते थे । संक्षेप में तत्कालीन राजनीतिक जागृति कविता में चार रूपों में प्रस्फुटित हुई—पहला, देश-प्रेम और भारत की पराधीनता पर क्षोभ; दूसरा, भारत के दुःख-दारिद्रय और आर्थिक दुरवस्था पर संताप; तीसरा, राजनीतिक एवं शासन-सम्बन्धी सुधारों और जन-सत्तात्मक प्रणाली की स्थापना की माँग और ऐसी माँगों की पूर्तियों पर प्रसन्नता प्रकट करना, और चौथा आपस का मतभेद और भेदभाव भूलकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संगठित होना । सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कविता में न तो दयानन्दी मार्ग का अनुसरण किया गया है और न ईसाइयत का दम भरनेवाले नवशिक्षित भारतवासियों का। हिन्दी के कवि सनातन धर्म में ही समयोचित और भारतीय प्रतिभा के अनुकूल सुधार उपस्थित करना चाहते थे। उन्होंने सच्चे हिन्दू धर्म की स्थापना करनी चाही :

'अब मात दया कर देहु वर, लगे रहैं तुम्हारे चरन।
हिय सों न बिसारहिं हम कबहूँ अपनो साँचो हिन्दुपन ॥'

—बालमुकुन्द गुप्त

हिन्दी के कवियों ने कूपमण्डूकों को खूब लताड़ा। साथ ही वे मातृभाषा-प्रेम

'कल्याणि ! नागरि ! इती विनती सुनीजै
माता ! दयावति ! दया न कभी करीजै।
हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी।'

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

और स्वदेशी-प्रचार के कट्टर पक्षपाती थे। बाह्य परिस्थिति के प्रति सजगता प्रकट करने के साथ नवीन हिन्दी कविता के आन्तरिक रूप में भी परिवर्तन हुआ। प्रकृति-वर्णन उद्दीपन मात्र न रहकर प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण, सुन्दर दृश्यविधान और वन-स्थलियों के वर्णनों के रूप में रहने लगा। श्रीधर पाठक द्वारा प्रस्तुत एक प्रकृति-चित्र देखिए :

'बीता कातिक मास शरद का अन्त है।
लगा सकल सुखदायक ऋतु हेमन्त है ॥
ज्वार-बाजरा आदि कभी के कट गये।
खल्यान के काम से किसान निबट गये ॥
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे।
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे ॥....'

आदि।

अस्तु, हिन्दी काव्य भारतेन्दु-काल में नवीन क्षेत्रों और विषयों की ओर प्रवाहित हुआ। भाषा के रूप में ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा, यद्यपि भारतेन्दु की मृत्यु के बाद खड़ीबोली ने भी काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करना शुरू कर दिया था। हिन्दी कविता में जन-शैली का प्रादुर्भाव भी इसी समय दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानसंचय की प्रबल आकांक्षा लेकर और नीर-क्षीर-विवेक ग्रहण कर भारतेन्दु, श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक आदि ने देश की मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवन की आधार-शिला का निर्माण किया।

बीसवी शताब्दी : खड़ीबोली काव्य और उसकी नवीनताएँ

बीसवीं शताब्दी का हिन्दी-साहित्य स्वच्छन्द गति से चलता है और उसे स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) १९०० से प्रथम महायुद्ध के अन्त (१९१८) तक, और (२) प्रथम महायुद्ध (१९१८) से द्वितीय महायुद्ध (१९३९-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९४५) तक का काव्य-साहित्य छायावादी-रहस्यवादी (रोमांटिक), और प्रगतिवादी काव्य-साहित्य। भारतेन्दु-युग के बाद हिंदी कविता का यह दूसरा और तीसरा परिवर्तन-काल है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रबंध-काव्यों और गीति-काव्यों का एक प्रकार से नितान्त अभाव था। बीसवीं शताब्दी में महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, गीतिकाव्य आदि की रचना हुई और शब्द-भंडार, भाव-प्रकाशन-शक्ति आदि की दृष्टि से भाषा का नवीन विकास और खड़ीबोली का उत्कर्ष उपस्थित हुआ। प्राचीन काव्य अनुरंजक, बाह्य दृष्टि (भाषा, अलंकार, छन्द आदि) से सुन्दर और प्रकृति-चित्रण में उत्प्रेक्षा-मूलक था। उदाहरण के लिए, वर्षा ऋतु का एक प्रकृति-व्यापार की दृष्टि से वर्णन नहीं किया जाता था, वरन् एक विरहिणी के विरह को बढ़ानेवाला मानकर उसका वर्णन किया जाता था। नवीन काव्य बुद्धि पर प्रभाव डालने वाला, भावों तथा विचारों पर आधारित कल्पना-प्रसूत रूपवाला और प्रकृति-वर्णन में मनःकल्पित सभी दृश्यों की व्यंजना अथवा मानवीकरण करने वाला था। जैसे, निरालाजी 'संध्या-सुन्दरी' का वर्णन करते समय कहते हैं :

'दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे-धीरे....'

बीसवीं शताब्दी के काव्य में व्यक्तिवाद, गीति तत्त्व, लयात्मकता, मानसिकता, अँगरेजी के प्रभाव आदि का मिश्रण है। पं० सुमित्रानंदन पंत की यह कविता :

'किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार ?
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार ?....'

अँगरेजी के ओड्स (Odes) के अनुकरण पर है। इसी प्रकार अँगरेजी की Elegy का प्रभाव भी आधुनिक कविता पर दृष्टिगोचर होता है। यथा, पन्तजी की इस पंक्ति में :

'तुझको पहना जगत देख ले;—यह स्वर्गीय प्रकाश।'

'स्वर्गीय प्रकाश' अँगरेजी के 'heavenly light' या 'Divine light' का अनुवाद है। इस प्रकार भाव, भाषा आदि की दृष्टि से आधुनिक कविता पर अँगरेजी कविता का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। सारांश यह कि बीसवीं शताब्दी काव्य-प्रयोगों से निश्चित सिद्धांतों की ओर, इतिवृत्तात्मकता से भावपूर्ण कविता की ओर, और अलंकार, रस, गुण आदि से मानव-जीवन की उच्च वृत्तियों और भावनाओं की व्यंजना की ओर विकसित हुआ है। आगे की पंक्तियों में इन सब बातों का स्पष्टीकरण हो जायगा।

ऊपर उल्लिखित प्रथम भाग के अंतर्गत ब्रिटिश काल का हिन्दी काव्य-साहित्य परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विरोध प्रकट कर प्रकृति, मानव और जीवन के सम्बन्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण करता है। कवियों ने नवीन ज्ञान और संस्कृति के आलोक में काव्य का क्षितिज विस्तीर्ण बनाया और भाषा, छंद आदि की दृष्टि से रीति-कालीन परम्परा की अतिशय नियमबद्धता और पांडित्य-प्रदर्शन का विरोध किया। दूसरे शब्दों में, प्रथम भाग के अन्तर्गत काव्य-साहित्य ने प्रधानतः साहित्यिक परिवर्तन प्रकट किया। इस समय खड़ीबोली की कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता बनी रही। इस तथ्य का कुछ परिचय निम्नलिखित अवतरणों से मिल जायगा :

'ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा,
शून्य मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े॥'

—मैथिलीशरण गुप्त

'भ्रमण ही करते सबने उन्हें
सकल काल लखा सप्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही,
सविधि-रक्षण में व्रज-लोक के।
लख अपार प्रसाद गिरीन्द्र में,
व्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का;
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने' 'हरिऔध'

'मुरझा तन था, निश्छल मन था, जीवन ही केवल धन था,
मुसलमान हिन्दूपन छोड़ा, बस निर्मल अपना मन था,
मन्दिर में था चाँद चमकता, मसजिद में मुरली की तान,
मक्का हो चाहे वृन्दावन, आपस में होते कुरबान॥'

—एक भारतीय आत्मा

'प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन-छिन धारति।
विमल-अंबु सर मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति।
अपनी छबि पै मोहि आप ही तन-मन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर॥'

—श्रीधर पाठक

'सुन्दर-सुमन मृदुल-तृण-मण्डित भव्य भूमि की भूषा,
आती अठखेलियाँ दिखाती जिस पर उज्ज्वल ऊषा।
हंस-धवल हिम की श्रेणी को रश्मि-राजि जब छूती,
दिखलाती है विविध रंग वह प्रकृति नटी की दूती।'

—गोकुलचन्द्र शर्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'पीछे दृष्टिगोचर था गोल चक्र पूषण का
घूमता हुआ जो नील संपुटी में चलता।
मानो जलयान के वितल पृष्ठ भाग मध्य,
आता चला फेन पीत पिंड-सा उबलता।
उछल रहे थे धूमकेतु धुरियों से तीव्र
यान-केतु ताड़ित नभचक्र-था उछलता।
मारुत का, मन का, प्रवेग पड़ा पीछे जब—
आगे चला बाजि-यूथ आतप उगलता।'

—अनूप शर्मा

किन्तु दूसरे भाग के अन्तर्गत उसमें साहित्यिक परिवर्तन ही नहीं हुए, वरन् दार्शनिक और कलात्मक परिवर्तन भी हुए। विश्व की चेतना, सृष्टि का रहस्य, एकांत वेदना, अनंत निराशा, सर्वचेतनवाद आदि उसके दार्शनिक पक्ष के अंग हैं। यह दार्शनिकता पिछले काल की स्थूलता के विपरीत सूक्ष्म का प्रदर्शन करती हैं। निम्नलिखित अवतरणों की ऊपर के अवतरणों से तुलना करने पर यह अंतर स्पष्ट हो जायगा :—

'बीती विभावरी जाग री!
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी।
'खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा;
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी
मधु-मुकुल-नवल-रस-गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज वन्द किये,
तू अब तक सोयी है आली!
आँखों में भरे विहाग री!'

—जयशंकर 'प्रसाद'

जागो फिर एक बार!
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण किरण
जागो फिर एक बार!
आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसी;
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या सोयी कमल-कोरकों में ?
वन्द हो रहा गुंजार ...'

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'....कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने,
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा;
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा;
मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ !'

—महादेवी वर्मा

'पावस-ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़;
अवलोक रहा है वार-वार
नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल।'

—सुमित्रानन्दन पंत

कलात्मक दृष्टि से प्रथम रूप के अन्तर्गत मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ-वध' में परिवर्तन उपस्थित किया था, किन्तु द्वितीय रूप के अन्तर्गत प्रतिभा की अभिव्यंजना की गई। संगीत, चित्रांकन, अर्थ और नाद-व्यंजना आदि बातों से काव्यकला को नवीन रूप मिला। भाषा, शैली, छन्द आदि की दृष्टि से भी अनेक साहित्यिक परिवर्तन हुए। खड़ीबोली अब प्रधान काव्य-भाषा हो गई थी। द्वितीय भाग के अन्तर्गत गीति-तत्त्व को विशेष रूप से प्रधानता मिली।

प्रथम भाग से सम्बन्धित मैथिलीशरण गुप्त ('भारत भारती', 'जयद्रथ वध', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि रचनाएँ), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ('प्रियप्रवास', 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे', 'वैदेही बनवास', 'मर्मस्पर्श' आदि रचनाएँ), मुकुटधर पाण्डेय, रामचरित उपाध्याय, श्रीधर पाठक, बद्रीनाथ भट्ट, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पं० गोकुलचन्द वर्मा ('प्रणवीर प्रताप', 'मानसी', 'गांधी-गौरव', 'तपस्वी तिलक', 'अशोक-वन'), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ-महाकाव्य', 'मुनाल' खण्डकाव्य, सुमनांजलि') आदि प्रधान कवि हैं। दूसरे भाग के कवियों में 'प्रसाद' (झरना', लहर',

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'आँसू', 'कामायनी' आदि रचनाएँ), पंत ('ग्रन्थि', 'वीणा', 'पल्लव', 'युगांत', 'ग्राम्या', 'युगवाणी', 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' आदि रचनाएँ), 'निराला' ('परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका', 'अपरा' आदि रचनाएँ), महादेवी वर्मा ('नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य गीत', 'दीपशिखा' आदि रचनाएँ) आदि प्रमुख हैं।

नवीन काव्य की विशेषताएँ

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (१९०४) ही रूस-जापान युद्ध हुआ जिसमें जापान जैसे छोटे-से देश ने रूस जैसे शक्तिशाली राज्य पर विजय प्राप्त की। इस विजय का भारतवासियों पर प्रभाव पड़ा। वे एशियाई होने के नाते इस विजय पर उल्लास प्रकट किए बिना न रह सके और साथ ही इससे उनकी राष्ट्रीयता का पोषण हुआ। चारों ओर अँगरेजी-विरोधी भावनाओं का प्रचार हुआ। विदेशी वस्तुओं के बायकाट और स्वदेशी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। पारस्परिक भेद-भाव भूलकर भारतवासी एकता के सूत्र में संगठित हो विदेशियों का मुकाबला करने के लिए कटिबद्ध होने का प्रयत्न करने लगे। इस नवीन प्रवृत्ति के साथ-साथ भारतेन्दु-काल से चली आ रही पुनरुत्थान की भावना और भी बलवती हो उठी। वे अपने अतीत गौरव का गुणगान कर आत्मबल और विश्वास का अनुभव करने लगे। वंग-भंग और होमरूल आन्दोलनों के फलस्वरूप भी स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता के भावों का अधिकाधिक प्रचार हुआ। हिन्दी के कवियों ने देश में प्रचलित इन भावों को स्वभावतः अपनाया और वे वातावरण के अनुकूल साहित्य-निर्माण में प्रवृत्त हुए। गौरव-गान के साथ-साथ देश के पतन पर भी उन्होंने हार्दिक क्षोभ प्रकट किया। भारतेन्दु-काल में हमें राष्ट्रीय भावना से इन दोनों रूपों का अस्तित्व मिलता है और प्रथम महायुद्ध तथा सत्याग्रह-आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ उनका उत्तरोत्तर विकास होता गया। १९०० से १९२० तक के काल में राष्ट्रीय भावना तो विद्यमान थी, किन्तु देश में उसका व्यावहारिक सक्रिय रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों के कवियों में श्रीधर पाठक का नाम उल्लेखनीय है। वे अँगरेजी साहित्य से प्रभावित और प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक थे। किन्तु स्वदेश-प्रेम भी उनकी रचनाओं का एक अभिन्न अंग है। उन्होंने भारत देश के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट की। 'एकांतवासी योगी' और 'ऊजड़ ग्राम' का उन्होंने अँगरेजी से अनुवाद किया। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ('त्रिशूल') की रचनाओं में देश-प्रेम और जातीयता कूट-कूटकर भरी हुई है। उन्हें अपने देश पर अभिमान है। सत्यनारायण 'कविरत्न' देश-भक्ति प्रकट करते समय विह्वल हो जाते हैं। उन्होंने अपनी 'शिव-भारत' शीर्षक कविता में भारत के भौगोलिक रूप को शिव की मूर्ति के समान ठहराया है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। किन्तु इस समय के इन कवियों में राष्ट्रीयता की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त का स्थान सर्वोपरि है। उनकी 'भारत-भारती' (१९१२), 'किसान' (१९१७), 'वैतालिक' (१९१९), 'स्वदेश संगीत' (१९२५) आदि अनेक रचनाओं में स्वदेश-प्रेम और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। देश के गौरव ने उनकी रचनाओं को अनुप्राणित किया है। उन्हें भारतीय संस्कृति के गौरव और उसकी महानता में पूर्ण आस्था है। भगवान् तथा अन्य अनेक महापुरुषों की लीला-भूमि होने के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि पर गर्व है और वर्तमान हीनावस्था को दूर करने के लिए 'हरि' को उसके अतीत गौरव की बार-बार याद दिलाते हैं। भारतवर्ष उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर फिर आसीन हो, यह उनकी प्रार्थना है। देशवासियों को उद्बोधित करने के लिए उन्होंने आदर्श पुरुषों के चरित्र उनके सामने रखे।

बीसवीं शताब्दी की काव्य-रचना में प्राचीन विषयों का नवीन ढंग से मूल्यांकन या प्रतिपादन भी मिलता है। उदाहरण के लिए, 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया और रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' में राम की कथा राजनीतिक दृष्टि से प्रस्तुत की है। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने राम आदि में विश्वास प्रकट करते हुए भी उनके अलौकिक रूप का चित्रण नहीं किया। उनकी 'साकेत'[1] (१९३२), 'यशोधरा' (१९३३) और बाद की रचनाएँ

---

१. मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' के रचना-उद्देश्य और उसके नायक-नायिका के सम्बन्ध में हिन्दी के कुछ आलोचकों ने पाठकों को काफ़ी भ्रम में डाल रखा है। एक आलोचक ने लक्ष्मण को नायक और उर्मिला को नायिका माना है, तो एक दूसरे आलोचक ने भरत को नायक (!) और उर्मिला को नायिका (!!!)। मैं स्वयं इन दोनों मतों से कभी भी सहमत नहीं रहा। उर्मिला सब जगह छाई हुई इसलिए प्रतीत होती है, क्योंकि गुप्तजी ने राम-कथा में उर्मिला को स्थान देने के लिए आवश्यकता से अधिक उत्साह प्रदर्शित किया। वास्तव में राम-कथा के मानचित्र में उर्मिला का रंग-भदरंग था या था ही नहीं, उसे गुप्तजी ने इतना गहरा रंग दिया है कि सारे मानचित्र में वही रंग दिखाई देता है। जब से राम-कथा की रचना प्रारम्भ हुई तब से लेकर अब तक देश के बड़े-बड़े कवियों ने जिस उर्मिला की उपेक्षा की थी, उसे स्थान देने में गुप्तजी का उत्साह स्वाभाविक तो माना जा सकता है, किन्तु इससे 'साकेत' में दोष उत्पन्न हो गया है। मेरे मत की पुष्टि स्वयं गुप्तजी द्वारा चिरगाँव से २१-२-६२ को लिखे गए पत्र से होती है जो मेरे पास सुरक्षित है और जिसे अविकल रूप में मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :—

जैसे 'रघुवंश' में एक बड़े वंश का वर्णन है, वैसे ही 'साकेत' में एक बड़े परिवार का। उसका प्रत्येक सदस्य अपने स्थान पर नायकत्व का अधिकारी है।

'साकेत' नाम भी इसलिए रक्खा गया है कि उसमें मुझे एक साथ सब के दर्शन प्राप्त हो गये हैं। बहुत पहले गाँधीजी के साथ 'साकेत' के सम्बन्ध में मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उसमें भी मैंने यही निवेदन किया था। यदि रघुवंश का रघु वंशनायक है तो 'साकेत' में उसका एक पूरा कुटुम्ब भी क्यों नहीं हो सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। छोटे-छोटे देवी-देवताओं में तो कवियों को बिलकुल विश्वास न रह गया था। हाँ, राष्ट्रीय वातावरण में रहने के कारण उन्होंने पौराणिक महापुरुषों और मध्यकालीन वीरों का वर्णन किया। मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग', 'विकट भट', 'गुरुकुल' आदि में, भगवानदीन ने 'वीर पंचरत्न' में, सियारामशरण गुप्त ने 'मौर्य विजय' में तथा अन्य अनेक कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में ऐतिहासिक या मध्यकालीन वीरों के त्याग, साहस और शौर्य का गान किया और निर्भीकता, युद्ध-कौशल, स्वाभिमान, देश-प्रेम आदि गुणों की ओर संकेत किया।

"मैं अधिकतर साकेत में ही रहा हूँ। इसलिये स्वाभाविक ही है, कि उर्मिला मेरे सम्मुख अधिक रही। 'रघुवंश' में भी राम के विषय में औरों से अधिक लिखा गया है।

"फिर भी कुछ लोग उर्मिला-लक्ष्मण को ही नायकत्व देते हैं परन्तु उसका यथोचित निर्वाह कर सकने में मुझे असमर्थ पाते हैं। अपनी असमर्थता मुझे अस्वीकार्य नहीं। मेरा इतना ही कहना है कि उर्मिला-लक्ष्मण अकेले नहीं उनके स्वजन और गुरुजन भी उनके साथ हैं। केवल गुरुजन ही नहीं; उनके आराध्य भी।

"यदि इतने से आपको सन्तोष न हो तो कृपया आप मुझे क्षमा करें मैं आपका समाधान करने में असमर्थ हूँ।

आपका
मैथिलीशरण गुप्त"

३१-१-६२ के पत्र में उनका फिर यही कहना है :—

'साकेत' में मैंने एक परिवार का चित्रण किया है। लक्ष्मण और उर्मिला को ही आप नायक-नायिका मानें तो आपको उनके छोटे-बड़े स्वजनों को भी मान लेना चाहिए।

शुभांकाक्षी
मैथिलीशरण गुप्त"

इन दोनों पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'साकेत' में एक परिवार का वर्णन है जिसमें उर्मिला को स्थान दिया गया है। दूसरे शब्दों में, 'साकेत' में पूरी राम-कथा है। उस राम-कथा में उर्मिला को स्थान देते समय गुप्तजी आवश्यकता से अधिक उत्साह दिखा गये हैं, यह दूसरी बात है। नायकत्व के सम्बन्ध में भी गुप्तजी का मत स्पष्ट है—अर्थात् जहाँ लक्ष्मण के आराध्य राम उपस्थित हैं वहाँ लक्ष्मण और उर्मिला के नायकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में, 'साकेत' के नायक राम और नायिका सीता हैं—लक्ष्मण और उर्मिला नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैथिलीशरण गुप्त

जिस राष्ट्रीय चेतना का जन्म भारतेन्दु और उनके समकालीन साहित्य में हुआ था, वह मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में अपनी सीमा पर पहुँच जाती है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, भारतेन्दु की काव्य-चेतना, भारतीय नवोत्थान की भावना के समान, द्विमुखी थी—एक मुख अतीत की ओर था, तो दूसरा भविष्य की ओर। जिस संक्रमण-काल में उनका आविर्भाव हुआ था, उस समय यही संभव था। यही चेतना बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में और अधिक तीव्र हो उठी। एक ओर राष्ट्रीय जागरण था, तो दूसरी ओर नैतिक एवं चारित्रिक गठन की आवाज थी। दोनों ही प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं। अतः इस समय के अधिकतर कवियों का युग-बोध उनके मन में रम नहीं पाया था। मैथिलीशरण गुप्त ने वैष्णव संस्कार ग्रहण करते हुए देश-काल के अनुरूप काव्य-रचना की, और युग-चेतना को काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान की। इतना ही नहीं, और भी जो नवीन प्रवृत्तियाँ उन्हें अपने जीवन-काल में दृष्टिगोचर हुईं, उन्हें भी उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया। उन्होंने युग की माँग का, प्रत्यक्ष जीवन का काव्य के साथ रसमय संबंध स्थापित किया। अपने युग के अनुकूल मूल्यों की स्थापना का श्रेय गुप्तजी को निस्संकोच दिया जा सकता है। वे राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के कवि थे। उन्होंने नैतिक चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कर उसे सांस्कृतिक रस से आप्लावित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण कार्य था। इन सब बातों के अतिरिक्त गुप्तजी ने खड़ीबोली को पुष्ट और समृद्ध बनाया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ब्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध थे। गुप्तजी ने खड़ीबोली में साहित्यिक सौष्ठव ही उत्पन्न नहीं किया, वरन् जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नई संवेदनाओं और नए सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति के लिए भी उसे सक्षम तथा वैविध्यपूर्ण बनाया और उसके सहज-स्वाभाविक काव्योचित रूप की स्थापना की।

मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि भारतीय जीवन के अतीत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करती हुई विस्तृत काव्यफलक प्रस्तुत करती है। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कथाओं की दृष्टि से उसकी काव्य-परिधि अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। उसमें वेदों से लेकर समकालीन राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि जीवन के विविध पक्षों का समावेश है। गुप्तजी ने ऐसे अनेक विविध विषय ग्रहण किए, जिनकी ओर पहले के कवियों का ध्यान भी नहीं गया था। भारतीय और पश्चिमी संस्कृतियों के सम्मिलन द्वारा उत्पन्न प्रभाव को भी उन्होंने आत्मसात् किया। उनका काव्य-साहित्य राष्ट्रीय जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करता है। जिस गाँधीयुग में उनका आविर्भाव हुआ, उनकी लगभग सभी मूल प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में प्रतिबिंबित हुई हैं और इससे उनकी जागरूकता प्रकट होती है। महाजनी सभ्यता में पालित-पोषित होने पर भी उन्हें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी, जिसने उनसे उनके कवि-धर्म का निर्वाह कराया। प्रेमचन्द राष्ट्र के बाह्य रूप में रमे हुए थे। 'प्रसाद' दार्शनिक-सांस्कृतिक की खोज में लगे रहे। गुप्तजी में दोनों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पक्षों के समन्वय के साथ-साथ लोक-भावना और युग-चेतना भी है। वे प्रत्येक दृष्टि से प्रगतिशील थे (प्रगतिवादी नहीं)। भारतीय सांस्कृतिक जीवन का सार तत्त्व ग्रहण करते हुए वे उसे अधिकाधिक विकसित होते हुए देखना चाहते थे। प्राचीन और नवीन दोनों के प्रति उनमें ऐसी आस्था थी, जो उन्हें निरन्तर प्रगति की ओर ले जानेवाली थी। किन्तु उनकी प्रगति की भावना चिरन्तन तत्त्वों की खोज और स्वधर्म पर आधारित थी। युगधर्म से अधिक महत्त्व उन्होंने स्वधर्म को दिया। जो भी नीति या दर्शन उन्होंने ग्रहण किया, उसे वैष्णव धर्म के रंग में रँग दिया ओर इस प्रकार एक संतुलित जीवन-दृष्टि ग्रहण कर अपनी कला को भव्य रूप प्रदान करते हुए भी उसे जीवन-धारा के निकट रखा। वास्तव में गुप्तजी की आधुनिक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना और उनकी सगुण वैष्णव-भावना उनके मानव-मूल्य पर आधारित थी और उन्हीं से उनके जीवन-मूल्य निःसृत हुए। उनमें मानव-कल्याण की भावना प्रमुख है। वैष्णव-भावना के अनुकूल करुणा उनके काव्य में सर्वत्र अनुस्यूत है। वे आदर्शवादी थे और उनका आदर्शवाद भी मानव-सापेक्ष था, न कि कोरी कल्पना का कुतूहल मात्र। सच तो यह है कि भारतीय पुनरुत्थान काल में जिस मानव सापेक्ष सत्य की कल्पना हुई थी, वह गुप्तजी के काव्य में पूर्णरूपेण प्रतिफलित हुई। उनका जीवन-दर्शन भी वैष्णव-भावना और युग-भावना का समन्वय प्रस्तुत करता है, जिसमें लोक-कल्याण की भावना ही सर्वोपरि है। गुप्तजी 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' की भाँति प्रकृति और सौन्दर्य के कवि नहीं थे और न उनका ध्यान मन की सूक्ष्म गहराइयों की ओर ही गया। उनकी दृष्टि मानव-सापेक्ष ही अधिक रही। उनकी करुणा भी मानव-जीवन के बीच प्रतिफलित होती है और यही उनके काव्य का मूल स्रोत है। उनकी सगुणोपासना ने शायद उन्हें यही सिखाया था। मानव-चेतना ही उनके रस का मूलाधार है, न कि आत्मानन्द। प्रबन्ध-काव्यों के रचयिता होने के कारण उनकी रचनाओं में रस-वैविध्य मिलता अवश्य है, किन्तु वह करुण की भाँति व्यापक नहीं है। अन्य रस यथास्थान मर्यादित एवं संयमित रूप में ही रहते हैं। 'साकेत' के नवम सर्ग के प्रारंभ में उन्होंने करुण के प्राधान्य की ओर संकेत भी किया है। अपने प्रबन्ध काव्यों में मानव-जीवन की मार्मिक घटनाओं का उद्घाटन करना उनके जीवन-दर्शन का ही कलात्मक रूप है। कथा-संगठन, छन्दों की विविधता, नाटकीयता, मौलिक उद्भावनाएँ, गीति-तत्त्व आदि बातें उनकी कला की विशेषताएँ हैं। उनकी भाषा में तराश-खराश और मुहावरेदानी का अभाव है। वह व्यावहारिक, स्वच्छ, स्पष्ट, गद्य-भाषा के अधिक निकट, व्याकरणसम्मत, समासगुणपूर्ण और संस्कृत की तत्सम शब्दावली से समन्वित भाषा है। खड़ीबोली के क्रमिक विकास के सभी रूप उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं।

वास्तव में गुप्तजी अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि थे। समन्वयवादी, आत्मोन्नति और लोक-कल्याण के पोषक प्रसारधर्मी कवि थे।

मैथिलीशरण गुप्त, मोहनलाल महतो, माखनलाल चतुर्वेदी, 'त्रिशूल', श्यामनारायण पाण्डेय, 'दिनकर' आदि ने राष्ट्रीयता की भावना से पूर्ण, अपने देश पर मर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिटने वाले सत्याग्रही वा अन्य वीरों को भी, केवल देश-प्रेम के अतिरिक्त, काव्य-विषय बनाया। इन्हीं कवियों ने सामान्य मानव, जैसे, कृषक, मजदूर, अछूत, विधवा-नारी, कृषक-वधू आदि को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने आर्य समाज से प्रेरणा ग्रहण कर हास्यरसपूर्ण व्यंग्यात्मक और उपदेशात्मक काव्य की रचना की। मानव के प्रति सहानुभूति के अन्तर्गत ही 'प्रसाद' ('प्रेम-पथिक'), रामनरेश त्रिपाठी ('मिलन' और 'पथिक'), सुमित्रानन्दन पंत ('ग्रन्थि') आदि ने प्रेम का जीवन-तत्त्व के रूप में वर्णन किया। प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से परम्परा का निर्वाह थोड़ा-बहुत प्रथम भाग के कवियों में मिलता है। किन्तु द्वितीय भाग के छायावादी-रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति का चेतन रूप स्थापित किया। इन कवियों ने उसी पर अपनी आध्यात्मिक या आंतरिक भावनाओं का आरोपण किया और उसके सौन्दर्य को स-प्राण वस्तु के रूप में चित्रित किया। प्रकृति-चित्रण का यह रूप आधुनिक हिन्दी काव्य की अपनी विशेषता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९००-१९२० के कवियों ने प्रकृति-प्रेम और स्वच्छ प्रेम और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण काम किया। इस काल की कविताओं में इतिवृत्तात्मकता तो अवश्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसी समय की कहानियों ने आगे आनेवाली वैयक्तिकता-प्रधान छायावादी काव्य रचनाओं की भूमि तैयार की। जो प्रवृत्ति इस समय कुछ अस्पष्ट थी, वह छायावादी युग में स्पष्ट हुई। भाषा और भावों के क्षेत्र में रूढ़ियों और परम्पराओं का तिरस्कार कर कवियों ने एक नवीन युग की भूमिका बाँधी।

काव्य-रूपों और शैलियों की दृष्टि से प्रथम भाग के कवियों ने प्रबन्ध और खण्डकाव्यों की रचना अधिक की। वे कोई-न-कोई पद्य-बद्ध कहानी कहते हैं। दूसरे भाग के छायावादी-रहस्यवादी कवियों ने गीति-तत्त्व को प्रधानता दी। उन्होंने ही प्राचीन छन्द-प्रणाली के विरुद्ध सबसे अधिक असंतोष प्रकट किया और नये-नये छन्दों की रचना की। मुक्त छन्द इन्हीं कवियों की देन है। भाषा में भी उन्होंने ध्वनि-व्यंजक शब्दों, चित्रमय विशेषणों, भाव-व्यंजक संज्ञाओं, संगीतात्मकता और अँगरेजी अभिव्यंजनाओं के रूपान्तरों के माध्यम द्वारा नवीनता उत्पन्न की। वैसे काव्य-भाषा खड़ीबोली में तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग एक सामान्य विशेषता है।

बीसवीं शताब्दी : ब्रजभाषा काव्य

बीसवीं शताब्दी में ब्रजभाषा की प्राचीनता काव्य-परम्परा का भी क्षीण रूप मिलता है। इस परम्परा का पालन करनेवालों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न 'वियोगी हरि', वचनेश मिश्र, डॉ० 'रसाल' और 'सनेही' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'रत्नाकर' जी ने अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रस्तुत कीं, किन्तु उनकी 'गङ्गावतरण' और 'उद्धव-शतक' दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वास्तव में 'रत्नाकर' जी ने भाषा, भाव, विषय, छन्द, शैली आदि सभी दृष्टियों से प्राचीनता का पालन किया। इसीलिए उन्हें आधुनिक काल में प्राचीन कवि कहते हैं। उनकी कविता की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा तो भक्त-कालीन है, किन्तु बाह्य शरीर रीति-कालीन है। इस रूप में वे भक्त और रीतिकालों के बीच की सुन्दर कड़ी हैं। उनकी व्रजभाषा प्रौढ़, परिष्कृत और व्याकरण-सम्मत है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' अपने प्रकृति-वर्णनों के कारण प्रसिद्ध हैं। सत्यनारायणजी अपनी भावुकता और सरसता के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। 'भ्रमर गीत' उनकी प्रसिद्ध रचना है, जो नन्ददास की याद दिलाती है। वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' में वीर रस का व्यापक अर्थ में प्रयोग कर दोहों में दानवीर, सत्यवीर, धर्मवीर, युद्धवीर आदि का वर्णन किया है। वचनेश का 'शबरी' काव्य मधुर सवैयों में लिखा गया है। व्रजभाषा में रस-कथा-सम्बन्धी यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट एवं ललित काव्य है। वास्तव में व्रजभाषा-काव्य-रचना अब एक परम्परा-पालन के रूप में है। यथार्थ जीवन में अब उसका कोई स्थान नहीं रह गया था। 'रत्नाकर' जी के 'उद्धव-शतक' का एक छन्द इस प्रकार है :

'विरह विथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीनि सौं।
कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधो कौं कहन-हेत व्रज जुवतीनि सौं॥
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥'

'पूर्ण' जी का एक छन्द देखिए :

'कंचन के भूखन सँवारे पुखराज वारे,
धारी जरतारी पीत सारी मुख कारी है;
सूनी दुपहर से निदाघ की विहारी पास,
पूरन सिवारी वृषभानु की कुमारी है।
व्रजचन्द्र ध्यान में मगन रसखान प्यारी,
तातौ पौन लेखत वसंत की वयारी है;
आतप अखंड चंडकर की प्रचंड सोऊ,
मानत सुचन्द की अमंद उजियारी है।'

सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमर गीत' से कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

'अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोए-धोए पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक, शुक, कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूटि-कूटि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।
लखि यह सुषमा जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी-घुमड़ी तन उर अकुलानी॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुधि-बुधि तजि माथौ पकरि, करि-करि सोच अपार।
दृगजल मिस मानहु निकरि वही विरह की धार।
कृष्ण रटना लगी।'

कविवर 'वचनेश' शवरी के हृदय की दशा व्यक्त करते हैं :

'दृग केमरा तारक लेन्स किए
खरी दीठि को फोकस दूरि सौं लाए।
विन लागे हिए को तहाँ
प्रतिबिम्ब कितेक परे औ विलाए।
जिनको कीन्हों चह्यों चित्रित, सो
सहसा रवि से प्रतिबिम्बित पाए।
चकचौंध चितेरिनि आप भई
नहीं चित्र खिचे अपनै खिचि आए।'

नवीन काव्य की प्रवृत्तियाँ

जिस समय हम प्रथम महायुद्ध के वाद की काव्य-धारा की चर्चा करते हैं, उस समय राष्ट्रीय काव्य-प्रवृत्ति के अतिरिक्त छायावाद-रहस्यवाद और प्रगतिवाद शब्द हमारे सामने आते हैं। उस समय काव्य की यही प्रधान प्रवृत्तियाँ रही हैं, यद्यपि राष्ट्रीय तथा अन्य गौण प्रवृत्तियों का अस्तित्व भी बना रहा। इसलिए उन्हें भी संक्षेप में समझ लेने की आवश्यकता है।

छायावाद-रहस्यवाद

किसी भी देश या जाति की मान्यताएँ सदैव एक-सी नहीं रहतीं। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों से जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार मान्यताएँ भी बदलती रहती हैं। इतिहास इस प्रकार के परिवर्तनों का साक्षी है। मध्यकालीन जीवन के मूल्य भारतेन्दु-काल में नहीं थे, और जो मूल्य भारतेन्दु-काल में थे, वे वीसवीं शताब्दी में नहीं रहे। परिवर्तन का यह क्रम कभी मन्द रहता है, कभी तीव्र, किन्तु रहता अवश्य है। विना उसके जीवन की निश्चेष्ट गति मृत्यु के समान है। छायावाद-रहस्यवाद के जन्म के मूल कारण लगभग समान हैं। ये दोनों साहित्यिक 'वाद' या प्रवृत्तियाँ देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं के कारण जन्म ले सकी थीं। सामाजिक दृष्टि से हिन्दी कवियों का समाज में कोई स्थान नहीं था। अँगरेजियत के आगे उन्हें कोई न पूछता था। आर्थिक दृष्टि से हिन्दी के कवि निम्न-मध्य वर्ग या निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। वे अत्यधिक निर्धन थे। निर्धनता के कारण उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ और मन की अभिलाषाएँ अपूर्ण रह जाती थीं। ऐसी हालत में शिक्षित होने के कारण उनकी और भी बुरी दशा थी। राजनीतिक दृष्टि से उनकी आशाओं पर पानी फिर गया था। अँगरेज़ों ने उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएँ दी थीं। इन्हीं आशाओं के बल पर गाँधीजी ने प्रथम महायुद्ध में अँगरेज़ सरकार को अपना सहयोग प्रदान किया था। उधर आतंकवादियों के प्रयास भी विफल हो रहे थे। इन कारणों से देश में निराशा की एक लहर फैल गई। वैसे भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप अनेक परम्परागत मान्यताओं को आघात पहुँचा। राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार गाँधीजी ने सूक्ष्म आत्मिक बल पर, सत्याग्रह पर ज़ोर दिया, उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में कवियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो उठी। वे अपनी अतृप्त अभिलाषाओं, टूटे हुए स्वप्नों और कुण्ठित वासनाओं को लेकर अपने एक अलग काल्पनिक जगत में विचरण करने लगे। अस्तु, छायावाद-रहस्यवाद का मूल दार्शनिक नहीं, भौतिक है। उसके मूल में तत्कालीन जीवन की परिस्थितियों के साथ-साथ सांस्कृतिक नवजागरण की भावना निहित थी। कवियों ने अपनी-अपनी भावनाओं को किसी-न-किसी दार्शनिक आवरण में ढक कर अवश्य प्रस्तुत किया। साथ ही द्विवेदी-युग (१९००-१९१८) की काव्यगत इतिवृत्तात्मकता तथा स्थूलता और आदर्शों की प्रतिक्रिया और अँगरेज़ी के रोमांटिक कवियों की 'काव्य-रचनाओं के अध्ययन के फलस्वरूप छायावाद को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

छायावाद में कवि विश्व के कण-कण में प्राणों की छाया देखता है और उसमें व्यक्तिवादी भावनाएँ प्रकट की जाती हैं। उसमें विषय नहीं, स्वयं कवि और उसका राग-विराग प्रधान हो जाता है। उसमें कवि का अन्तरंग जीवन होता है। व्यक्तिगत आशा-निराशा, सुख-दुख, व्यथा, वेदना आदि से उसकी कविता ओत-प्रोत रहती है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों में वेदना का स्वाभाविक प्रवाह पाया जाता है :

'मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू लड़ियाँ देखो,
मेरे गीले पलक छुओ मत मुर्झाई कलियाँ देखो,

अथवा

'मैं नीर भरी दुख की बदली !
जल-कण हो रज-कण में बरसी,
नव-जीवन-अंकुर हो निकली !'

अथवा, निम्नलिखित पंक्तियों में कवि के हृदय का विषाद व्यक्त हुआ है :

'विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द,
यहाँ किसका अनन्त यौवन !'

—महादेवी

छायावादी कवियों की दृष्टि में जीवन सुख-दुःख के युगल पुलिनों के बीच में प्रवाहित होता है। छायावाद में कवि की आत्मानुभूति मन की गति तक सीमित है और दार्शनिक पक्ष में जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मय तक :

'न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता रहता मौन !'

—पन्त

उसमें कवि की कल्पना या चिन्तना या अनुभूति रहती है। जीवन को विषम परिस्थितियों के विपरीत उसे कल्पना-लोक में सुख मिलता है। अनंतस्वरूपा प्रकृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के क्षेत्र में वह खुलकर कल्पना का खेल खेलता है और छन्द का वातावरण डालकर अपनी अभिव्यक्ति करता है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, वह आशा, निराशा, सुख-दुख, व्यथा-वेदना प्रकट करता है। किन्तु ये बातें कल्पना के साहचर्य और छन्द, अलंकार, काव्योचित भाषा आदि के संयोग से प्रकट होती हैं। कवि अपनी व्यथा-वेदना, सुख-दुख आदि को विश्व की व्यथा-वेदना, सुख-दुख के रूप में रखकर सर्व-ग्राह्य बनाता है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी अनुभूति को प्रधान रखता है। चिंतन की अवस्था में कवि संसार के बारे में सोचता है। अनुभूति की अवस्था में वह इस बात का अनुभव करता है कि किस व्यथा-वेदना, हर्ष-शोक, सुख-दुख आदि को वह किस रूप में रख रहा है। छायावादी कवि प्रकृति का चेतन स्वरूप देखता है। वह प्रकृति को निर्जीव या कोरे उद्दीपन-रूप में नहीं मानता। उस पर कवि अपनी भावनाओं का आरोपण करता है, अर्थात् अपने मन पर पड़ी प्रतिक्रिया का चित्रण करता है। वह कहता है :

'सिखा दो ना अयि मधुप कुमारि, अपने मीठे-मीठे गान,

इसके अतिरिक्त प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा अथवा नारी के अतीन्द्रिय सौंदर्य के प्रति अपने कौतूहलपूर्ण दृष्टिकोण द्वारा वह अपने अवचेतन मन में दबी हुई शृङ्गार-भावना प्रकट करता है :

'तारिका-सी तुम दिव्याकार
चन्द्रिका की झंकार,
प्रेम-पंखों पर उड़ अनिवार,
अप्सरा-सी लघु भार।'
'तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ बसंत रजनी !

—महादेवी

रजनी का यह चेतन व्यक्तित्व व्यापक है और उसमें स्थूलता के स्थान पर व्यापक व्यंजना और सूक्ष्म कल्पना तथा ध्वनि है। प्रकृति पर नारी का आरोपण करता हुआ कवि कहता है :

'बीती विभावरी जाग री !
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी !....

—'प्रसाद'

अथवा, जुही की कली का वियोगिनी तरुणी के रूप में इस प्रकार मानवीकरण हुआ है :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'विजय बन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल-तनु तरुणी जुही की कली !....

—'निराला'

वास्तव में कवि की जो इच्छाएँ वास्तविक जगत् में पूर्ण न हो सकीं, उन्हें वह काल्पनिक जगत् में भाषा की लाक्षणिकता द्वारा पूर्ण करने लगा। कविता लिखकर कवि समझ लेता है कि उसकी इच्छा पूरी हो गई—Illusion.

छायावाद में आत्म-निष्ठ और स्वानुभूति-प्रकाशन और सौन्दर्योपभोग की आकांक्षा या रूमानी प्रवृत्ति प्रधान रहती है। उसमें ऊपर की सभी विशेषताएँ आपस में संयुक्त रहती हैं। वास्तव में छायावाद की चेतना में कवि की सौन्दर्य-वृत्ति रही है। उसमें लौकिकता का रंग अधिक रहता है जिसके उदाहरण 'प्रसाद' कृत 'आँसू' में मिलते हैं :

'शशि-मुख पर घूँघट डाले
आँचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये !'

और अनुभूति का आलंबन हृदय से बाहर रहता है। मूलतः यह प्रेम-सौंदर्य का काव्य है। उदाहरणार्थ, सौंदर्य की मूर्ति नारी को छायावादी कवियों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। निम्नलिखित पंक्तियों में एक 'सुन्दरी नारी' का रूप देखिए :

'शिला खण्ड पर बैठी वह, नीलांचल मृदु लहराता था;
मुक्ति बन्ध संध्या-समीर-सुन्दरी संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था,
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल-छू-छूकर
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी मार बड़े प्यार से इठलाते थे।'

—'निराला'

छायावादी कविता पर संस्कृति-काव्य, रीतिकालीन काव्य, उर्दू शायरी, अँगरेजी की रोमांटिक कविता और रवीन्द्र-कविता का भी प्रभाव है।

ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से रहस्यवाद की अवतारणा हिन्दी साहित्य के मध्य-युग में कबीर तथा अन्य सन्त कवियों द्वारा हुई थी और इनसे पहले नाथपंथी योगी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति कर चुके थे। कबीर की ये निम्नलिखित रहस्यवादी पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं :

'माली आवत देखकर कलियाँ करी पुकार।
फूली-फूली चुन लई, काल्हि हमारी बार॥'

कवि ने मूर्त आधार का आश्रय ग्रहण कर जीवन-मृत्यु सम्बन्धी दार्शनिक भावना व्यक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की है। यह रहस्यवाद परम ज्ञान और दार्शनिक सत्य का हृदय के माध्यम द्वारा अनुभव कराता है। सृष्टि के रहस्य और विराट की शाश्वत खोज ही कवि के शब्दों में प्रकट होती है :

'नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी;
तान भी, आघात भी, झंकार गति भी;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी।'

—महादेवी

आधुनिक काल में छायावाद और रहस्यवाद दोनों एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं, किन्तु तब भी दोनों में अन्तर है। छायावाद हीं जब अध्यात्म का पर्दा अपने ऊपर डाल लेता है, तो वह रहस्यवाद का रूप धारण कर लेता है। इसलिए रहस्यवाद में अनन्त के साथ सम्बन्ध की भावना प्रधान रहती है, उसमें सूक्ष्म आध्यात्मिकता रहती है, व्यक्त द्वारा अव्यक्त की ओर संकेत रहता है :

'ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे'

—'प्रसाद'

रहस्यवादी कवि दिव्य विभूति से आश्चर्य-चकित होता है, चुप हो जाता है, समझ नहीं पाता, भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं, उन्माद छा जाता है। जीवन में 'उसका' अभाव खटकने लगता है। 'प्रियतम' के विरह से उत्पन्न वेदना हृदय को व्याकुलता की तीव्रता से भर देती है :

'नहीं अब गाया जाता देव !
थकी अँगुली, हैं ढीले तार,
विश्व वीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार !'
'आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या, कैसी बाधा !
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं !'

●

'एक करुण अभाव में चिर—
तृप्ति का संसार संचित;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'एक लघु क्षण दे रहा
निर्वाण के वरदान शत-शत;
पा लिया मैंने किसे इस
वेंदना के मधुर क्रय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?'

●

'है पीड़ा की सीमा यह
दुःख का चिर सुख बन जाना !'

—महादेवी

ऐसी अवस्था में संसार की सब वस्तुएँ हेय प्रतीत होने लगती हैं और अद्वैत भावना उत्पन्न हो जाती है। कवि विरह की आराधना करते-करते आराध्यमय हो जाता है और ससीम में असीम समा जाता है, नाव में नदी समा जाती है, घोंघे में समुद्र समा जाता है। वह जीवन में अनन्त शक्ति और चेतना का अनुभव प्राप्त करता है।

प्रकृति के विभिन्न रूपों में रहस्यवादी विश्वात्मा की अनुभूति प्राप्त करता है, न कि कुतूहलपूर्ण आकर्षण (जो छायावादी कवियों में पाया जाता है)। कवि में आत्म-समर्पण की भावना और अन्तःकरण की स्फूर्ति तथा आत्मा के आनन्द की तन्मयता उत्पन्न हो जाती है।

'सखि मैं हूँ अमर सुहागभरी !
प्रिय के अनन्त अनुरागभरी !'

—महादेवी

कबीर, मीरा आदि ने अपनी तीव्र भावनाओं का प्रकटीकरण करते समय 'दुल-हनि', 'सेज', 'पिया', 'महल' आदि लौकिक माध्यमों का प्रयोग किया था, क्योंकि उस दिव्य अनुभूति को व्यक्त करने का कोई अन्य माध्यम नहीं। आधुनिक रहस्यवादी कविता में उसी प्रकार के शृङ्गारपूर्ण लौकिक माध्यमों का व्यवहार मिलता है :

'शशि के दर्पण में देख-रेख,
मैंने सुलझाये तिमिर - केश,
गूंथे चुन तारक - पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं ?'

—महादेवी

इन पंक्तियों में वर्णित शृङ्गार आध्यात्मिक शृङ्गार है; जो मन के आह्लाद और उत्साह का सूचक है।

रहस्यवादी की भी सारी अनुभूति व्यक्तिगत होती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रहस्यवादी कवियों की दार्शनिकता, उनका सर्वात्मवाद केवल बौद्धिक होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, पुस्तक-ज्ञान पर आधारित रहता है। उनके व्यावहारिक जीवन में उसका नामो-निशान तक नहीं मिलता। अनुभूति प्रकट करने के लिए उनकी भाषा साथ नहीं देती। इसीलिए छायावादी-रहस्यवादी कवि की भाषा प्रतीकात्मक हो जाती है :

'क्या न तुमने दीप बाला ?
यह न झंझा से बुझेगा
बन मिटेगा, मिट बनेगा
भय इसे है हो न जावे
प्रिय तुम्हारा पन्थ काला।'

अथवा

'शलभ मैं शापमय वर हूँ!
किसी का दीप निष्ठुर हूँ!'

—महादेवी

छायावादी-रहस्यवादी काव्य-रचना से हिन्दी में गीति-काव्य की परम्परा पुष्ट हुई है।

रहस्यवाद या तो चिंतन-मनन के रूप में या आंतरिक व्यथा, वेदना और व्याकुलता की अनुभूति के रूप में प्रकट हुआ है। 'प्रसाद' और महादेवी की रचनाओं में क्रमशः ये दोनों रूप मिलते हैं।

छायावादी कवि जब किसी सुन्दर पुष्प को देखता है तो उसमें अपनी निजी भावनाएँ आरोपित करता है, उसमें अपनी भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखता है, अथवा अपने मन पर पड़ी प्रतिक्रिया का वर्णन करता है। रहस्यवादी कवि उसे देखकर एक ऐसी सत्ता का अनुभव करता है, जो उस फूल के सौन्दर्य से ही नहीं, वरन् समस्त विश्व में व्याप्त है और जिससे साक्षात्कार करने के लिए वह तड़प उठता है यथा :

'गाओ - गाओ कुसुम बालिके,
तरुवर से मृदु - मङ्गल - गान
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूं स्नान।'

इसमें कवि ने अपने पार्थिव प्रेम के सम्बन्ध में कुसुम-बालिका के माध्यम द्वारा अपनी मानसिक प्रतिक्रिया प्रकट की है, किन्तु रहस्यवादी कुसुम में अनन्त सत्ता का आभास देखेगा :

'सुमन में तेरा मधुर विकास,
कली में नव-नव अस्फुट हास।'

इस उदाहरण से छायावाद-रहस्यवाद का भेद स्पष्ट हो जाता है।

छायावाद-रहस्यवाद का जन्म किन्हीं भी कारणों से हुआ हो, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि आधुनिक काव्य-साहित्य में उनके द्वारा अनुपम सौन्दर्य और कलात्मकता की सृष्टि हुई, भाव और भाषा दोनों क्षेत्रों में। 'स्वानुभूति की अभिव्यक्ति'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने के कारण छायावाद और रहस्यवाद दोनों में मुक्तक-विधान (गीति-तत्व) ही प्रधान है, न कि प्रबन्धात्मकता। संक्षिप्ति, गेयत्व और आत्मानुभूति की तीव्रता उनकी विशेषताएँ हैं। गीति-तत्त्व स्वच्छन्दतामूलक है और परम्परा-त्याग, असन्तोष की भावना, सौन्दर्य-प्रेम, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, आदि ने उसे बल दिया है। हिन्दी साहित्य के मध्य युग में भी मुक्तक लिखे गये थे। किन्तु कवियों का उस समय ध्यान शास्त्रीय सीमाओं के भीतर रस-परिपाक की ओर अधिक रहता था। आधुनिक गीतों में व्यक्तिगत सहज अनुभूति की तीव्रता रहती है इस व्यक्तिगत अनुभूति का भी जब तक साधारणीकरण नहीं होता, तब तक वह आनन्द का संचार करने में असमर्थ रहती है। छायावादी-रहस्यवादी कवियों ने प्राचीन छन्द-प्रणाली के विरुद्ध सबसे अधिक असंतोष प्रकट किया और नये-नये छन्दों की रचना की। मुक्त छन्द इन्हीं कवियों की देन है। जड़ प्रकृति को आलम्बन बनाकर उस पर अपनी भावनाओं का आरोपण करने के कारण उन्हें लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। फलतः उनकी भाषा में लाक्षणिकता पाई जाती है। लाक्षणिकता के अतिरिक्त उन्होंने ध्वनि-व्यंजक शब्दों, चित्रमय विशेषणों, भाव-व्यंजक संज्ञाओं, संगीतात्मकता, अँगरेजी अभिव्यंजनाओं के रूपान्तरों के माध्यम द्वारा भाषा में नवीनता उत्पन्न की। काव्य-भाषा खड़ीबोली में तत्सम शब्दों का प्रयोग उसकी एक सामान्य विशेषता है।

'छायावाद' शब्द का प्रचार १९२० में हुआ। यह शब्द न तो बँगला से आया और न अस्पष्टता का ही द्योतक है। वास्तव में आगे चलकर छायावादी काव्य का जो विकास हुआ, उसे देखते हुए यह शब्द उचित नहीं है। जून, १९२१ की 'सरस्वती' में सुशीला और उसके पति हरिकिशोर की छोटी-सी कहानी के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस शब्द का प्रचार सूक्ष्म भाव-समन्वित, किन्तु सामान्य काव्य-कला-रसिकों के लिए सरलतापूर्वक समझ में न आ सकने वाले काव्य के लिए प्रचलित हुआ और बाद में यही शब्द बना रह गया। बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास भी होता रहा, यद्यपि कुछ लोगों ने उसे शैली और प्रतीक-विधान के रूप में स्वीकार अवश्य किया। वास्तव में छायावाद बीसवीं शताब्दी के हिन्दी कवि के मन पर पड़े प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न चेतना का प्रतीक है।

कुछ प्रमुख छायावादी-रहस्यवादी कवि : 'प्रसाद'

छायावादी-रहस्यवादी युग में अनेक ऐसे कवि हुए जिनकी रचनाओं से आधुनिक हिन्दी साहित्य को गौरव प्राप्त हुआ है। उनकी रचनाओं में प्रयासहीन स्वच्छन्दतावादी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। इन कवियों में से सर्वप्रथम उल्लेखनीय कवि 'प्रसाद' हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेमी हृदय की पुकार और विश्व की विशालता में परम हृदय झलकता है। उनमें प्रकृति प्रेम और जिज्ञासा की भावना है। पार्थिव सौंदर्य के प्रति प्रारम्भ से ही वे आकृष्ट हुए और उनके जीवन में यौवन का विलास अंत तक रहा। इसी सौंदर्य और यौवन की उद्दाम लीला को उन्होंने दिव्य भावना से मंडित कर प्रकट किया। कवि की जीवन के प्रति एक बौद्धिक धारणा थी, जो जीवन के सत्य और कल्याण के लिए आवश्यक-सी बन गयी थी। उनके जीवन की उठान ही ऐसी थी कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसमें प्यास के साथ ही संतोष और संघर्ष के साथ ही एक निष्क्रियता या निस्संगता के दर्शन होते हैं। जीवन के प्रति आकर्षण होते हुए भी कवि में एक तटस्थ वृत्ति है। उनके काव्य में मानवीय सुषमा तो है, पर उनका 'स्व' अलग ही रहता है। उस समय उनकी वासनाएँ प्रेम हो आती हैं, रमणीयता चिर सौंदर्य बन जाती है। उनका प्रकृति दर्शन मानव-सापेक्ष होने से उनका काव्य मानव के रूप वर्णन से भरा हुआ है। यह एक श्रेय की बात है, यहाँ उनका रूप-वर्णन अत्यन्त वैभव एवं विलास के वातावरण से घिरा हुआ मांसल है, वहाँ भी अश्लीलता नहीं आने पाई। उनका काव्य रूप के श्रेष्ठतम चित्रों में भरा हुआ है। इन चित्रों में शब्द पूर्ण व्यंजना लेकर उपस्थित हुए हैं। कहीं-कहीं अलंकृत पद-योजना द्वारा मानव-सापेक्ष प्रकृति चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं—'बीती विभावरी जाग री····।' कवि के पीछे सर्वत्र यौवन का चिर ममत्व साथ-साथ चलता है। परन्तु यह ममत्व संकुचित अथवा भावात्मक नहीं है। उसके मूल में कवि का अतिमानवीय रूप, जीवन की साधना और वास्तविकता है। इसलिए उसमें प्रेम और त्याग, अधिकार और आत्म-विसर्जन, भोग और निग्रह दोनों ही बातें पाई जाती हैं। कवि शुद्ध वर्तमान में रह सकने में असमर्थ था। साथ ही अतीत भी उसके निकट वर्तमान ही बना रहा। फलतः करुणा और विषाद से भरी रचनाओं में भी अलंकृत वैभव की पार्श्व-भूमि है। विविध रंगीनियों में भी कवि जीवन की निश्चल ज्योति लिए खड़ा है। वह स्थिर है, उसमें बौद्धिक निस्संगता है। कवि 'प्रसाद' के गीतों में भावना एवं अनुभूति की मृदुता और मानव-जीवन के उत्कर्ष का गौरव है। उनकी अनुभूतियों में मनोनिवेश है, आत्म-संवेदन है, प्रसाद गुण है और कल्पना, भावना एवं अनुभूति का समन्वय है। उनके गीतों में दार्शनिक और आध्यात्मिक संकेत है, मानव-जीवन के साथ प्रति पग पर मानव की अनुचरी प्रकृति का सामंजस्य है। उनमें शब्दों की मृदुलता, ध्वन्यात्मकता और संगीतात्मकता है। इन सबके बाद उनमें जीवन का तत्त्व-ज्ञान है। उनके विरह में कटुता नहीं। वह तो आत्मा को बल देने वाला है। उनकी भाषा भी पुष्ट और परिमार्जित है। उस पर उनके चिन्तन-मनन और अनुभूति की पूरी छाप है।

पन्त

भौतिक दृष्टि से पंतजी का पालन-पोषण प्रकृति-सुषमा की गोद में हुआ था। उन्होंने लिखा है—'कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माञ्चल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।····और यह शायद पर्वत प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह, निश्चल रूप से अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया।' वास्तव में पंतजी आधुनिक युग में प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध होने वाले सबसे अधिक भावुक कवि हैं। प्रकृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के नाना व्यापारों में उन्हें कवि-सहज अन्तर्दृष्टि प्राप्त है। 'पल्लव'-कालीन कविताओं में वे सच्चे अर्थों में छायावादी कवि हैं। उन्होंने प्रकृति में एक शक्ति और रहस्य देखा जहाँ-कहीं उन्होंने प्रकृति को मानवीकरण से निरपेक्ष रखकर चित्रित किया है, वहाँ बहुत ही रमणीय दृश्य-विधान उपस्थित हो गया है। प्रकृति-प्रेम के अतिरिक्त उन्होंने स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से अपने प्रकृति-दर्शन के ज्ञान और विश्वास को अभिवृद्धि की है। 'परिवर्तन' में वे उनके वेदान्त-सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। यूरोपीय कवियों और रवीन्द्रनाथ द्वारा गृहीत सौंदर्य-भावना से भी पंतजी ने प्रेरणा ग्रहण की है। राष्ट्रीय नवजागरण ने भी पंतजी को प्रभावित किया और 'युगांत', 'ग्राम्या', 'युगवाणी' आदि में वे प्रकृति से मानवतावाद की ओर आकृष्ट हुए। लोग उन्हें साम्यवादी और प्रगतिवादी पुकारने लगे। सच बात तो यह है कि उन्होंने अपने को किसी राजनीतिक 'वाद' के खूंटे से न बाँधकर भौतिकता और आध्यात्मिक चेतना का, मार्क्स और गाँधी का समन्वय उपस्थित करने की चेष्टा की। कवि होने के नाते मानवतावाद उनमें प्रारम्भ से ही था। जाग्रत कवि की तरह उन्होंने युग-धर्म के अनुकूल परिस्थितियों का अनुसरण किया। मानव-जीवन में जो रूढ़िग्रस्त और जीर्ण-शीर्ण है उसका वे संहार करना चाहते हैं। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण धूलि' 'गीत-अगीत' (१९७७) आदि रचनाओं में वे श्री अरविन्द की बिचार धारा से प्रभावित होकर अध्यात्मवाद की ओर झुके हैं और विश्व-मानव और विश्व-संस्कृति के उत्थान का विश्व-चेतना का आशापूर्ण संदेश देते हैं। इस विशाल सांस्कृतिक उत्थान में वे मानवता का स्वर्ण प्रभात देखते हैं। वास्तव में पंतजी के छायावाद वाले रूप से लेकर आध्यात्मिक उल्लास वाले वर्तमान रूप तक बराबर एकसूत्रता मिलती है। अंतर केवल इतना है कि जो रूप पहले गौण था, वह अब प्रधान हो गया है। और, सबमें उनका व्यक्तिवादी रूप ही व्यक्त हुआ है। पंतजी की गीति-रचनाओं में अनुभूति की तीव्रता उतनी नहीं पाई जाती जितना उनमें कल्पना का प्रसार है। क्षणिक तथा क्षीण अनुभूति को भी कल्पना के सहारे रमणीय बना देने की कला में पंतजी प्रवीण हैं, किन्तु अपनी इस कला के साथ-साथ यदि उसमें उनके हृदय का भी योग होता तो वास्तव में पंतजी एक अद्वितीय कवि होते। खड़ी बोली की शक्ति का विकास करने में पंतजी का बड़ा हाथ है। उनका भाषा-शिल्प गौरव की वस्तु है। वह चित्रमय, सस्वर, संगीतमय है, उसमें पूर्ण व्यंजनाशक्ति और ध्वन्यात्मकता है। उन्होंने भाषा को रुचिरता और सौन्दर्य-श्री प्रदान की।

'निराला'

छायावादी-रहस्यवादी कवियों में 'निराला' जी का भी उच्च स्थान है। सैद्धांतिक दृष्टि से वे वेदान्त मत के अनुयायी थे और उन पर स्वामी विवेकानन्द के विचारों, वैष्णव कवियों और वंग भाषा की गीति-पद्धति का प्रभाव था। ज्ञान एवं वेदांत-सबंधी विषयों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया। किन्तु व्यापारिक दृष्टि से वे कट्टर वेदांती नहीं ठहरते। वैषम्य का कारण उनका कवित्व है। अद्वैत और काव्य की रागात्मक विभूति का सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। इसीलिए निरालाजी अपने काव्य में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वत्र सैद्धांतिक शुष्कता नहीं हटा सके। फलतः उनके गीतों की अनुभूति का क्षेत्र सीमित हो गया है। उनके गीत दार्शनिकता और ज्ञान के बोझ से दबे हुए हैं। बुद्धि-तत्त्व की प्रबलता के कारण उनकी कविताओं में दुर्बोधता और काठिन्य आ गया है। अपने आवेगों पर संयम न रख सकने के कारण उनकी कविताएँ जटिल हो गई हैं। उनके भावों की अविरल धारा में अप्रासंगिकता आ जाती है, जिसे पाठक ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। वे पूर्णतः स्वच्छन्दतावादी कवि हैं, किंतु पंतजी की भाँति अत्यधिक व्यक्तिवादी कवि भी नहीं हैं। उनका विद्रोही और परुष व्यक्तित्व उनकी कविताओं में सर्वत्र विद्यमान है। जहाँ तक प्रकृति-दर्शन का सम्बन्ध है 'निराला' जी ने प्रकृति के नाना रूपों तथा व्यापारों का मानवीय दृष्टिकोण से वर्णन किया है। यदि प्रकृति-व्यापार के चित्रित रूप की अन्योक्ति-कल्पना न की जाय तो उनकी अपूर्व मार्मिकता और सहृदयता का परिचय मिलता है। कवि में प्रकृति के निरीक्षण की सूक्ष्मता और सहृदयता है। मानवीय परिधि से बाहर जाकर प्रकृति के स्वतंत्र रूप-व्यापार को देखने की प्रवृत्ति कवि में अधिक नहीं है। यदि यह भी होती तो 'निराला' जी हिन्दी में एक नवीन आदर्श की स्थापना करते। आधुनिक हिन्दी साहित्य में उनकी प्रसिद्धि का श्रेय उनकी नवीन छंद-व्यवस्था को भी है। मुक्त छंद में रचनाएँ कर उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उनके मुक्त छंदों में लय के बंधन के अतिरिक्त अन्य कोई बंधन नहीं है और उनमें उनके मनोवेग स्वाभाविक, तीव्र और श्रुति-मधुर रूप में प्रकट हुए हैं। उनके छंदों में लय की इतनी अधिक प्रधानता है कि साधारण पाठक या गायक के लिए उनके गीत दुरूह हो जाते हैं। मुक्त छंद में उन्होंने दो प्रकार की रचनाएँ की हैं—एक विषम मात्रिक सांत्यानुप्रास और दूसरी विषम मात्रिक अन्त्यानुप्रासहीन या पूरा स्वच्छंद। दूसरे प्रकार की रचनाओं में ही काफी विलक्षणता मिलती है। 'निराला' जी यह नहीं मानते कि मुक्त छंद बिल्कुल ही मुक्त है। उनके मतानुसार मुक्त छंद तो वह है, जो छंद की भूमि में रहते हुए भी मुक्त है। 'निराला' जी की प्रतिभा मुक्तक और गीतों तक ही सीमित नहीं रही। उनकी लगभग सभी प्रसिद्ध कविताओं में कोई-न-कोई कथात्मक अंश अवश्य रहता है। वह बात पंतजी में नहीं पाई जाती। 'पंचवटी', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा' आदि सर्वोत्तम कविताओं के विषय आख्यानों-जैसे हैं जिनमें वस्तु-योजना के साथ-साथ कवि को कल्पना-प्रसार के लिए भी अवसर मिला है। मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने साम्राज्यवादी शासन-नीति और पूँजीवाद समाज पर भी अत्यन्त सुन्दर व्यंग्य किए और जगत् और जीवन की वास्तविकता का अनुभव कर पद-दलितों और उपेक्षितों के प्रति अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया। ऐसी रचनाओं में यथार्थता को स्थान मिला है और भाषा भी सरल है। उनकी रचनाओं की भाषा का प्रवाह भी पाठक को मुग्ध कर लेता है। जिन कविताओं में उनकी बौद्धिकता प्रधान हो जाती है, वे भावों की दृष्टि से ही शुष्क और नीरस नहीं हो जातीं, वरन् उनकी भाषा भी दुरूह हो जाती है। जहाँ हृदय-तत्त्व प्रधान है, वहाँ 'निराला' जी ने संस्कृत की सुन्दर कोमल-कांत पदावली का प्रयोग किया है। वास्तव में उन्होंने अपने को किसी विशेष प्रणाली में नहीं बाँधा। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि की रचना की। काव्य में 'निराला' जी नई-नई उद्भावनाएँ देते और उन्हें गति प्रदान करते रहे। उनके जीवन का व्यक्तित्व-बोध उनके काव्य में है और उसमें है एक भव्यता और मर्यादा।

महादेवी

छायावादी-रहस्यवादी काव्य-परम्परा में यदि पंतजी अपनी सौन्दर्य-भावना और सुकुमारता के लिए प्रसिद्ध हैं, तो महादेवीजी की कविता में वेदना की प्रमुखता है। उनकी रचनाओं में व्यक्त वेदना लोकोत्तर स्तर तक पहुँच जाती है। ससीम में रहकर भी उन्होंने सूक्ष्म अपार्थिव अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है, अलौकिक वेदना प्रकट की है। वेदना उन्हें प्रिय है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—'दु:ख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की सीढ़ी तक न भी पहुँचा सकें, किंतु हमारा एक बूंद रक्त भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दु:ख सबको बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जलबिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।' इसी मोक्ष को लेकर महादेवीजी चली हैं। उनका फिर कहना है—'मुझे दु:ख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।' जो अलौकिक वेदना उनकी कविता के मूल में है, वही उनके दु:ख का दूसरा रूप है। उसका स्थूल रूप उनकी गद्य रचनाओं में मिलता है। दु:ख और करुणा द्वारा वे लोक-जीवन के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हैं। इसलिए हृदय की पीड़ा भी उन्हें मधुर लगती है। असीम सत्ता के साथ प्रणय-संबंध स्थापित करते समय उन्होंने लौकिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। भगवान् बुद्ध की करुणा के योग से उनकी संवेदनशीलता 'प्रसाद' के 'आनन्दाम्बुनिधि' का रूप ग्रहण रूर लेती है। वे 'विश्वात्मा' का अनुभव कर उस संवेदनशीलता को व्यापकतम रूप प्रदान करती हैं, लोक के साथ रागात्मकता का अनुभव करती हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, वे 'विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना' को मिला देना चाहती हैं। मनुष्य के बाह्य स्थूल जीवन की अपेक्षा वे उसके आन्तरिक सूक्ष्म जीवन को अधिक वास्तविक मानती हैं। अपने जीवन की विरह-पीड़ा, प्रणय-निवेदन, विरह-उच्छ्वास आदि की प्रतिच्छाया ही उन्होंने प्रकृति में देखी है। 'प्रेम और ज्ञान' के सामंजस्य से महादेवी जी की रहस्य-भावना हिन्दी साहित्य में अपना स्थान स्थापित कर चुकी है। दार्शनिक दृष्टि से उनकी अज्ञात सत्ता असीम है और उसने अपने सूनेपन के भाव से विश्व-प्रतिमा का निर्माण किया है। 'वह' प्रेम-पात्र ही नही, प्रेममय भी है, 'वह' आकर्षित करता और आकृष्ट होता है। 'असीम होते हुए भी वह ससीम के लिए व्याकुल रहता है।'

'महादेवीजी का रहस्यवाद-भावात्मक है, न कि साधनात्मक और वह प्रेम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परक, दार्शनिक, भक्ति और प्रकृति-परक है। वे विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष सत्ता का आभास पाकर जिज्ञासा प्रकट करती हैं। फिर समस्त दृश्य जगत् से व्यापक सत्ता का आभास पाती हैं और आत्मा-परमात्मा और प्रकृति-परमात्मा का निरूपण करती हैं। तत्पश्चात् अपनी आत्मा और प्रकृति में उसका प्रतिबिम्ब देखकर उस असीम के लिए तड़प उठती हैं। अन्त में वे अपने अस्तित्व में ही प्रियतम के अस्तित्व का अनुभव करती हैं। महादेवीजी की रहस्यानुभूति में प्रेम की वेदना है, और वेदना का माध्यम प्रकृति है। प्रकृति-चित्रण करते समय उन्होंने या तो प्रकृति को व्यक्तित्व प्रदान किया है, या उसका उद्दीपन के रूप में वर्णन किया है, या मानवीय भावनाओं से अनुरंजित प्रकृति का वर्णन किया है।'

युग की परिवर्तनशीलता के-प्रति भी महादेवीजी उदासीन नहीं रहीं। सूक्ष्म की ओर उन्मुख होते भी वे युग की प्रगतिशीलता को स्वीकार करती हैं। किन्तु उनका कहना है। 'वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ स्वीकार न करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन संभव है, उस प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है और यदि विचार कर देखा जाय तो जीवन से भाव-जगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं, जितना जीवन से बुद्धि-पक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा संपूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।' वास्तव में महादेवीजी की प्रगति समन्वय की ओर है—यथार्थ और सूक्ष्म के समन्वय की ओर। इस समन्वय का माध्यम है अलौकिक वेदना।

महादेवीजी के मुक्तक में निश्चित व्यक्तित्व है, वह मुख्यतः उद्गारात्मक है। उनमें माधुर्य भाव है और उसमें उनका हृदय संकलित है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में : 'गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को प्राप्त हुई, वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का एक ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।' वास्तव में महादेवीजी के गीतों में भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी बहती हुई मिलती है। भावों की दृष्टि से उनके गीतों में तरलता है और आत्माभिव्यक्ति, वेदना, गतिशीलता, आत्म-विस्मृति, भाव-विदग्धता, प्रकृति-सौंदर्य आदि की दृष्टि से उनके गीत अद्वितीय है। उन्होंने खड़ीबोली को मार्मिकता प्रदान की है। उनकी भाषा में भावुकता और रोमांस का मनोहर संगम है। वह अनेक कोमल शब्दों से पूर्ण है और भाव-प्रवण, सरल, संगीतमय, प्रसादगुणपूर्ण और प्रवाहपूर्ण है। महादेवीजी ने अनेक लाक्षणिक और सांकेतिक प्रयोग प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि उनमें से कुछ दुर्बोध भी हैं।

'दिनकर'

इस काल के स्वच्छन्दतावादी कवियों में रामधारीसिंह 'दिनकर' का (ज० १९०८ ई०) प्रमुख स्थान है। उन्होंने गीतों को प्रौढ़ता प्रदान की। वे अपनी भव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्पना, उमंग और सामाजिक चेतना की तीव्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं में राष्ट्रीय संघर्ष, विप्लव, क्रान्ति, मानवतावाद, वैज्ञानिक युग का तर्क एवं चिन्तन आदि को स्थान दिया है। उनकी सर्वप्रथम कविता १९२० में लोकमान्य तिलक के निधन पर 'एक भारतीय आत्मा' शीर्षक से 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थी। तत्पश्चात् उनकी काव्य-प्रतिभा का निरन्तर विकास होता रहा है। 'वीर-बाला' और 'मेघनाद वध' उनके अपूर्ण खण्डकाव्य हैं। उनका 'प्रणभंग (१९२९) खण्डकाव्य अब अप्राप्य है। बाद की रचनाओं में 'रेणुका' का सर्वप्रथम उल्लेख किया जा सकता है। वह काव्य-संग्रह है। अन्य रचनाओं में 'हुंकार' (१९३८), 'रसवंती' (१९३९), 'कुरुक्षेत्र' (१९४६), 'रश्मिरथी: (१९५२), 'चक्रवाल' (१९५६), 'उर्वशी' (१९६१), 'परशुराम की प्रतिज्ञा' (१९६३), आत्मा की आँखें' (१९४६) आदि पच्चीस से अधिक रचनाएँ हैं। 'उर्वशी' पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिल चुका है।

'दिनकर' राष्ट्रीय कवि हैं। वे साहित्य में १९२४-२५ के लगभग आये। उनका युग राष्ट्रीय संघर्ष और क्रान्ति का युग रहा है। राष्ट्रीय जीवन में उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम का युग तो देखा ही, स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद का युग भी उन्होंने देखा है राष्ट्रीय जीवन के दोनों ही पक्षों को उन्होंने समझा-बूझा और उसमें सक्रिय भाग लिया। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं से पीड़ित होकर वे मानवतावाद की ओर बढ़े। इस पीड़ा में विज्ञान का क्या हाथ रहा है, वह भी उन्होंने पहचाना है। युद्ध और अन्याय की समस्याओं पर भी उन्होंने विचार किया है। कवि के रूप में 'दिनकर' स्वप्न-लोक छोड़ कर मिट्टी पर आये और देश की दयनीय दशा को दृष्टि-पथ में रखते हुए विप्लव का आह्वान किया जिसकी चिनगारी से देश का जड़ीभूत जीवन और अन्ध-विश्वास एवं अन्ध-परम्पराएँ भस्मीभूत हो सकें। उन्होंने देश-भक्तों के गीत गाये, साम्प्रदायिकता का विरोध किया, 'चढ़ती जवानियों का शृङ्गार माँगा, और भारत का जयगान किया। उनका तो कहना है 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।' आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों, महायुद्धों और संघर्षों के बीच पनपा उनका दार्शनिक दृष्टिकोण भारतीय दर्शन और डार्विन, फ्रॉयड और मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करता है। 'दिनकर' जी का युग सभी प्रकार की क्रान्तियों और नवोत्थान का युग था। इस युग के संघर्ष ने कवि 'दिनकर' को कठोर और कोमल दोनों ही बनाया। उनका युग गीता-जागरण और पुनरुत्थान की हलचलों का युग रहा है। उनमें आस्था और अनास्था का एक विचित्र सम्मिश्रण है। 'रेणुका' से 'द्वन्द्वगीत' तक कवि भाव-प्रवण है। सर्वप्रथम 'कुरुक्षेत्र' में वह चिन्तक और विचारक के रूप में हमारे सामने आता है। वैसे 'दिनकर' जी ने काव्य-क्षेत्र में प्रबन्ध-काव्यों के साथ प्रवेश किया था। 'कुरुक्षेत्र' की कथा-वस्तु महाभारत-युद्ध के पश्चात् की रणभूमि की पृष्ठभूमि है। भीष्म शर-शय्या पर पड़े उत्तरायण की प्रतीक्षा में जीवित हैं। धर्मराज युधिष्ठिर को यह सन्देह होने लगता है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर इतना भीषण नरसंहार क्या न्यायोचित था? शंका-समाधान के लिए वे भीष्म पितामह के पास जाते हैं। संपूर्ण 'कुरुक्षेत्र' ग्रंथ में धर्मराज की शंकाएँ और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भीष्म पितामह द्वारा उनका समाधान है। उस पर आधुनिक युग का प्रभाव है। कवि तिलक, गीता आदि से प्रभावित हो कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

'उर्वशी, (१९६१) में सोमवंश के आदि पुरुष पुरूरवा और उर्वशी से प्राचीन आख्यान द्वारा मानव जाति की एक ऐसी चिरन्तन समस्या का समाधान हुआ है जो मनुष्य के जीवन के साथ उत्पन्न होती और उसी के साथ समाप्त होती है और जो मनुष्य के मन और बुद्धि को झकझोरती रहती है। वह समस्या है 'काम' की। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा और इड़ा के आख्यान द्वारा मनुष्य के द्वन्द्व, तर्क और विज्ञान पक्ष का चित्रण कर जीवन के पुरुषार्थ पक्ष को महत्त्व प्रदान किया था। 'काम' जैसी सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण समस्या का स्पर्श अभी तक किसी ने न किया था। यह कार्य 'दिनंकर' ने सफलतापूर्वक संपन्न किया है। पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु कवि ने मात्र उसी की पुनरावृत्ति न कर उसे नया अर्थ दिया है। जीवन के चार फलों—धर्म, अर्थ काम, मोक्ष—में 'काम' 'अर्थ' के बाद आता है और वह मोक्ष को जन्म देता है। पुरूरवा को सनातन नर का प्रतीक और उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक मानकर 'दिनकर' जी ने जिस भौतिकोत्तर काम की महान् कल्पना की है वह योग की अवस्था से किसी प्रकार कम नहीं है। प्रेम की उस अतीन्द्रिय अवस्था में नर-नारी ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है, जहाँ दैहिक चेतना से परे प्रेम की दुर्गम समाधि है। कवि ने भारतीय सांस्कृतिक स्थापना के अनुरूप प्रेम की आध्यात्मिक महिमा का अत्यन्त कलात्मक ढंग से गान किया है। यह प्रेम देश और काल की सीमा से परे है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम में मनुष्य का देवोपम विकास होता है। वह उस अतीन्द्रिय लोक में पहुँच जाता है जहाँ वह द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त और अनुद्विग्न रहता है। कवि द्वारा प्रस्तुत आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की भावना पर बल देता है जो साधारण काव्य-प्रतिभा द्वारा संभव नहीं था। काम को भी पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करना असाधारण है यह काम भी ऐसा है जो मानव-सभ्यता और संस्कृति में व्याप्त है। वह पूर्णत्व का प्रतीक है। 'उर्वशी' के कवि ने रूप के भीतर डूब कर अरूप का सन्धान किया है। कवि के शब्दों में : 'पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोकों में प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है। वह देवत्व की तृष्णा है। ऐसा करते समय कवि ने आधुनिक युग के संदर्भ में प्रेम और संन्यास की समस्या भी उठाई है। उर्वशी के प्रश्न में गहरी दार्शकिता छिपी है। कवि का संकेत है कि जो मनुष्य आसक्तियों के बीच अनासक्त है, वही देवता है। यही देवत्व भारतीय संस्कृति का प्राण है। कवि ने पुरूरवा को काव्यमय रूप देने में सफलता प्राप्त की है। उर्वशी वास्तव में एक उत्कृष्ट विचार-प्रधान रचना है। उसका भाषा-सौन्दर्य अप्रतिम है। वह कवि के अभिव्यक्ति-कौशल का अनुपम उदाहरण है। वह 'दिनकर' के प्रेम एवं शृङ्गार-परक काव्यों की चरम परिणति है। इसका काव्य-रूप गीतिनाट्य है। इसे हमें गीतिनाट्यात्मक महाकाव्य कह सकते हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और वह काव्य के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग है। कथा का आधार कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीयम्' है और वह पाँच अंकों में विभाजित है।

'दिनकर' जी युग-चारण कवि हैं, अतः उनकी रचनाओं में जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत भक्ति-भावना का आभास मिलता है वहीं वह मानव-प्रेम-सापेक्ष है। कवि ने जहाँ प्रेम का वर्णन किया है वहाँ स्वभावतः शृङ्गार रस माना जाएगा। कहीं-कहीं उनका शृङ्गार रस शान्त रस के क्षेत्र में पदार्पण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। 'कुरुक्षेत्र' में वीर के साथ शान्त रस को प्रधानता मिली है। उनकी अनेक रचनाओं में वीर रस प्रमुख है। शृङ्गार का सर्वोत्तम उदाहरण 'उर्वशी' है।

जहाँ तक प्रकृति-चित्रण से संबंध है उसकी हिन्दी की अपनी प्राचीन परम्परा थी जिसने छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं में नवीन रूप धारण किया। 'दिनकर, जी को भी यह परम्परा उत्तराधिकार में मिली थी इसलिए युग-चारण कवि होते हुए भी उन्होंने छायावादी युग के प्रकृति-वर्णन के अनुरूप अपना दृष्टिकोण निर्मित किया था, अर्थात्, उनकी रचनाओं में प्रकृति का मानवीकरण, मानवीय भावनाओं का आरोपण, एक व्यक्तिगत-दर्शन, उपमानों, पृष्ठभूमि और प्रतीकों एवं बिम्बों के रूप में प्रकृति-चित्रण पाया जाता है। कहीं-कहीं मात्र प्रकृति के सीधे-सादे आलम्बन रूप में चित्र भी उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं और उसके उन्होंने सुन्दर रूप चित्रित किए हैं।

'दिनकर' जीवन के प्रति उदास या निराश नहीं हैं। उन्हें अपने देश और देश-वासियों के प्रति ममता है। वे जीवन में परिश्रम और कर्मयोग में विश्वास रखते हैं। उन्हें गीता के कर्म-सिद्धान्त में विश्वास है। मनुष्य कर्म करने से ही बड़ा बनता है, जाति या गोत्र से नहीं। जीवन के सभी क्षेत्रों से वे अन्याय और असमानता हटाना चाहते हैं। बुद्धि से अधिक उन्होंने संबुद्धि (Instinct) को महत्त्व प्रदान किया है। वही मनुष्य को बड़े-से-बड़े बलिदान करने के लिए प्रस्तुत करती है। 'दिनकर' जी की दृष्टि में पुरुष-प्रकृति एक हैं। प्रकृति ही मनुष्य को दिव्य पुरुष की ओर ले जाती है। किन्तु संस्कृति के रंग में रँगकर मनुष्य जब प्रकृति को दबाने का प्रयत्न करता है तो संघर्ष उपस्थित हो जाता है। राजनीतिक दृष्टि से 'दिनकर' जी दासत्व के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और जनता के जीवन की विषमताओं को देखकर क्रुद्ध हो जाते हैं। उनमें मानव-कल्याण की भावना है। आर्थिक विषमता भी उन्हें सह्य नहीं है। 'दिनकर' जी भक्त कवि तो नहीं, किन्तु उनके काव्य में साधारण मानव-सापेक्ष अध्यात्म अवश्य मिलता है। ईश्वर में विश्वास होते हुए भी उन्हें कर्मबल में विश्वास है। स्वत्त्व की रक्षा के लिए उनकी दृष्टि में पाप-पुण्य का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। इसके लिए वे हिंसा को भी पाप नहीं मानते। क्लैब्य पाप है। उन्हें धरती अच्छी लगती है और धरती पर रहनेवाला मानव सबसे अधिक प्रिय है। स्वर्ग का उन्हें बहुत शौक नहीं। उनका जीवन-दर्शन कर्ममय है और सत्य, समानता, मानवता और निष्ठा के आदर्शों से वह आपूरित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य कवि

स्वछन्दतावादी कवियों में अन्य अनेक कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी रचनाओं में निष्कपट देश-प्रेम व्यक्त हुआ। अन्य अनेक कविताओं के अतिरिक्त उनकी ऐसी कविताओं का 'माता' शीर्षक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। उनमें वेदना के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं। उन्होंने रहस्यपूर्ण सांकेतिकता से समन्वित रचनाओं की भी सृष्टि की है। 'हिम-किरीटिनी' और 'हिम-तरंगिनी' उनकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। सियारामशरण गुप्त की कविताओं में संवेदनशीलता और परदुःखकातरता की करुण धारा प्रवाहित है। अपने चिंतन और अनुभूति के कारण उनकी कविताएँ बहुत-कुछ छायावादी कविताओं के निकट आ जाती है। कल्पना और भावावेगों का अभाव ही उन्हें छायावादी कवियों से अलग करता है। उन पर गाँधीजी की विचारधारा का प्रभाव है और वे मानवीय संस्कृति के कवि हैं। 'आर्द्रा', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'मौर्य-विजय', 'अनाथ' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। सुभद्राकुमारी चौहान अज्ञात प्रियतम के विरह में आँसू न बहाकर देश की राह पर मिटनेवाले की पवित्र स्मृति में आँसू बहाना अधिक पसन्द करती हैं। उनकी देश-भक्ति-पूर्ण कविताएँ प्रभाव-पूर्ण हैं। उन्होंने कुछ शृङ्गार रस की कविताएँ भी की हैं जिनमें प्रेम की तड़पन न होकर माधुर्य और संयम है। 'झाँसी की रानी', 'ठुकरा दो या प्यार करो', 'प्रियतम से', आदि कविताएँ और 'मुकुल' नामक संग्रह उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। भगवतीचरण वर्मा कृत 'मधुकण', 'प्रेम-संगीत', 'विस्मृति के फूल', 'मानव', रंगों से मोह' आदि रचनाओं में उनके हृदय की मस्ती का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। उन्हें राज-नीति से सदैव अरुचि रही है और वे 'अहम्' के उपासक रहे हैं, किन्तु उसे उन्होंने असीमत्व प्रदान किया है। प्रारम्भ से ही उन्होंने अपनी भावनाओं पर किसी प्रकार का मुलम्मा नहीं चढ़ाया। वे प्रेम की पीड़ा का अनुभव करते हैं और युग की कुरूप-ताओं से ऊपर उठकर सौन्दर्य का सर्जन करते हैं। गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की प्रसिद्ध रचना 'नूरजहाँ' है जिसमें मानव-हृदय के अन्तर्द्वंद्व और प्रेम की पीड़ा का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। प्रकृति वर्णन और मुहावरों के प्रयोग के लिये उनकी यह रचना अत्यन्त प्रसिद्ध है। कुछ वर्ष पूर्व उनकी 'विक्रमादित्य' नामक रचना प्रकाशित हुई है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का सम्बन्ध देश के सहयोग आन्दोलन से रहने के कारण उनकी कविताओं में जीवन की सफलताओं और विफलताओं का घोर क्रन्दन और विप्लव है। उनकी शृङ्गार-परक रचनाओं में एक सच्चे रोमांटिक कवि के दर्शन होते हैं। 'कुंकुम', 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उदयशंकर भट्ट की रचनाओं में जीवन की गहन अनुभूति, दार्शनिकता, वेदना, विष-मता आदि का चित्रण मिलता है। प्रारम्भिक निराशा के बाद कवि को अब मानव की आत्म-शक्ति में विश्वास होने लगा है। जो अध्यात्मवाद पर अवलम्बित नहीं है, उसमें भट्टजी को विश्वास नहीं। भगवतीचरण वर्मा के बाद 'बच्चन उन कवियों में से हैं जिन्होंने अपने गीतों द्वारा खड़ीबोली को सँवारा है, सहज-स्वाभाविक भाषा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में वे उमर खय्याम की मादकता और जीवनगत सौन्दर्य लेकर अवतीर्ण हुए थे। प्रारम्भ में 'हाला' उनकी काव्यानुभूति का प्रतीक थी जिसके पीछे धर्म, समाज, वर्ग आदि बन्धनों से परे जीवन की मस्ती थी और थोथे अध्यात्मवाद के प्रति व्यंग्य। उनमें अनुभूति की तीव्रता है। बीच में वे कुछ निराशावादी हो गये थे। किन्तु आजकल 'बच्चन' जीवन की वास्तविकता के निकट आते जा रहे हैं। 'मधुशाला', 'मधुकलश, मधुबाला', 'एकान्त संगीत', 'निशा-निमंत्रण', 'खादी के फूल', 'सतरंगिनी' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

गाँधीवादी राष्ट्रीयता के कवियों में सोहनलाल द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है। श्यामनारायण पाण्डेय भी वीर रस के राष्ट्रीय कवि हैं। 'हल्दीघाटी' उनकी प्रसिद्ध रचना है। 'अज्ञेय' जी जग की वेदना से व्यथित रहनेवाले कवि हैं। वे जग में सुख की सृष्टि कर मानव का परित्राण चाहते हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की कविताओं में प्रेम की अतृप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न असन्तोष और विद्रोह है, यद्यपि अब वे पीड़ित मानवता की ओर बढ़े हैं। शिवमंगल सिंह 'सुमन' किसी भी विषय पर सरस और मधुर वर्णन करनेवाले कवि हैं। इन कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे कवि हैं, जिनके द्वारा आधुनिक कविता नवनवोन्मेषशालिनी हुई है। नरेन्द्र शर्मा, विद्यावती 'कोकिल', सुमित्रा-कुमारी सिनहा, हीरादेवी चतुर्वेदी, हरिकृष्ण 'प्रेमी', आरसीप्रसाद सिंह, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', गोपालसिंह नेपाली आदि ऐसे ही कवि हैं। इन कवियों की रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना का बहुत बड़ा हाथ रहा है और उनमें भाषा का परिष्कृत रूप मिलता है, जो आधुनिक काव्य की बहुमूल्य देन है।

प्रगतिवाद

सन् १९३५-३६ के बाद के लगभग बीस वर्षों में हिन्दी कविता अधिकाधिक समाजोन्मुख होती गई। ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि छायावादी-रहस्यवादी काव्य-धारा का प्रधान आधार व्यक्तिवाद था। किन्तु एक तो 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी आदि की कविताओं में इस व्यक्तिवाद के अपने में ही विरोध के संकेत मिलते थे; दूसरे, छायावाद के उत्तर काल के कवियों में भी घोर व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिक्रिया मिलती है। इन पिछले खेवे के कवियों में सामाजिक विषमताओं के प्रति असन्तोष, अराजकतावादी विप्लव और मानव-जीवन की ओर दृष्टिपात प्रमुख हो उठा। 'नवीन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा आदि ऐसे ही कवि थे। वास्तव में छायावादी (रोमांटिक) युग के बाद यह यथार्थवादी युग का सूत्रपात था। उसके बाद हिन्दी कविता का वस्तु-रूप-गत परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर रहा है। मध्यम-वर्गीय मान्यताओं में संकट-काल उपस्थित हुआ और आर्थिक समस्याएँ और जटिल हो गईं और कवियों को मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में आस्था होने लगी। पन्तजी कृत 'युगान्त' (१९३६-३७) और तत्पश्चात् 'ग्राम्या', 'युगवाणी' आदि में नवीन हिन्दी कविता का स्वर घोषित हुआ यद्यपि इन रचनाओं में पन्तजी अपनी छायावादी वैयक्तिकता से बिल्कुल अलग तो नहीं हो पाये, तब भी उसमें पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रति एक मध्यवर्गीय व्यक्ति की बौद्धिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और तटस्थ दृष्टि का परिचय मिलता है। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पन्तजी इन रचनाओं में पूर्णतः मार्क्सवादी नहीं हैं। उनका रुख मार्क्सवाद और गाँधीवाद के समन्वय की ओर है। पन्तजी के बाद सामाजिक संघर्षों से क्षुब्ध 'निराला' जी ने भी यथार्थ का अनुभव करते हुए व्यंग्यात्मक विद्रोह प्रकट किया। पन्त जी की अपेक्षा 'निराला' जी में यथार्थ की अनुभूति अधिक तीव्र और निजी अनुभव से उत्पन्न थी। 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' आदि रचनाओं में उन्होंने सामंती और साम्राज्यवादी मान्यताओं पर कठोर प्रहार किए हैं। इस प्रकार हिन्दी कविता के मानव को विकृत करने वाली प्रवृत्तियों के प्रति विरोधी और मानवीय संस्कृति को सुरक्षित रखने की बलवती आकांक्षा प्रकट हुई। हिन्दी कविता की इस सामाजिक चेतना के स्थूलतः दो प्रधान रूप मिलते हैं—एक तो वह जिसे प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है, और दूसरा वह जो आधुनिकतम (द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन) कविता में पाया जाता है, प्रगतिवादी कविताओं का भी एक तो वह रूप है जिसमें पन्त, 'निराला' की परम्परा आगे बढ़ी हुई मिलती है और उसमें मध्यवर्गीय विषाद से पूर्ण मानव और प्रकृति दोनों का अंकन हुआ। प्रगतिवादी कविताओं में बेडौल और कुरूप जीवन की बहुमुखी छवियाँ, अभिव्यक्ति के सरल, किन्तु मार्मिक विधान, चित्र-विधान और भावानुकूल नवीन संगीतात्मकता निहित है। इन कविताओं के भाव और रूप निर्माण में जन-बोलियों के साहित्य ने योग प्रदान किया है। केदारनाथ, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। प्रगतिवादी कविताओं का दूसरा रूप वह है, जिसमें केवल उत्साह और उद्बोधन है, जीवन के मार्मिक स्थलों पर दृष्टिपात न कर जिसमें कवियों ने ओजपूर्ण शैली में उत्तेजना प्रदान की है और रूस तथा अपनी मान्यताओं के अनुरूप अन्य देशों की सामयिक घटनाओं को स्थान देकर अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। ऐसे कवियों में नरेन्द्र शर्मा, 'सुमन', भवानीप्रसाद मिश्र, रांगेय राघव आदि प्रमुख हैं।

अर्थ की दृष्टि से 'प्रगतिवाद' के दो अर्थ हैं—एक व्यापक और दूसरा सीमित या सांप्रदायिक। प्रारम्भ में, 'प्रगतिशील साहित्य' और 'प्रगतिवादी साहित्य' दोनों का प्रयोग यूरोप से आये Progressive Literature के रूपान्तर के रूप में होता था और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में कोई उलझन नहीं थी। किन्तु धीरे-धीरे दोनों शब्दों में कुछ अन्तर हो गया है। वर्तमान समय में 'प्रगतिशील' शब्द व्यापक और उदार अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह सर्वविदित है कि प्रगतिवादी आन्दोलन मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा था और है। इस आन्दोलन के समर्थक प्रगति और जन-जीवन से रस ग्रहण करने की चर्चा किया करते थे और पिछले सम्पूर्ण साहित्य को सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी कहकर टाल देते थे। इनके विरोध में कुछ लोगों ने यह मत प्रकट किया कि अपने-अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक कवि प्रगतिशील होता है, क्योंकि जीवन से विमुख रहकर वह सजीव साहित्य का निर्माण कर ही नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यदि पटना प्रयाग से आगे है तो कलकत्ता से पीछे भी है। इस प्रकार 'प्रगतिवाद' को व्यापक अर्थ देने में साम्प्रदायिक प्रगति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद के विरोधियों का हाथ है। किन्तु उचित तो केवल यह है कि 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिवादी' शब्दों का साम्प्रदायिक अर्थ में ही प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि इसी रूप में वे हमारे देश में आये और साहित्य में सर्वप्रथम उनका प्रचार हुआ। प्रगतिवाद को समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) भी कहते हैं।

ब्रिटिश काल की भूमिका में यह बताया जा चुका है कि अँगरेजों की विजय के बाद भारतवर्ष में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई थीं और हिन्दी के अनेक लेखकों और कवियों ने जन-जीवन सुधारने की दृष्टि से उच्चतम आकांक्षाओं की व्यंजना की। उन्होंने जीवन की कुरूपताओं पर दृष्टिपात कर पीड़ितों और दलितों की सुख-समृद्धि का पक्ष लेकर साहित्य का मार्ग आलोकित किया था। यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है कि अँग-रेज़ शासकों की आर्थिक और राजनीतिक नीति के फलस्वरूप भारतीय समाज की बुनियाद ही बदल रही थी और चीज़ों तथा माल तैयार करने के तरीकों तथा वर्ग-सम्बन्धों, सभी में भारी परिवर्तन हो रहा था। भारतीय सामन्तों और पूँजीपतियों ने साम्राज्यशाही के साथ सहयोग प्रदान कर देश की जनता की पीस डाला। इसी समय भारत को राष्ट्रीयता का संदेश मिला और प्रजातन्त्रवादी भावनाओं से स्फूर्ति ग्रहण कर जनता ने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण ग्रहण किया। नवीन विचारों के प्रचार से रूढ़िग्रस्त सामाजिक ढाँचे का सारा महल जीर्ण-शीर्ण हो चला था। और, यह प्रक्रिया भारतवर्ष में ही नहीं, संसार के सभी देशों में चल रही थी। पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था ने सब देशों में haves और have-nots के विभाजन द्वारा विषम परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। उत्पत्ति और वितरण के साधनों पर पूँजी-वादी-साम्राज्यवादी वर्ग का एकाधिपत्य स्थापित हो जाने के भयंकर दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहे थे। ऐसे ही प्रधान कारणों से रूस में राज्य-क्रांति हुई और १९१९ में ज़ारशाही का अन्त हो जाने पर मार्क्सवाद से प्रेरित बोल्शेविक पार्टी की सत्ता स्थापित हुई और साम्यवादी विचारधारा ने साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया। भारतवर्ष में नवीन चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न मानवतावाद और पीड़ितों तथा दलितों के प्रति सहानुभूति के साथ प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप विश्व-पूँजीवाद के विकास में अवरोध और उसके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता पर उसका प्रहार, स्वतन्त्रता-आन्दोलन की उन्नति, दमन की बाढ़ और असहयोग द्वारा जनता का उद्धार, मजदूरों का संगठन, हड़तालों का चलन, पूँजीवाद का निकृष्टतम और विश्व-साम्राज्यवाद का कुत्सित रूप और संस्कृति तथा प्रगति के भीषण शत्रु फासिज्म और नात्सीज्म का उत्थान आदि कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं जिनका समाज और अन्त में साहित्य में व्यक्त होना अवश्यंभावी था। मानव को केवल व्यक्ति के रूप में ही नहीं, समष्टि के रूप में भी देखा जाने लगा और मानवीय संस्कृति को सामूहिक शक्ति का आधार मिला। पढ़े-लिखे लोगों ने मानसिक उथल-पुथल का अनु-भव किया। और, ज्यों-ज्यों चेतना विकसित होती गई, त्यों-त्यों प्रत्येक वर्ग का स्थान और उसका कार्य-क्षेत्र स्पष्ट होता गया और मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के स्थान पर नवीन पार्टियों, नवीन शक्तियों और नवीन भावनाओं का उदय होने लगा। भारतीय राजनीति में इन विचारों को 'लेफ्टिस्ट' (वामपंथी) कहा गया है। १९३० में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। धीरे-धीरे साहित्यकारों पर भी जन-सामान्य की भावना का स्पर्श करनेवाले रूप के साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा और १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुआ। द्वितीय अधिवेशन दिसम्बर, १९३८ में कलकत्ता में हुआ। कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संगठित इसी साहित्यिक मोर्चे का नाम प्रगतिवादी साहित्य है।

साहित्य के क्षेत्र में छायावाद-रहस्यवाद ने द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के प्रति विद्रोह किया, तो प्रगतिवाद ने छायावाद-रहस्यवाद की सूक्ष्मता और समाजविमुखता के प्रति विद्रोह किया। 'कला कला के लिए' या स्वान्तःसुखाय के सिद्धान्त में उसे आस्था नहीं है। अपने विशिष्ट अर्थ में प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक रूपान्तर है। प्रगतिवादी विचारधारा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) और वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखती है और अर्थ उसका मूलाधार है। मार्क्स के विचार यूरोप में रोमांटिसिज्म के विरोधी और बुद्धि-वादी दार्शनिक अतिवादियों के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। उन्होंने भौतिकवाद की पुनः स्थापना की और हेगेल (Hegel) के बाद मानव-जीवन के विकास का एक बुद्धि-संगत रूप रखा। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के विस्तृत अध्ययन से ये निष्कर्ष निकलते हैं कि संसार के निर्माण का कारण भौतिक है, न कि दैवी, और ज्ञान-विज्ञान के अनुभव के प्रकाश में उसकी प्रत्येक स्थिति की व्याख्या की जा सकती है; मानव-जीवन और इतिहास का मूल आर्थिक है, उत्पादन और वितरण के साधनों में परिवर्तन होने के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है। वर्ग-संघर्ष ही समाज की प्रगति का स्रोत है, व्यष्टि के स्थान पर समष्टि अधिक महत्त्वपूर्ण है, सामाजिक मूल्य और आदर्श वर्ग-विशेष के होते हैं; वर्गहीन समाज में ही वास्तविक मूल्यों और आदर्शों की स्थापना हो सकती है; ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला आदि सब कुछ आर्थिक व्यवस्था और वर्ग-व्यवस्था पर आधारित हैं। वर्ग-संघर्ष में प्रत्येक व्यक्ति का झुकाव किसी-न-किसी एक वर्ग की ओर अवश्य रहता है; पूंजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक विरोधों के कारण समाप्त होगी और उसके बाद सर्वहारा वर्ग के हाथ में सत्ता आयेगी जिसे Dictatorship of the proletariat (सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व) कहा जाता है। प्रगतिवाद की सहानुभूति सर्वहारा वर्ग या शोषित वर्ग के प्रति रहती है। उसके पीछे राजनीतिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। रागात्मकता अर्थात् हृदय-पक्ष के स्थान पर उसमें बौद्धिकता या बुद्धि-पक्ष अधिक है। इसलिए उसमें नीरसता है। 'रोटी' और 'सेक्स' के आगे प्रगतिवादी कवि जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता :

'मैं अर्थ बताता द्रोहभरे यौवन का,
मैं वासना नग्न को गाता उच्छृङ्खल।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्ति की स्वतन्त्रता में भी उसे विश्वास नहीं। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद द्वारा शोषण-नीति की घोर निन्दा उसका लक्ष्य है। वह वर्ग-संघर्ष और हिंसा को प्रश्रय देता और ईश्वर तथा धर्म का मजाक बनाता है।

इस प्रकार प्रगतिवादी किसी ईश्वरीय नियम, नियति, ब्रह्मवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। इस संसार के बाहर या परे उसके लिए कुछ भी शेष नहीं। वह विज्ञानवाद, मनोविज्ञान (सामूहिक) आदि को अधिक महत्त्व देता है। वह जीवन या साहित्य के चिरन्तन सिद्धान्त को मान्यता प्रदान नहीं करता। प्रगतिवादी काव्य में साहित्य और राष्ट्रीयता कम, और प्रचार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, बौद्धिक दासत्व अधिक है। वह मॉस्को की खूँटी से अधिक बँधा है। दिल्ली, काशी और मथुरा के प्रति उसमें अनुराग नहीं है। कविवर 'दिनकर' के शब्दों में :

'चिल्लाते हैं 'विश्व-विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी ॥
जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते।,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते ॥'

प्रगतिवादी कवि खून बहाकर विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण के नारे लगाता है। क्रांति, दुर्भिक्ष, विप्लव, लाल झंडा, हँसिया-हथौड़ा, हड़ताल, रूस, चीन, किसान, मजदूर, लेनिन और माओ (चीन) आदि उसके विषय हैं। जीवन को संबोधित करते हुए प्रगतिवादी कवि कहता है :

'आओ, मेरे स्वर में गाओ !
जीवन के कर्कश अपस्वर !
मेरी वंशी में लय बन जाओ !'

जगत् के रूप-सौन्दर्य की ओर से मुख मोड़ कर कवि उसकी कुरूपता का गान करता है। उसके गान की पीठिका साम्यवादी रहती है :

'साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त,निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।'

●

'धन्य मार्क्स ! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय-शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर !'

●

'लाल रूस को जिसने समझा हो धरती का चप्पा भर,
वह इस दुनिया की हलचल को समझ सका क्या हब्बा भर ?
देश नहीं वह, राष्ट्र नहीं वह, वह मानवता की आशा !
लाल रूस के इन्किलाब की गाथा दुनिया की गाथा !'

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लाल फौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा,
क्यों न उसी की ओर बहे यह दिशा भूल कविता-धारा।'

●

'भूले शिशुओं की चीत्कारें सोख रहीं नयनों का पानी,
सूखी निचुड़ी चुसी हड्डियाँ करतीं विप्लव की अगवानी।
मुट्ठी भर दानों की तृष्णा महाक्रान्ति की आग लगाती,
आज क्षुधा इन कंकालों की सोये ज्वालामुखी जगाती।'

प्रगतिवादी के लिए सामाजिक व्यवस्था अपरिवर्तनीय और शाश्वत नहीं है। वह मनुष्य के शरीर और मन, पृथ्वी और समाज के अतिरिक्त जो कुछ शेष रह जाता है, उसकी सत्ता स्वीकार नहीं करता। प्रगतिवादी साहित्य का मुख्य उद्देश्य साहित्य को जीवन के समीप खींच लाना है—अपने कम्यूनिस्ट दृष्टिकोण के अनुसार; क्योंकि उसका जीवन-दर्शन मार्क्स द्वारा विवेचित आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है, इसलिए वह राजनीति से असम्पृक्त भी नहीं है और साधन-साध्य, हिंसा-अहिंसा, घृणा-प्रेम आदि में से कौन अच्छा है, कौन बुरा, इस पचड़े में नहीं पड़ता और पूँजीवादी को प्रतिक्रियावादी समझता है। उसके लिए अन्तिम लक्ष्य ही सब कुछ है; साधन की पवित्रता में उसे विश्वास नहीं। उसका यह दृष्टिकोण गांधीजी के दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है।

प्रकृति-दर्शन में वह अवगुण्ठनवती और सुहागभरी की कल्पना नहीं करता। प्रगतिवाद का पोषक साहित्यकार प्रत्येक वस्तु को तर्क, विज्ञान और बुद्धि की दृष्टि से देखता और यथार्थवाद का समर्थन करता है। जो व्यक्ति अतीत के मोह में ग्रस्त रहते हैं, जो केवल यौन-तत्त्वों को जीवन के अन्य पक्षों से अधिक महत्त्व देते हैं, जो भौतिक संघर्ष से मुँह मोड़कर किसी अज्ञात के फेर में पड़ जाते हैं, जो बाह्य जीवन से विमुख होकर चिंतनशील हो जाते हैं अर्थात् जो पलायनवादी हैं, जो मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण की दुहाई देते हैं, वे प्रगतिवादियों की निन्दा के पात्र बनते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवादी ने विकृत मन के कारागार में पड़ी हुई कविता-कामिनी को मुक्त किया है और कविता की टेकनीक में भी नवीनता उत्पन्न की। भाषा शैली की दृष्टि से भी प्रगतिवाद ने नवीन आदर्श स्थापित किया। वाक्पटुता, वक्रोक्ति, बनाव-शृङ्गार आदि को वह 'बूर्ज्वा' कहता है और स्वयं परुष वृत्ति से काम लेता है। प्रगतिवादी कविता में माधुर्य और छायावादी कलात्मकता का अभाव और गद्यात्मकता पाई जाती है। वह परम्परागत उपमाएँ और प्रतीक भी ग्रहण नहीं करती। उसे व्यंग्यात्मकता और मुक्त छंद-विधान में विश्वास है। प्रगतिवाद को कला कला की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं। कला स्वान्तःसुखाय नहीं, जनहिताय होनी चाहिए। प्रगतिवाद ने आरम्भ में भारतीय कला के मापदण्डों की उपेक्षा की, और उसने छायावादी कवियों की एकांगी आलोचना की। किन्तु इस सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण शीघ्र ही बदल गया, यह अच्छा हुआ। और यद्यपि प्रगतिवाद का सम्बन्ध कविता से ही नहीं, उपन्यास, कहानी, आलोचना, नाटक आदि साहित्य के सब रूपों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से हैं, और स्व० राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव जैसे लेखकों और कवियों ने प्रगतिवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की, तो भी प्रगतिवाद ने अभी तक कोई प्रतिनिधि कवि या कलाकार या समालोचक नहीं दिया। इसका प्रधान कारण प्रगतिवादियों का सीमित और संकुचित दृष्टिकोण और उनका 'फ़्रस्ट्रेशन' है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय जीवन में बहुत-कुछ जीर्ण-शीर्ण, रूढ़िग्रस्त और असुन्दर है। यदि प्रगतिवादी लेखक या कवि उत्तरोत्तर विकासशील और समन्वय-वादी भारतीय संस्कृति के स्वच्छ और उज्ज्वल रूप को जनता के सामने रखकर व्यक्ति और समाज का सामञ्जस्य उपस्थित करते हुए जीवन को सुख-शान्तिपूर्ण बनाता तो अभिनन्दनीय होता।

जो प्रगतिवादी लेखक केवल साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखते हैं, जो पार्टी फ़ॉर्म्यूला या मैण्डेट का साहित्य में पालन करते हैं, जो केवल नारे लगाते हैं, वे साहित्य में इश्तहारबाजी करते हैं। दुर्भाग्यवश प्रगतिवादियों में ऐसे लेखकों की संख्या अधिक रही। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का भविष्य भारत में कम्यूनिज़्म के उत्थान-पतन के साथ सम्बद्ध है। साथ ही उसकी जड़ देश की धरती में नहीं है।

'प्रगतिवाद' का अर्थ सदैव सांप्रदायिक रूप में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् कम्यूनिज़्म से प्रभावित साहित्यिक विचारधारा अथवा एक राजनीतिक सिद्धान्त से प्रभावित विचारधारा। 'प्रगतिशीलता' उससे भिन्न है। 'प्रगतिशीलता' जीवन के कुछ व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित है और उसके लिए कम्यूनिज़्म के सिद्धान्त का आश्रय आवश्यक नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'प्रगतिशील' कहे जा सकते हैं, 'प्रगतिवादी' नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्यारह | स्वतंत्रता काल[1] (१९४७-)

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति के लगभग दो वर्ष बाद १५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसके आधुनिक इतिहास का एक अध्याय समाप्त हो गया। अँगरेजों के दासत्व से मुक्त होकर देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए देश को जो संघर्ष करना पड़ा उसके इतिहास में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। देश में चारों ओर उल्लास की लहर फैल गई। किन्तु दुर्भाग्यवश स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ-साथ देश का विभाजन और उसके फलस्वरूप भीषण नर-संहार तथा मानवता पर बलात्कार और महात्मा गाँधी की हत्या (३० जनवरी, १९४८) ऐसी ऐतिहासिक दुर्घटनाएँ घटित हुई जिनसे देश में क्षोभ छा गया। तो भी ब्रिटिश साम्राज्य के शिकंजे से मुक्ति प्राप्त कर देश ने स्वतन्त्रता को सार्थक बनाने के उद्देश्य से सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक शोषण से मुक्त भारतीय मानव की प्रतिमा स्थापित करना अपना लक्ष्य बनाया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देशी रियासतों और जमींदारी-प्रथा का अन्त कर दिया गया, विभाजन के फलस्वरूप विस्थापित जनता के जीवन को फिर से स्थापित करने की चेष्टा की गई, आर्थिक दशा सुधारने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, खाद्यान्न-संकट और बेकारी दूर करने की चेष्टा की जाने लगी, यातायात और विद्युत-उत्पादन सुधारने का प्रयत्न किया जाने लगा, शिक्षा एवं तकनीकी प्रगति के लिए विभिन्न कार्यक्रम प्रस्तुत हुए और स्वतन्त्र देश की सरकार ने व्यापार, उद्योग-धंधों और कृषि की उन्नति की ओर ध्यान दिया। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और धर्म-निरपेक्षता के आधार पर विदेशी और देशी राजनीति का स्वरूप स्थिर हुआ। इन सब बातों का उत्तर मिला भारतीय संविधान (१९४९) में, जो २६ जनवरी, १९५० से लागू किया गया। भारत अब पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रीय गणराज्य है और धर्म-निरपेक्षता को दृष्टिपथ में रखते हुए

---

१. यह नाम भी हमेशा नहीं बना रहेगा। भविष्य में बदलेगा। देश को स्वतंत्र हुए अभी ३४ वर्ष हुए हैं। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में ३४-३५ वर्ष क्षण के बराबर हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय के कार्यक्रम अभी जारी हैं। शुरू का 'ज़ायका' अभी खत्म नहीं हुआ। इसलिए फ़िलहाल 'स्वतंत्रता काल' उपयुक्त नाम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह 'कम्पोज़िट कल्चर' (मिली-जुली संस्कृति) पर बल देता है। इस संविधान के अनुसार कई आम चुनाव भी हो चुके हैं। गाँवों में भी ज़िला परिषदों, पंचायतों, ग्राम-सभाओं आदि के द्वारा नये जीवन का संचार करने की चेष्टा हुई। वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद गाँवों का जितनी तीव्रता के साथ आधुनिकीकरण हो रहा है, उतना स्वयं नगरों का नहीं। बढ़ती हुई जनसंख्या का संकट रोकने के लिए परिवार-नियोजन का प्रचार किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि हर तरह से देश को आत्मनिर्भर, सशक्त, सुदृढ़ और समृद्ध बनाने के लिए सरकार, उद्योगपति, मज़दूर और साधारण जनता सक्रिय होकर अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस दृष्टि से कर्ज़ लद जाने पर भी विदेशी सहायता स्वीकार की जाती रही है। भारतीय मानव की नई प्रतिमा गढ़ने का जो प्रण देश ने १९४७ में लिया था उसकी प्रक्रिया अभी जारी है।

किन्तु अत्यन्त खेद की बात यह है कि ज्यों-ज्यों इलाज किया मर्ज़ बढ़ता ही गया। स्वतंत्र भारत में चारित्रिक-नैतिक भ्रष्टाचार और एक उपयुक्त लोकनायक का अभाव देश के जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है। फलतः विविध प्रकार की योजनाओं और कार्यक्रमों के रहते हुए भी, समाजवाद का नारा बुलन्द होते हुए भी, 'स्वतंत्रता' पर प्रश्न-सूचक चिह्न लग जाता है। निस्सन्देह देश में नये जीवन का संचार हुआ है। औसत आमदनी भी बढ़ी है, लोग पिटी-पिटाई लीक से हटने की चेष्टा कर रहे हैं, देश ने तीन पाकिस्तानी और एक चीनी आक्रमणों का साहसपूर्वक सामना भी किया है, तो भी स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों ने जो स्वप्न देखा था वह अभी पूरा होता नजर नहीं आ रहा है। अवसरवादिता, देशप्रेम के स्थान पर स्व-रति, बेईमानी, घूसखोरी, चोरबाजारी, तस्करी आदि ने देश में एक दुःखद अव्यवस्था और संकट उत्पन्न कर दिया है। खाना, कपड़ा और आवास की समस्या का अभी कोई समाधान होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। लोग 'सब तरह से पीड़ित' हैं, कराह रहे हैं। स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि भ्रष्टाचार ऊपर के लोगों से छन कर नीचे आ रहा है। भ्रष्टाचार 'राजनीति' का अंग बन गया है। सब अपने-अपने घर दीपक जलाना चाहते हैं, मस्जिद पर दीपक जलाना कोई नहीं चाहता। स्वयं लोकतंत्र संकटापन्न है। महात्मा गाँधी और विनोबा भावे का सर्वोदय अभियान असफल सिद्ध हो चुका है। मँहगाई, बेरोजगारी, गरीबी, शोषण (नये ढंग का), हिंसा, सिद्धान्तों का हनन, राजनीतिक भ्रष्टाचार, शिक्षा का पतन आदि बातों से देश पीड़ित है। रुपये के अवमूल्यन और बैंकों के राष्ट्रीयकरण से भी आर्थिक दशा नहीं सुधरी। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की चीजों के दाम बहुत अधिक बढ़ गये हैं। न्याय-पद्धति भी शिथिल हो गई है। राजनीतिक चूहों ने संविधान को कुतरना शुरू कर दिया है। महानगरों की दशा और भी दयनीय है। परिणाम यह हुआ है कि चारों ओर असन्तोष, कुण्ठा, क्षोभ, भग्नाशा, दिशाहीनता का साम्राज्य प्रबल है। परतंत्र भारत के सामने एक आदर्श था, किन्तु वह आदर्श अब छिन्न-भिन्न हो गया है। जीवन में कोई अनुशासन नहीं रह गया। पुराने मूल्य खण्डित हो गये हैं। उनके स्थान पर नये मूल्यों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थापना नहीं हुई। आज हम 'de-authorization' के युग में जी रहे हैं—प्रत्येक प्रकार के नियंत्रण और अनुशासन से मुक्ति। विकसनशील देश होने के कारण भारत में एक तो वैसे ही अनेक समस्याएँ हैं, इस पर उपर्युक्त बातें कोढ़ में खाज का काम कर रही हैं।

स्वतंत्र भारत के पिछले तीन-चार वर्ष राजनीतिक उथल-पुथल, आर्थिक विषमता, बढ़ते हुए भ्रष्टाचार और अनुशासनहीनता, सामाजिक असुरक्षा और वर्ग-प्रतिद्वन्द्विता के वर्ष रहे हैं।

इन्हीं सब बातों के फलस्वरूप युवकों में अभी वही असन्तोष, विद्रोह, विप्लव, तोड़-फोड़ और आगजनी की प्रवृत्ति बनी हुई है। आये दिन शिक्षा-संस्थाओं में उपद्रव मचा रहता है। पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव ने, वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति ने भी इस दृष्टि से कोई लाभ नहीं पहुँचाया। स्वतंत्रता के बाद भारतीय नवयुवक एक नये ढंग का इन्सान है। वह परम्परा से भिन्न एक नई इन्सानियत का जन्म होते देखना चाहता है। वह मानवीय गरिमा को खण्डित होते देखकर क्षुब्ध है। हिन्दी का नवयुवक साहित्यकार भी विक्षुब्ध है। मानव-मूल्य, नैतिकता-अनैतिकता, वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के बीच भूख, नये यौन-सम्बन्धों आदि प्रश्नों के विविध पक्षों के वह समाधान ढूँढना चाहता है। यही कारण है कि स्वतंत्रता काल में हिन्दी साहित्य ने बिल्कुल एक नया मोड़ लिया है और उसमें व्यक्ति, समाज, धर्म, नैतिकता, समाज-व्यवस्था, ईश्वर, यौन-सम्बन्ध आदि की दृष्टि से अनेक प्रश्न उठाये गये हैं। पिछले साहित्य की बात तो जाने दीजिए, १९४७ के बाद के नवयुवक साहित्यकारों ने जिस साहित्य की रचना की है और कर रहे हैं, उसकी रंगो-बू और अन्दाजे-बयाँ कुछ और ही हैं।

नाटक

ब्रिटिश शासनान्तर्गत हिन्दी नाट्य साहित्य प्राचीन और नवीन नाट्य-परम्पराओं के बीच अपने विकास-पथ पर अग्रसर होता रहा और जिन नाटककारों ने उसे विकास की ओर अग्रसर बनाया उनका उल्लेख पीछे हो चुका है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद जीवन की गतिविधि में जो नये मोड़ आये और जिनके फलस्वरूप एक नया मानव हमारे सामने आया इस पर भी पीछे विचार किया जा चुका है। सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयत्नों से हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए जो कार्य किया गया उसका अभी तक कोई ठोस परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यही कारण है पिछले चौंतीस वर्षों में उपन्यास, कहानी और कविता ने जिस तेजी के साथ करवट बदली है, उतनी तेजी नाट्य-साहित्य ने नहीं दिखाई। द्वितीय महायुद्ध के बाद मानव-जीवन की विकास यात्रा के जिस पड़ाव पर दुनिया पहुँच चुकी है उसमें असन्तुलन, प्राचीन संस्थाओं से मुक्ति पाने की अकुलाहट, सब बन्धनों से मुक्ति की आवाज और मनुष्य की अपनी बेचैनी प्रमुख हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद हिन्दी नाट्य-साहित्य ने टेनेसी विलियम्स, ब्रेख्त (एब्सर्ड ड्रामा), जॉन ऑस्वर्न, सार्त्र, कामू, आर्थर मिलर आदि पाश्चात्य नाटककारों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए वर्तमान युग की मानसिक जटिलताएँ और सभी प्रकार की संवेदनाएँ व्यक्त की हैं। नाट्य-साहित्य अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा दुर्बल अवश्य है, किन्तु रंगमंच, वर्ण्य-विषय और शिल्प-विधान का उसमें वैविध्य पाया जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। वर्तमान नाटक की प्रवृत्तियाँ भी मानवतावादी, व्यक्तिवादी, यथार्थवादी, समाजवादी आदि विभिन्न प्रकार की हैं। उनमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नये आयामों का चित्रण, वर्ग-चेतना, व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता आदि अनेक विषयों पर विचार व्यक्त किए गए हैं। लेखकों ने अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद का आश्रय भी ग्रहण किया है। अनेक लेखकों ने वर्तमान राष्ट्रीय जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए व्यंग्य का आश्रय भी लिया है। परम्परा को सभी नकार रहे हैं (दे० लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'सूखा सरोवर', 'किस्सा तोता मैना')। लेखकों ने ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक भी ग्रहण किए हैं, किन्तु आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में जिसके मूल में आधुनिक बुद्धि और तर्कवाद है। लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, अमृत लाल नागर, गिरिजा कुमार माथुर, विनोद रस्तोगी, नरेश मेहता, मुद्राराक्षस, शैलेन्द्र, नरेन्द्र कोहली, रमेश बक्षी, मणि मधुकर आदि ने द्वितीय महायुद्ध के बाद की विसंगतियों का चित्रण कर तदनुरूप वस्तु और शिल्प ग्रहण किया है। इन नवीन नाटककारों के अतिरिक्त अन्य अनेक नाटककार भी हैं जो आधुनिकता के सन्दर्भ में नाट्य-साहित्य को समृद्ध बना रहे हैं। वर्तमान समय में बड़े नाटकों के स्थान पर एकांकी नाटकों की रचना अधिक हो रही है। एक बात जो इस समय उभर कर हमारे सामने आती है वह यह है कि हमारे नाटककार पश्चिम के रंगमंच से इतने अभिभूत हैं कि उन्हें अपने देश की प्राचीन रंगशालाओं और लोक नाट्य-परम्परा के स्वरूप और गठन का कोई ध्यान नहीं है। इसलिए केवल अनुकरण होने के कारण नाट्य-साहित्य में गतिरोध है। नवीन प्रयोग तो अवश्य हो रहे हैं, किन्तु उनमें स्थायित्व कहाँ तक है, यह भविष्य ही बताएगा।

आलोचना

१९४७ से पूर्व हिन्दी आलोचना पुष्ट धरातल पर स्थापित हो चुकी थी और उसने साहित्य के मूल्यांकन में अपनी भूमिका का भली-भाँति निर्वाह किया। इससे साहित्य के दोनों पक्ष—रचनात्मक और आलोचनात्मक—समृद्ध हुए। राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन हो जाने और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद उसका यह दायित्व-बोध और भी अधिक बढ़ गया है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में जिस प्रकार नवनिर्माण की ओर स्वतंत्र राष्ट्र का ध्यान गया, उसी प्रकार साहित्य के नवनिर्माण की ओर भी ताकि जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों की माँगों की उससे पूर्ति हो सके। हिन्दी आलोचना भी, निस्सन्देह, इस ओर अपने दायित्व का निर्वाह करती आई है। हिन्दी आलोचना की दृष्टि अपने देश की समृद्ध एवं पुष्ट परम्परा की ओर ही नहीं गई, वरन् उसने विदेशी आलोचना-परम्परा का आश्रय भी ग्रहण किया है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों और यूरोपीय ग्रन्थों के अनेक अनुवादों का प्रकाशन इस बात का साक्षी है। नये साहित्य के सृजन ने आलोचना के सामने नई-नई समस्याएँ उपस्थित कीं। पुरानी परम्पराओं को भी युगीन समस्याओं के सम्दर्भ में देखा जाने लगा। यह सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद पुरानी मर्यादाएँ टूट गईं, वे झूठी पड़ गईं और नये आलोचकों ने उनके नवनिर्माण में सहायता प्रदान की। यद्यपि पिछले ३४ वर्षों में हिन्दी आलोचना के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षेत्र में कोई सशक्त और पुष्ट आन्दोलन दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तो भी सामयिक हिन्दी-आलोचना ने स्वतन्त्रता से पूर्व की आलोचना से आगे कदम बढ़ाया है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों को ही अधिक मान्यता प्रदान की जाती थी यद्यपि क्रोचे, रिचर्ड्स, हड्सन आदि यूरोपीय आलोचकों के सिद्धान्तों का भी आश्रय ग्रहण किया जाता रहा और ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति का सहारा लिया जाता रहा। स्वतंत्र भारत में एक ओर यदि भारतीय काव्य-शास्त्र को यूरोपीय काव्य-शास्त्र की तुलना में देखा-परखा गया, तो दूसरी ओर कुछ लोगों ने साहित्य को परखने के लिए कुछ नये 'पैटर्न' निर्धारित करने की कोशिशें भी की और साहित्यिक संवेदना पर बल दिया गया। इसके अतिरिक्त कुछ आलोचकों ने इलियट आदि से प्रभावित होकर आलोच्य या कृति के भीतर से गुजर कर आलोचक और साहित्य-स्रष्टा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की बात की। यह मान्यता भी स्थापित की गई कि आलोचना बाहर से आरोपित नहीं की जानी चाहिए, वरन् रचनात्मक साहित्य ही सिद्धान्तों की सृष्टि के लिए उपादान बन जाता है। इसके बिना और कोई सिद्धान्त रचनात्मक साहित्य को अनुशासित नहीं कर सकता। नये साहित्य के लिए तो पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त और भी निरर्थक सिद्ध होंगे। सौन्दर्य-बोध और कलात्मक सौष्ठव के विवेचन की ओर भी कुछ आलोचक उन्मुख हुए। अब नीतिवादी और उपयोगितावादी तुलाओं पर साहित्य को तौलना आलोचकों का अभीष्ट नहीं रह गया। किन्तु साहित्य को आध्यात्मिक दृष्टि से अध्यात्म तत्त्व से प्रच्छन्न मान कर, उसका और जीवन का अविच्छिन्न सम्बन्ध मानने की ओर अधिक ध्यान गया है। जीवन की भाँति साहित्य भी विकासशील है। आज आलोचना के क्षेत्र में 'कला कला के लिए' का विरोध किया जाता है और सामाजिक दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद साहित्य और आलोचना दोनों को जनतन्त्र से सम्बद्ध करने का और इसी में सौन्दर्यानुसंधान करने का प्रयास किया जा रहा है—यद्यपि अभी उसके कोई शास्त्रीय प्रतिमान निर्धारित नहीं हो सके हैं। इसे मानवतावादी पुट दिया जाता है और व्यक्ति तथा समष्टि के परस्पर सम्बन्धों पर विचार किया जाता है। उसे वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठा ले जाने वाली समझा जाता है। कुछ आलोचक रस और साधारणीकरण या संप्रेषणीयता की चर्चा भी करते रहते हैं। किन्तु रस, रसास्वादन, सम्प्रेषणीयता आदि विषयों पर भी आधुनिकता के सन्दर्भ में विचार करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इससे नैतिक और सामाजिक मूल्य एक विवादास्पद समस्या उत्पन्न किए हुए हैं। इन विविध दृष्टिकोणों के अतिरिक्त हिन्दी में सम्प्रति प्रभाववादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणात्मक, दर्शन-सापेक्ष, सैद्धान्तिक आदि विभिन्न आलोचना-पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं। कवियों और कथाकारों ने अपने काव्य, सर्जनात्मक प्रक्रिया, विचार, अनुभूति आदि सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण स्पष्ट करने का प्रयास किया है—जो छायावादी कवियों ने भी किया था। और जिसके फलस्वरूप हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नये-नये दृष्टिकोण सामने आये हैं। इन कवियों ने जीवन की नवीन परिस्थितियों, मूल्य-विघटन, पुरानी मर्यादाओं का खण्डन, आस्था-अनास्था, संत्रास, घुटन, कुण्ठा आदि का उल्लेख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर जीवन और साहित्य को एक नया दर्शन प्रदान करने और इस सबके बीच मानव-मूल्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से विविध पत्र-पत्रिकाओं का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

वास्तव में स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद रचित नये साहित्य ने आलोचना के क्षेत्र में नई समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनका समाधान होना और आलोचना के किसी पैटर्न का, जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप ही, निर्मित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए नए साहित्य की आवश्यकताओं, उसके स्वरूप आदि को देखते हुए, नई जीवन चेतना को दृष्टि-पथ में रखते हुए, साहित्येतर उपकरणों की भी अवहेलना न करते हुए, साहित्य के नए प्रतिमानों के स्थापित होने की आवश्यकता है। भारतीय काव्यशास्त्रों और पाश्चात्य ग्रंथों का विधिवत् अध्ययन होने के पश्चात् एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण उभरने की आवश्यकता है। हिन्दी में आज आलोचक तो बहुत दिखाई पड़ते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश अभी कोई प्रतिभाशाली आलोचक दृष्टि-गोचर नहीं होता। यही कारण है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद की आलोचना दुर्बल है। अधकचरे दृष्टिकोण वाले आलोचक ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। राष्ट्रीय जीवन और नए साहित्य के सन्दर्भ में नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए सशक्त और पुष्ट आलोचना की अत्यन्त आवश्यकता है। रचनात्मक साहित्य का बहुत बड़ी मात्रा में प्रकाशन होने के कारण तो सामयिक आलोचना का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ गया है।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद हिन्दी में उपन्यास, कहानी और कविता, ये तीन साहित्यिक विधाएँ सबसे अधिक पुष्ट हुईं जिन पर आगे विचार किया गया है।

उपन्यास

स्वतंत्रताकालीन पिछले ३४ वर्षों के जीवन की सबसे अधिक अभिव्यक्ति उपन्यास और कहानी-साहित्य में हुई है, क्योंकि इन दोनों विधाओं का जीवन से सीधा सम्बन्ध है। यद्यपि ऐल्डस हक्सले कृत 'द जीनियस ऐंड द गॉडेस' उपन्यास के रिवर्स नामक पात्र के शब्दों में कहा जा सकता है : 'The trouble with fiction is that it makes too much sense.'....Reality never makes sense'.... 'May be from God's Point of view. Never from ours. Fiction has unity, fiction has style. Facts possess neither. In the raw, existence is always one damned thing after another, and each of the damned things is simultaneously Mickey Spillane and Maxwell and Thomas A Kempis. The criterion of reality is its intrinsic irrelavence'....'to the Best that has been Thought and Said....Oddly enough, the closest to reality are always the fictions that are supposed to be the least true" (He leaned over and touched the back of a battered copy of 'The Brothers Karmazov'). It makes so little sense that it's almost real. Which is more than can be said for any of the other academic kinds of fiction. Philosophy fiction, History fiction, Physics and Chemistry fiction....' (His accusing finger moved from

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dirac to Toyanbee, from Sorokin to Carnap). More than can be said even for biography fiction....' तो भी इन दोनों विधाओं को, अन्य विधाओं की अपेक्षा, जीवन के यथार्थ के अधिकाधिक निकट माना जाता है।

आज के उपन्यास साहित्य में जीवन की विद्रूपता, खण्डित होते हुए मूल्यों और नवविकसित या अर्द्धविकसित जीवन-मूल्यों की अच्छी झाँकी मिल जाती है। युवा उपन्यासकार को पुराने आदर्शों में विश्वास नहीं है। अधिकांश उपन्यासों में परिवेश के घात-प्रतिघात से उत्पन्न व्यक्ति के मन, उसकी नियति, उसके भोगे हुए यथार्थ का चित्रण हुआ है। व्यापक सामूहिक जीवन को उसमें कम स्पर्श किया गया है। साथ ही सेक्स और मनोविज्ञान आज के उपन्यास के प्रधान अंग बन गये हैं। कथानक, कथोपकथन आदि पर अधिक बल न देकर वह मानव-मन की रहस्यमयी और अन्धकार-पूर्ण गुफाओं में अधिक प्रवेश करता है। दाम्पत्य जीवन में या उसके बाहर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर उपन्यासकार दृष्टिपात कर नारी को नये सामाजिक और आर्थिक सन्दर्भों में चित्रित करते हुए सेक्स पर आवश्यकता से अधिक बल दे बैठता है। इन व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जो स्त्री-पुरुष के सेक्स-स्वातंत्र्य, परिवार आदि से सम्बन्धित परिवर्तित परिवेश में दायित्व-बोध का परिचय देते हुए भी देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विसंगतियों पर दृष्टिपात करते और मध्ययुगीन संस्कारों और सामंतवादी और पूंजीवादी संस्कारों पर प्रहार करते हैं। स्वतंत्र भारत में चोरबाज़ारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, चारित्रिक एवं नैतिक पतन, क्षुद्र स्वार्थ और संकीर्णता, मँहगाई, बेकारी, जीवन की यान्त्रिकता और ऊब, अजनबीपन, झूठे मुखौटों, दिशाहीनता, जीवन का तनाव, बाहरी-भीतरी संघर्ष, भीड़ में व्यक्ति का खोया हुआ लगना आदि कुरूपताओं और विसंगतियों का चित्रण कर वह जीवन के नये अर्थ की तलाश करता है। युवा उपन्यासकारों ने अनेक कथा-रूढ़ियाँ तोड़ी हैं—कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से। शिल्प की दृष्टि से सामाजिक उपन्यास कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण-कथोपकथन, देश-काल-वातावरण आदि परम्परा से चले आ रहे प्रतिमानों की अवहेलना करता है। आज का पाठक उपन्यासकार को 'किस्सागो' के रूप में देखना नहीं चाहता और न स्वयं श्रोता या दर्शक बना रहना चाहता है। पात्रों के साथ वह जीवन का 'सहभोक्ता' बनना पसन्द करता है। वह उपन्यास को जीने की इच्छा रखता है। उपन्यास में उपलब्धियों के स्थान पर सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं, क्योंकि युग ही सम्भावनाओं का है। अनुभूति की प्रामाणिकता में लेखक की सफलता समझी जाती है। अब उपन्यास में पात्र या चरित्र प्रधान न होकर परिवेश ही प्रधान माना जाता है। अन्तर्मन की यात्रा के फलस्वरूप सामयिक उपन्यास के वस्तु-संकलन और टेक्सचर में अन्तर आ गया है। 'प्रसाद'-प्रेमचन्द-परम्परा में रिचर्डसन और फील्डिंग की भाँति मनोविज्ञान तो था, किन्तु कथा पर अधिक बल दिया गया था और मन के प्रगाढ़त्व और घनत्व के लिए उसमें अवसर कम थे। उपन्यासकार सर्वव्यापक और सर्वज्ञ बना रहता था और घटनाएं एवं दृश्य एक सीधी रेखा की भाँति निश्चयात्मकता के साथ, तिथि-क्रम की तरह, आगे बढ़ते थे। स्वतंत्रता की प्राप्ति के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाद लेखक की अन्तर्गामिनी दृष्टि बढ़ी है और 'पूर्व-दीप्ति' ('फ्लैशबैक'), 'चेतना-प्रवाह' ('स्ट्रीम ऑव कॉन्शस्नेस') और 'प्रकाश अन्तराल' ('टाइम शिफ्ट') जैसी पद्धतियाँ सामने आई हैं। 'पूर्व-दीप्ति' (रमेश बक्षी : 'अठारह सूरज के पौधे') में पात्रों की स्मृति से अतीत के अन्धकार की घटनाएँ, बिना किसी क्रम-विन्यास के प्रदीप्त होती हैं। उनमें कथा-अवधि कम है और जीवन का विस्तृत फलक ऐतिहासिकता से मुक्त होकर वर्तमान का बाना ग्रहण करता है। वर्तमान अतीत के कंधे पर बैठता है। क्योंकि पिछली बातें पात्रों के मन से छन कर आती हैं और पात्र स्वयंद्रष्टा बन जाता है, इसलिए इस पद्धति में कुछ सूक्ष्मता रहती है, किन्तु स्थूल प्रदर्शन का बाह्य क्रियात्मक रूप पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता। साथ ही उपन्यास में सानुपातिकता नहीं रहती। इन दोषों को 'चेतना-प्रवाह' पद्धति ('नदी के द्वीप', 'धूमकेतु : एक श्रुति') द्वारा दूर किए जाने की चेष्टा की गई। यह पद्धति जीवन के चिर लघु, किन्तु चिरजीवी एवं विशाल क्षण को पकड़ती है और जीवन को केवल मानसिक, आन्तरिक प्रवाह के रूप में देखती है। पाठक को उपन्यासगत भाव-तरंगों के साथ अपनी अनुभूति को क्रियाशील रखते हुए उपन्यासकार के प्रति सक्रिय सहयोग प्रदान करना पड़ता है। हृदय की विशुद्ध सत्ता के प्रकाश में वस्तुओं को देखना, महान् घटनाओं को नगण्य और छोटी-छोटी घटनाओं को प्रमुख रूप देना, स्वगतोक्तिपूर्ण उद्गार, भाव-लहरियों को शब्दबद्ध करना आदि बातें इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। फ्रांस में इसे 'monologue interior' कहते हैं। पात्र अहं के बन्धन से मुक्त होकर चेतना के कई स्तरों पर सोचता है। पश्चिम में वर्जीनिया वुल्फ़, डी० रिजर्ड्सन, मिस सिन्क्लेअर, विलियम जेम्स, जेम्स जॉयस आदि की रचनाओं में इस पद्धति का आश्रय ग्रहण किया गया है। हिन्दी में प्रभाकर माचवे, 'अज्ञेय', महीपसिंह (कहानियाँ) आदि की कुछ रचनाओं में यह पद्धति दृष्टिगोचर होती है। 'प्रकाश अन्तराल' को अँगरेजी में 'Chronological Looping Method' कहते हैं। कर्ट लेविन के अनुसार किन्हीं भी दो व्यक्तियों का आयाम एक-सा नहीं होता। सामाजिक सम्बन्धों, भय, मोह आदि के कारण प्रत्येक व्यक्ति का आयाम अपने-अपने ढंग से संकुचित और विस्तृत होता रहता है, इसके अतिरिक्त यह जीवित या सामाजिक आयाम भौतिक आयाम की अपेक्षा सीमित होता है। अतः इस पद्धति में अनिश्चितता और रहस्यात्मकता बनी रहती है। कथा का अन्तिम बिन्दु आता ही नहीं और उसमें अतीत न होकर वर्तमान ही होता है। घटनाएँ इस तरह प्रस्तुत की जाती हैं कि अतीत और वर्तमान का भेद मिट जाता है। साथ ही पात्रों के चरित्र-विकास में भी क्रमिकता नहीं रहती। उनके विकास का क्रम आगे-पीछे होकर सामने आता है। पात्रों की तरह उनकी भावनाएँ, उनके विचार, उनके कार्य एक स्थान पर केन्द्रित न होकर गतिशील होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति के जीवन में घटित किसी दुःखद घटना का पहले चित्रण कर दिया जाय, तत्पश्चात् उस दुःखद घटना के समय की मानसिक अवस्थाओं का चित्रण किया जाय, और फिर उस दुःखद घटना से पूर्व की कथा। कॉनरेड कृत 'जिम' और 'चान्स' उपन्यासों में यह पद्धति ग्रहण की गई है। हिन्दी में रेणु के 'मैला आँचल' में इस तरह के प्रयोग काफी मिलते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आज का कथ्य न तो समय की सीमा में बद्ध है और न उसमें पारिवारिक पीठिका को ही बहुत महत्त्व दिया जाता है। उपन्यासकार एक विशेष परिवेश में जीवनयापन करने वाले व्यक्ति के मन की खोज करता है। उपन्यास-लेखक पाठक को सूक्ष्म दृष्टि प्रदान कर घटनाओं और पात्रों का आन्तरिक स्वरूप पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। अतीत में पदार्पण कर किसी लम्बे काल-खण्ड का चित्र प्रस्तुत करना, अथवा सीमित काल का जीवन समेटना, हास्य-व्यंग्य प्रस्तुत करना ('राग दरबारी'), गीति-बन्ध (सिम्फ़नी) और मनोविश्लेषणात्मक शैली ग्रहण करना, उपन्यास के अन्दर उपन्यास प्रस्तुत करना ('अमृत और विष'), महाकाव्यात्मकता उत्पन्न करना ('बूंद और समुद्र', झूठा सच'), बाह्य एवं आंतरिक द्वन्द्व चित्रित करना, चलचित्र-निर्माण-पद्धति के अन्तर्गत 'डॉक्यूमेंटरी' शिल्प ('शहर में घूमता आईना'), 'ट्रेलर शिल्प' (थोड़े में सम्पूर्णता का बोध—'अलग-अलग वैतरणी'), और 'क्लोज़-अप या स्लो-अप' शिल्प (लघु क्षण का विकास—'नदी के द्वीप'), तथा आंचलिक ('रेणु' के उपन्यास), प्रतीकात्मक ('अंधेरे बंद कमरे'), लोकगाथात्मक ('काठ का उल्लू और कबूतर') आदि पद्धतियों का प्रचार है। अतीत का वर्णन करने के लिए उपन्यास-लेखक अब भी डायरी और पत्र-शैलियों का अनुसरण करते हैं। वैसे, व्यापक दृष्टि से, आज के उपन्यास में परिदृश्यात्मक शैली की अपेक्षा दृश्यात्मक शैली अधिक ग्रहण की जाती है। दृश्यात्मक शैली में पाठक दृश्यों का अवलोकन स्वयं करता है, सुनता नहीं।

कुछ वर्षों से हिन्दी में लघु उपन्यास लिखने की प्रथा भी चल पड़ी है (उदा० दीप्ति खंडेलवाल : 'वह तीसरा', १९७६, नरेन्द्र कोहली, 'जंगल की कहानी, १९७७)। उसमें लेखक कथा को विस्तार प्रदान नहीं करता, वरन् एक विशिष्ट दृष्टिकोण तक ही अपने को सीमित रख पात्रों और घटनाओं का चयन करता है। उसमें उसकी त्वरित प्रतिक्रिया व्यक्त होती है। वह जीवन को बड़े पैमाने पर नहीं देखता। कुछ लेखकों ने 'अ-उपन्यास' और 'एब्सर्ड उपन्यास' लिखने की भी विफल चेष्टा की है। भाषा की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास ने व्यापकता और उदारता का परिचय दिया है। उसमें सहजता, नवीन संयोजन, बिंब-प्रधानता, प्रतीकात्मकता, गहरी व्यंजना आदि का समावेश रहता है। नई जिंदगी के अनुरूप उपन्यासों की शब्दावली भी नई होती जा रही है। भाषा और विभिन्न शब्दों का प्रयोग जीवन का बिम्ब उभारने के लिए किया जाता है। वास्तव में शिल्प-परिवर्तन का प्रमुख कारण नवीन कथ्य का प्रवर्तन है। नई संवेदना, जटिल मनःस्थिति सदैव नई शैलियों को जन्म देती है। यह नवीन शिल्प विधि जीवन को आस्वाद्य बनाने के लिए है। वैसे अलग-अलग उपन्यासों की अलग-अलग शिल्प विधियाँ हैं, किन्तु एक ही उपन्यास में कई शिल्प-तत्त्वों का रहना वर्जित नहीं है। वस्तु और शिल्प, अनुभूति और अभिव्यक्ति आज इतने घुले-मिले तत्त्व हैं कि उन्हें अलगाना आधुनिकता के विभिन्न स्तरों को अलगाने के बराबर दुस्साध्य नहीं तो कठिन अवश्य माना जायगा। इसलिए आज के शिल्प को किसी एक बँधे-बँधाए मापदण्ड से परखना कठिन होगा। परिवेश, अनुभव की प्रामाणिकता, मनः-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थितियों और संस्कारों की भिन्नता ने सामयिक उपन्यास के अतिरिक्त और बाह्य दोनों रूप बदल दिए हैं।

१९४७ के बाद उपन्यासों के सन्दर्भ में आधुनिकता और युग-बोध का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। कविता की चर्चा करते समय आगे इस संबंध में विचार किया गया है। 'आधुनिकता' का बोध महानगरों के जीवन से ही सम्पृक्त समझना ठीक नहीं है। वह पश्चिम का अन्धानुकरण नहीं है और न वह ऊपर से लादी हुई और ओढ़ी हुई चीज़ है। वह कोई 'फ़ार्मूला' भी नहीं है। वह संवेदना के स्तर पर एक निरन्तर गतिशील दृष्टिकोण है। वह काल-सापेक्ष नहीं, दृष्टि-सापेक्ष है और उसमें सार्वजनीन मानवीय अपील रहती है और, आधुनिक युग की जटिल मनःस्थिति और परिवेश को पकड़ पाना ही 'युग-बोध' है।

वैसे तो १९४७ के बाद पुराने खेवे के अनेक उपन्यासकार अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, तो भी १९४७ के बाद उन युवा उपन्यासकारों की चर्चा ही अधिक होती है जिनके तेवर बदले हैं, जिनके स्वर में तलखी है और जो नये इंसान की नई इंसानियत की खोज करने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे उपन्यासकारों में राजेन्द्र यादव ('प्रेत बोलते हैं', १९५२—इसी का संशोधित रूप 'सारा आकाश', १९६०; 'उखड़े हुए लोग', १९५७; 'शह और मात', १९५९; 'अनदेखे अनजान पुल', १९६३; मन्नू भण्डारी के साथ 'एक इंच मुस्कान', (१९६२) अमृतलाल नागर ('बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये', 'मानस का हंस', 'नाच्यो बहुत गोपाल') नरेश मेहता ('डूबते मस्तूल', १९५४; 'धूमकेतुः एक श्रुति', १९६२; 'यह पथ बन्धु था', १९६२; 'दो एकान्त', १९६४; 'नदी यशस्वी है', १९६७; 'प्रथम फाल्गुन', १९६८), मोहन राकेश (अँधेरे बन्द कमरे', १९६१; 'न आनेवाला कल', १९६८; 'अन्तराल', १९७२), निर्मल वर्मा ('वे दिन', १९६४), उषा प्रियंवदा ('पचपन खम्भे लाल दीवारें', १९६१; 'रुकोगी नहीं····राधिका', १९६७), कृष्णा सोबती ('मितरो मरजानी', १९६७; 'सूरजमुखी अँधेरे के'), शिवानी (कृष्ण-कली', १९६९; 'भैरवी' १९६९; 'चौदह फेरे' १९६५; 'अपराधिनी', १९७१), भीष्म साहनी ('कड़ियाँ', १९७०), गिरिराज किशोर ('लोग, १९६६; 'चिड़ियाघर', १९६८; यात्राएँ', १९७१), ममता कालिया ('बेघर', १९७१) राजकमल चौधरी ('मछली मरी हुई', १९३६, 'शहर का शहर नहीं था; १९६६), रामानन्द सागर ('इन्सान मर गया, १९४९), धर्मवीर भारती ('सूरज का सातवाँ घोड़ा', १९५२), फणीश्वर नाथ 'रेणु' ('मैला आँचल', १९५४; 'परती परिकथा', १९५७; 'कितने चौराहे', ('जुलूस'), सुरेश सिनहा ('एक और अजनबी', १९६१; 'सुबह अँधेरे पथ पर', १९६७; 'पत्थरों का शहर', १९७२), शिवप्रसाद सिंह ('अलग-अलग वैतरणी', १९६७, आजकल उनका 'गली आगे मुड़ती है' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हो रहा है), श्री लाल शुक्ल ('राग दरबारी', १९६८), कमलेश्वर ('काली आँधी'), रमेश बक्षी ('अठारह सूरज के पौधे', १९६५, 'जलता हुआ लावा', १९६८), 'डॉ० देवराज ('बाहर और भीतर', १९५४; 'अजय की डायरी', १९६९; 'मैं, वे और आप' १९६९), गिरिधर गोपाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

('चाँदनी के खंडहर', १९५४; 'कन्दील और कुहास', १९६९; 'दोहरी आग की लपट'), अमरकान्त ('काले उजले दिन', १९६९), रामदरस मिश्र ('जल टूटता हुआ', १६६९, 'रात का सफर', १९७६), दुष्यन्त कुमार ('आँगन में एक वृक्ष', १९-६९), मनहर चौहान ('आखिरी सफ़ा', १९७१), मणि मधुकर ('सफेद मेमने', १९-७१), बदीउज्ज़मा ('एक चूहे की मौत', १९७१, 'छठा तंत्र', १९७७), विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ('पक्षधर'; १९७१), मन्नू भण्डारी (राजेन्द्र यादव के साथ 'एक इंच मुस्कान' १९६२; 'आपका बंटी' १९७१), लक्ष्मीनारायण लाल ('धरती की आँखें, घोंसला और साँप', 'बड़ी चम्पा : छोटी चम्पा', 'शृङ्गार' आदि), केशवचन्द्र वर्मा ('काठ का उल्लू और कबूतर'), :सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ('सोया हुआ जल'), आनन्द प्रकाश जैन ('कुणाल की आँखें', १९६७), राही मासूम रजा ('आधा गाँव'), रांगेय राघव ('बोलते खण्डहर', १९७६), मृदुला गर्ग ('वंशज'; १९७६), देवेश ठाकुर ('भ्रम-भंग', १९७५), राजेन्द्र अवस्थी ('बीमार शहर', 'बहता हुआ पानी'), शशिप्रभा शास्त्री ('नावें', 'अमलतास के बाद सीढ़ियाँ', १९७६), मणिका मोहिनी ('अभी तलाश जारी है', १९७६), राजानन्द ('मम्मी ऐसी क्यों थीं', १९७६), रघुवीर सहाय ('दिल्ली मेरा परिवेश', १९७६), मीनाक्षी पुरी ('जाने-पहचाने अजनबी', १९७७), योगेश गुप्त ('उनका फैसला', १९७७), टूटता हुआ कोमा', १९७७), मृदुला गर्ग ('वंशज'), 'उसके हिस्से की धूप', निरुपमा सेवती ('बँटता हुआ आदमी', १९७७), विवेकी राय ('लोकऋण', १९७७), देवेश ठाकुर ('भ्रमभंग', १९७५), नरेन्द्र कोहली ('दीक्षा', १९७५), ममता कालिया ('नरक-दर-नरक', १९७५), मेहरुन्निसा परवेज ('कोरजा', १९७७), वीरेन्द्र कुमार गुप्त ('चार दिन', १९७८) आदि के नाम प्रमुख हैं। इन लेखकों ने द्वितीय महायुद्ध के बाद के अभावों, संघर्षों और संवेदना के बीच से गुजरती हुई ज़िन्दगी की नब्ज़ पहचानने की चेष्टा की है। उपन्यास को ही नहीं, कविता और कहानी को भी दृष्टिपथ में रखते हुए यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि आज के साहित्य का उद्देश्य एक व्यक्ति का परिवेश प्रस्तुत कर उसकी नियति पहचानने की चेष्टा में निहित है। आस्था और अनास्था, विघटित होते हुए मूल्यों और अन्तर्विरोधों का उसमें तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ है।

कहानी

द्वितीय महायुद्ध के बाद कहानी साहित्य ने भी जीवन के उन्हीं संदर्भों से प्रेरणा ग्रहण की है जिन सन्दर्भों से उपन्यास-साहित्य ने—अर्थात् कहानी लेखक भी परिवेश के बोध की संवेदना के स्तर पर जी कर, बाह्य और आन्तरिक विसंगतियों, अंतर्विरोधों और कटुताओं को झेलते हुए नये मानवीय क्षितिज की खोज करने निकल पड़ा है और वह अपने व्यक्ति समाज के बीच समीकरण एवं सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा में संलग्न है। ऐसा करते समय, अन्य साहित्यकारों की भाँति, उसने अपने रास्ते में खतरे पैदा कर लिए हैं और उसमें कृत्रिमता तथा भटकाव भी काफ़ी मात्रा में पाया जाता है। तो भी उसका स्वर नितान्त अनर्गल और अर्थहीन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनिश्चितता, सम्भावनाओं और भयंकर अस्त्र-शस्त्रों के युग में उसका भयभीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना स्वाभाविक है। राष्ट्रीय जीवन के स्तर पर स्वप्न-भंग की स्थिति ने उसमें और भी असन्तोष भर दिया है। फलतः जीवन के चौमुखी संसारव्यापी विघटन के बीच आज का मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपने को 'एसर्ट' करने की चेष्टा करते हुए साहित्य के क्षेत्र में नई वैचारिक पगडंडियाँ खोजने में लगा हुआ है। स्पष्ट है आज के कहानी-साहित्य के मूल्यांकन के मानदण्ड भी बदलने चाहिए।

१९४७ के आसपास और उसके बाद पुराने कहानी-लेखकों की रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित हुईं और होती रही हैं, किन्तु उसमें द्वितीय महायुद्ध के बाद के जीवन के बदलते हुए सन्दर्भ दृष्टिगोचर नहीं होते। सन् १९४७-४८ के आसपास युवा पीढ़ी के कहानीकारों की रचना-प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। 'व्यक्तिवाद' के स्थान पर 'वैयक्तिक स्वातन्त्र्य' उसकी मूल विशेषता थी। उन्होंने सम्पूर्ण मानव के वैशिष्ट्य के साथ व्यक्ति के दायित्व और उसकी गरिमा पर बल दिया। वे परिवेश के प्रति भी ईमानदार हैं और अपने अहं, कुण्ठा, संत्रास, अकेलापन आदि के बहाने अपनी अकुलाहट और बेचैनी व्यक्त करते हैं। स्वीकृति, अस्वीकृति और आत्मस्वीकृति—तीनों ही उनमें हैं। अतिरंजित सेक्स, देहवाद, कृत्रिमता, आत्मनिष्ठा आदि दोष भी उनमें हैं, किन्तु जीवन के नये आयाम खोजने के लिए वे सचेष्ट हैं, यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है।

फलतः, उपन्यास की भाँति कहानी के कथ्य और शैली में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। कथ्य की दृष्टि से उसमें आधुनिक युग-बोध एवं मानव-बोध अपने अच्छे-बुरे रंगों एवं विभिन्न आयामों के साथ चित्रित हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद का जीवन उसमें मुखरित हुआ हैं और वह जीवन को नई अर्थवत्ता देने का प्रयास कर रही है। पात्रों को उसने अभिनव यथार्थ के पार्श्व दिये हैं और मानव-मूल्य-मर्यादा एवं समकालीन जीवन में सन्निहित आधुनिक संचेतना की अभिव्यक्ति कर नवीन परिवेश में नवीन मनःस्थितियों को गरिमा प्रदान की है। सफल कहानी-लेखक वही माना जाता है जो अपनी आन्तरिक श्रेष्ठता के बल पर अपने परिवेश को सार्थकता प्रदान करना चाहता है, जो सामाजिकता से विमुख है और न अपनी संकीर्ण-परिधि का बन्दी है, जो आवश्यकता से अधिक सेक्स के पीछे नहीं पड़ता और जो पश्चिम का अन्धानुकरण नहीं करता। आज की कहानी में यदि एक ओर कथानक का ह्रास हो गया है, तो उसकी क्षतिपूर्ति परिवेश के चित्रण, मन को कुरेदने और परिवेश तथा विभिन्न मनःस्थितियों के बीच पात्र के व्यक्तित्व को उभारने में हो जाती है। वह व्यक्ति के कथित मन की गाथा बन गई है। पात्रों और घटनाओं की अवतारणा किसी वैचारिक विशेषता या 'मूड' या मन का कोई विशेष पक्ष उभारने की दृष्टि से होती है और उस समय उसमें निबन्धगत विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। आज की कहानियाँ कुछ दार्शनिक अन्दाज से लिखी जाती हैं जिनमें पात्र कुछ करते नहीं, केवल सोचते हैं, उन्हें 'होने' भर का अहसास रहता है। कहानी का परम्परागत वर्गीकरण (चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान, वातावरण-प्रधान आदि) अब मान्य नहीं है। आज देखना होता है—अनुभूति की प्रामाणिकता, परिवेशगत सत्य, संवेदनशीलता और मानवीयता का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समन्वय। इन चारों विशेषताओं के समन्वय से पूर्ण कहानी कलात्मक समझी जाती है। यह कलात्मकता कहानीकार के आत्मबोध, जीवनानुभव और बदलते हुए मानवीय सम्बन्धों की पकड़ पर निर्भर करती है। उसमें वर्तमान जीवन की असंगतियों, विसंगतियों एवं विकृतियों के साथ अदम्य जिजीविषा रहती है। उसमें सूक्ष्म यथार्थ बोध रहता है। सामयिक कहानी को उसकी अपना परम्परा का सशक्त रूप ही कहा जायेगा। उसे 'नई' शब्द से अभिहित करना या विभिन्न दशकों में वर्गीकृत करना वैज्ञानिक नहीं है। उसमें अनुभवों के स्तर में थोड़ा-थोड़ा अन्तर भले ही हो, किन्तु इस प्रकार के विभाजन में 'साहित्यिक नेतागीरी' और दलबन्दी की बू आती है। जो कुछ भी हो, आज का कहानीकार 'ऑब्सेशन' से उबर कर 'इन्वॉल्वमेंट' चाहता है और चाहता है अपने अनुभव-बिम्बों के आधार पर जीवन के बदलते हुए सन्दर्भों को अभिव्यक्ति प्रदान करना। आज की कहानी में 'हीरो' भी गौण या नगण्य है। उसके स्थान पर भोगा हुआ सामाजिक यथार्थ प्रधान हो गया है। किस्सागोई और कुतूहलपूर्ण घटनाओं के स्थान पर उसमें क्षणों, 'मूडों' खण्डित अनुभवों और शिल्प के क्षेत्र में सांकेतिकता, अमूर्तता और प्रतीकात्मकता को स्थान दिया जाता है। कहानी के सम्बन्ध में भी 'आधुनिकता' मूल्य-मर्यादा, 'प्रतिबद्धता', 'सामाजिक दायित्व', 'युग-बोध' आदि की चर्चा होती रहती है। किन्तु बहुत कम कहानीकार हैं जो इन सब बातों का संतुलित निर्वाह करते हुए कलात्मक कहानियाँ दे पाए हों। अधिकतर कहानी-लेखक पति-पत्नी के टूटते सम्बन्धों, सेक्स प्रेम के विभिन्न आयामों आदि को लेकर ही कहानी लिखते हैं। पीढ़ियों का संघर्ष भी उनकी विशेषता है। आज की कहानी ने जीवन-परिवेश लिया है और उसके विविध पक्षों के उघरे-दबे कोनों को उजागर करने का प्रयत्न किया है। किन्तु इन सब विशेषताओं के साथ सामयिक कहानी का कथ्य संकीर्ण है, लेखकों के अनुभव का दायरा सीमित है और उनका मुहावरा एक-जैसा दृष्टिगोचर होता है। बहुत कम कहानियाँ ऐसी मिलेंगी जो गुणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हों—यद्यपि आज हिन्दी में उपन्यासों और कहानियों की भरमार है। वास्तव में १९५० के बाद हिन्दी कहानी ने जो करवट बदली उसके फलस्वरूप उसने अपनी परम्परागत रीति में परिवर्तन उपस्थित किया है। द्वितीय महायुद्ध और स्वतन्त्रताकालीन भारतीय जीवन की विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप सामयिक कहानी में मध्यमवर्गीय कुण्ठा, निराशा, संत्रास, भय, भग्नाशा, अजनबीपन, अकेलापन, जीवन की निरर्थकता, सेक्स आदि और अंचलों के जीवन तथा हरिजनों आदि से सम्बन्धित कथानकों में महाकाव्यों के 'हीरो' के स्थान पर सामान्य, निरीह, लघु मानव, यहाँ तक कि चरित्रहीन मानव, की भी स्थापना हुई है। उसमें अनुभूति की प्रामाणिकता पर बल दिया जाता है।

व्यक्तिवाद और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को लेकर 'सचेतन कहानी' और 'अकहानी' आन्दोलनों के स्थान पर हिन्दी में अब 'समानान्तर' या 'समान्तर' कहानी आन्दोलन चल पड़ा है जो कमलेश्वर के नेतृत्व में १९७० में शुरू हुआ। यह कहा जाता है कि समान्तर कहानी जीवन के समान्तर या समानान्तर है, समीप है। आन्दोलन करने वालों का दावा है कि समानान्तर कहानी में आज की दुःख-दर्द भरी जिन्दगी, सन्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७० के बाद की मानसिकता को समेटने का प्रयास रहता है। उसमें गरीबी, भूख, हड़ताल, असुरक्षा, सेक्स, अजनबीपन आदि के सन्दर्भ में झूठे मानवीय मूल्यों का पर्दा-फ़ाश किया जाता है। जीवन में जड़त्व की स्थिति से वह संघर्ष करना सिखाती है। उसमें जिस आदमी की स्थापना होती है वह धूल-मिट्टी में सना हुआ है, जानवरों की तरह ज़िन्दगी बिताता है, भूखों मरता है। आठवें दशक के जीवन-संघर्ष में विघटित होते हुए मानवीय मूल्य समानान्तर कहानी के कथ्य हैं। यह इन्सान धर्म और ईश्वर की बेड़ी तोड़ देना चाहता है, उसको अपनी आस्थाएँ ही उसे छल रही हैं, दरारों के बीच पड़ा वह कष्ट सह रहा है और तथाकथित शुभचिन्तकों से छला जा रहा है। नवीन वैचारिक परिवर्तन की इन कहानियों पर छाया है। समानान्तर कहानी पर कुछ लोग कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रभाव मानते हैं। कमलेश्वर, अजित पुष्कल, हिमांशु जोशी, आशीष सिनहा, आलमशाह खान, सुभाष पन्त आदि इन कहानियों के लेखक माने जाते हैं जिन्होंने क्रमशः 'बयान', 'नरक कुंड की मछली', 'मनुष्य चिह्न', 'आदमी', 'पराई प्यास का सफ़र', 'तपती हुई ज़मीन' जैसी कहानियों की रचना की है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद कहानी-लेखकों की पुरानी और नई दोनों पीढ़ियाँ जीवित हैं। पुरानी पीढ़ी में राय कृष्णदास, जैनेन्द्र, यशपाल, 'अज्ञेय', 'अश्क', भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, 'रेणु', शिवप्रसाद सिंह, सुरेश सिनहा, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, धर्मवीर भारती, उषा प्रियंवदा, दूधनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, कमलेश्वर, अमरकान्त, भीष्म साहनी, मारकण्डेय, ज्ञानरंजन, महीपसिंह, 'सन्तोष', शशिप्रभा शास्त्री ('दो कहानियों के बीच', १९७८) मृदुला गर्ग ('डैफोडिल जल रहे हैं') आदि नई पीढ़ी के असंख्य कहानीकारों में प्रमुख हैं। इन्हीं कहानी-लेखकों को लेकर कहानी-साहित्य विभिन्न दशकों में बाँटा जाता है, किन्तु, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, यह ठीक नहीं है।

मोहन राकेश के 'इन्सान के खण्डहर' (१९५०), 'नये बादल' (१९५७), 'जानवर और जानवर' (१९५८), 'एक और जिन्दगी' (१९६१), 'फ़ौलाद का आकाश', (१९६६), 'आज के साये' (१९६७), 'रोयें-रेशे' (१९६८), 'मिले जुले चेहरे' (१९६९) आदि कहानी-संग्रहों की कहानियों में जीवन की विविधता के अनेकानेक सन्दर्भ और रंग प्राप्त होते हैं और उन्होंने उन्हें नूतन शिल्प-प्रयोगों के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे समष्टिगत चिन्तन से व्यक्तिगत चिन्तन की ओर उन्मुख हुए। राजेन्द्र यादव की कहानियों में चौंकानेवाली प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। विस्मयपूर्ण लगने वाले शीर्षक और नये-नये शिल्प-विधान आदि के अन्वेषण के प्रति ही उनकी प्रयत्नशीलता सीमित रही है। वे यथार्थता या जीवन-संवेदनाओं का आभास देने का प्रयत्न भर करते हैं। उनमें आत्मनिष्ठा और व्यक्तिमूलक भाव-धारा को अभिव्यक्ति मिली है। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (१९५७), 'लंच-टाइम', 'भविष्यवक्ता', 'बिरादरी बाहर', 'तलवार पंचहजारी' (१९५९), 'टूटना', 'छोटे-छोटे ताजमहल', (१९६०), पुराने नाले पर नया फ्लैट' (१९६१) आदि उनकी बहुचर्चित कहानियाँ हैं। 'रेणु'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आंचलिक कहानीकार हैं। 'ठुमरी' (१९५९) कहानी-संग्रह के पश्चात् उनकी 'तीसरी कसम.....', 'रसप्रिया', 'तीर्थोदक', 'लाल पान की बेगम', 'पंचलाइट' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। 'रेणु' की कहानियों में मिट्टी की गंध का अनुभव होता है। उन्होंने अंचल की लोक-संस्कृति, भाषा, आचार-व्यवहार, स्थानीय जीवन-पद्धति, मुहावरों आदि को सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से परखा है और उसे व्यापक सार्वजनीनता देते हुए अपूर्व मानवीय संवेदनशीलता प्रदान की है। उन्होंने मूक अंचल को वाणी दी है। उनका शिल्प भी नूतनता और सशक्तता लिए हुए रहता है। सन् ५० के बाद के कहानीकारों में डॉ० शिवप्रसाद सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। उनकी रचनाओं में रोमांटिक यथार्थ, युगीन संक्रमण, युगीन अस्तित्व पर महत्त्वपूर्ण प्रश्नचिह्न, किन्तु साथ ही उनकी अन्तिम परिणति आरोपित आदर्श के बोझ से लदी हुई मिलती है। वे मनुष्य के प्रति प्रतिबद्ध हैं। उनमें जीवन के प्रति आस्था है। 'बीच की दीवार', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'बरगद का पेड़', 'अंधकूप', 'सुबह के बादल', 'कर्मनाशा की हार', 'नन्हों' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। चरित्रगत विशेषताओं से पूर्ण उनका हाल में प्रकाशित 'अँधेरा हँसता है' (१९७५) कहानी संग्रह है। 'एक अपरिचित दायरा', 'कई कुहरे', 'कई आवाजों के बीच', 'एक उदास आत्महत्या', 'यहाँ वहाँ धूप', 'मृत्यु और.....' आदि कहानियों में सुरेश सिनहा ने आधुनिक जीवन का विघटन, संत्रास, कुंठा आदि स्वीकार करते हुए भी सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है। उनके पात्र संघर्ष से जूझते हैं। वे अन्दर से टूटते नहीं। सुरेश सिनहा ने अपनी अन्तर्दृष्टि से आज के जीवन को पहचाना है। निर्मल वर्मा की कहानियों में आधुनिक जीवन की ट्रेजेडी यथार्थ ढंग से व्यक्त हुई है। उन्होंने जीवन में तनाव, विघटन, अजनबीपन, अनिश्चितता आदि बातें देखीं और उनका कलागत संयम के साथ वर्णन किया है। उनकी कहानियों में सूक्ष्मता रहती है। किन्तु पश्चिम की ऊपरी बातों से अत्यधिक प्रभावित होना उनके सम्बन्ध में चिन्त्य है। 'पिछली गर्मियों में', 'दहलीज', 'माया-दर्पण', 'लवर्स', 'परिन्दे', 'कुत्ते की मौत', जलती झाड़ी', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'लन्दन की एक रात' आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। वातावरण के चित्रण, वर्णन-क्षमता, निर्वाह-कौशल, प्रतीक योजना आदि की दृष्टि से वे एक सफल कहानीकार हैं। मन्नू भण्डारी वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित कहानी लेखिका हैं और उनकी रचनाएँ पारिवारिक जीवन, पति-पत्नी के सम्बन्धों और आधुनिक प्रेम तक सीमित हैं। उन्होंने तथाकथित 'आधुनिकता' पर व्यंग्यपूर्ण प्रहार किए हैं। 'रानी माँ का चबूतरा' 'यही सच है', 'कील और कसक', 'मैं हार गई', 'बिना दीवारों के घर' आदि उनकी रचनाएँ हैं। धर्मवीर भारती ने अपनी 'चाँद और टूटे हुए लोग', 'मरीज नम्बर सात', 'हरिनाकुश का बेटा', 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो', 'बन्द गली का आखिरी मकान, में निम्न मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण किया है। वे मूलतः रोमानी कवि हैं और अपना कवि रूप वे कहानी से अलग नहीं रख सके जिसके फलस्वरूप कहानियों में भावुकता आए बिना नहीं रहती। उन्होंने खोखली होती जा रही जिन्दगी का मानवीय संवेदना के साथ चित्रण किया है। उनकी कहानियों में कवित्व, मिथक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्व, प्रतीकात्मकता, व्यंजना आदि विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उषा प्रियंवदा की 'पैरम्बुलेटर', 'जाले', 'मोहबंध', 'छुट्टी का दिन', 'खुले हुए दरवाजे', 'एक कोई दूसरा', 'झूठा दर्पण', 'दो अँधेरे', 'कोई नहीं', 'जिंदगी और गुलाब के फूल', 'मछलियाँ', 'बनवास' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं जिनमें वे समष्टिगत चिन्तन से व्यष्टि चिन्तन की ओर झुकी हैं और जिनमें उन्होंने अधिकतर स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के नारी जीवन के बदलते हुए मूल्यों को अपनाया है। उनकी यह नारी मध्यमवर्गीय है। वे अपनी कहानियों में आज के पारिवारिक जीवन के कोने उभारती हैं। दूधनाथ सिंह मूलतः आत्मपरक प्रवृत्तियों के कहानीकार हैं 'सपाट चेहरे वाला आदमी' (१९६७), 'सुखान्त' (१९७१) और 'पहला कदम' (१९७६) में संकलित कहानियों में उन्होंने आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विद्रूपताओं पर दृष्टिपात किया है। उनके पास सफल शिल्प है। गिरिराज किशोर ने 'पेपरवेट' (१९६७) और रिश्ता और अन्य कहानियाँ' (१९६९), 'शहर दर शहर' (१९७६) शीर्षक संग्रहों की कहानियों में राजनीति, दफ्तरी जीवन, महानगरों की भीड़भाड़, नौकरीपेशा लोगों की जिंदगी, गन्दी बस्तियों आदि का चित्रण किया है। मध्यमवर्गीय लोगों के जीवन में जो घुटन की स्थिति आ गई और जिसके फलस्वरूप जीवन बोझ मालूम हो रहा है, उससे वे भली-भाँति परिचित हैं। कमलेश्वर ने भी मध्यमवर्गीय जीवन के यथार्थ को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति प्रदान की है। वे समष्टिगत चिन्तन में व्यष्टि-चिन्तन की ओर बढ़े हैं। लेकिन उनकी कहानियों से ईमानदारी, विशदता, विराटता, जीवन के विविध पक्षों और आधुनिकता का बोध होता है। 'नीली झील', 'कस्बे का आदमी', 'खोयी हुई दिशाएँ', 'ऊपर उठता हुआ मकान', 'मांस का दरिया', 'राजा निरबंसिया' आदि उनकी बहुचर्चित कहानियाँ हैं। 'कमलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियाँ' (१९७६) संग्रह में 'आधी दुनिया', 'इतने अच्छे दिन', 'हवा है, हवा की आवाज नहीं है', 'कितने पाकिस्तान' आदि २६ कहानियाँ हैं जिनमें वर्तमान जीवन के विविध पक्षों पर दृष्टिपात किया गया है। अमरकान्त प्रगतिशील कहानीकार हैं और प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। उनकी कहानियों में मानवीय संवेदनशीलता, जीवन का यथार्थ, आस्था एवं संकल्प है। वे शिल्प के चक्कर में नहीं पड़ते। 'दोपहर का भोजन', 'इन्टरव्यू', 'जिन्दगी और जोंक' 'एक असमर्थ हिलता हाथ', 'छिपकली', 'डिप्टी कलक्टरी' आदि उनकी उपलब्धियाँ हैं। अमरकान्त की भाँति भीष्म साहनी भी प्रगतिशील कहानीकार हैं। उन्होंने मध्यम वर्ग की विभिन्न समस्याएँ यथार्थ ढंग से चित्रित की हैं। उनका पात्र अपने लिए अजनबी नहीं है। 'चोफ की दावत', 'सिर का सदका', 'पहला पाठ', 'इन्द्रजाल', 'भटकती हुई राख', आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। वे वस्तुवादी अधिक और कलावादी कम हैं। उन्होंने जीवन के व्यापक 'क्राइसिस' को पकड़ने की चेष्टा की है। मार्कण्डेय मुख्यतः आंचलिक कहानीकार हैं और आज के गाँवों के जीवन की यथार्थता उजागर करने की उन्होंने चेष्टा की है। वे प्रगतिशील हैं और ग्रामीण भावभूमि की उन्हें अच्छी पहचान है। नगर-जीवन को लेकर लिखी गई उनकी कहानियाँ सफल नहीं मानी जा सकतीं। 'हंसा जाई अकेला', 'माही', 'गुलरा के बाबा', 'मिरदंगिया', 'आदर्शों का नायक', 'धुन', 'फूलमतिया'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि उनकी अच्छी कहानियाँ हैं। मनोरंजन की कहानियाँ वैयक्तिक चेतना पर आधारित हैं और उनमें उनका आत्मपरक दृष्टिकोण अधिक व्यक्त हुआ है। 'छलाँग', दिवास्वप्नी', 'खलनायिका और बारूद के फूल', 'शेष होते हुए', 'फेन्स के इधर और उधर', 'सम्बन्ध', 'पिता' आदि कहानियाँ इस बात के उदाहरण हैं। 'घिराव' में महीपसिंह की 'घिराव', 'कछुए', 'भाव' आदि सत्रह कहानियाँ संकलित हैं। सचेतन कहानी-शैली के वे प्रमुख कलाकार हैं और उन्होंने युगीन सन्दर्भ में जीवन की विविध विडम्बनाएँ देखने की चेष्टा की है। 'सन्तोष' यद्यपि अपेक्षाकृत नए कहानीकार हैं, किन्तु उन्होंने अपने 'जंग' कहानी-संग्रह में सूक्ष्म मानव-मन को पकड़ने की सफल चेष्टा की है। 'मोनोलॉग' या 'रेम्बलिंग' मात्र बन गई उनकी कहानियों में शिल्प की ताजगी है। मानवीय संवेदना से भी वे अछूते नहीं हैं। रवीन्द्र कालिया के 'नौ साल छोटी पत्नी' 'काला रजिस्टर' और 'गरीबी हटाओ' (१९७६) संग्रहों में शिल्पगत विशेषताएँ अधिक हैं, न कि कथ्यगत।

उपर्युक्त कहानीकारों के अतिरिक्त रमेश बक्षी, कृष्णा सोबती, काशीनाथ सिंह, शेखर जोशी, अन्विता अग्रवाल, वेद राही, पानू खोलिया, कृष्ण भावुक, सोमा वीरा, मधुकर गंगाधर, शिवानी, नरेन्द्र कोहली, बलवन्तसिंह, शानी, शैलेश मटियानी ('चील' १९७६) आदि ने भी समय-समय पर अच्छी कहानियाँ लिखी हैं और सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इधर कहानी-संग्रहों का सम्पादन भी काफी हुआ है—स्वयं लेखकों द्वारा और अन्य व्यक्तियों द्वारा जैसे; योगेन्द्र कुमार लल्ला और श्रीकृष्ण ('हिन्दी लेखिकाओं की श्रेष्ठ कहानियाँ,' १९७५), विवेकीराय ('नयी कोयल', १९७५), हिमांशु जोशी ('श्रेष्ठ समानान्तर कहानियाँ' १९७६), सुदर्शन नारंग ('महानगर की कहानियाँ', १९७६), राजेन्द्र अवस्थी ('एक औरत से इंटरव्यू', १९७६) भगवती लाल व्यास ('सूरज लीलती धारियाँ', १९७६), योगेन्द्र किसलय ('चेहरों के बीच', १९७६), विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ('बरगद की छाया', १९७६), अमृता प्रीतम ('और दिया जलता रहा', १९७७) कर्तार सिंह दुग्गल ('एक अँधेरी शाम', १९७७) मृदुला गर्ग ('टुकड़ा-टुकड़ा आदमी', १९७७, 'वंशज', १९७७) आदि द्वारा किए गए संग्रह। इधर लगभग सभी प्रसिद्ध कहानी-लेखकों ने अपने ही द्वारा अपनी 'श्रेष्ठ कहानियों के संग्रह' प्रकाशित कराये हैं।

आज की कहानी जीवन के सभी क्षेत्रों में परम्परागत मूल्यों को ललकार रही है और दोष एवं गतिरोध के बावजूद सही ढंग से एक नए दौर का प्रतिनिधित्व कर रही है। उसने प्रौढ़त्व प्राप्त कर लिया है। सन् १९५० के बाद वह संघर्ष करती हुई वर्तमान स्थिति तक पहुँची है। आज का कहानी-लेखक रूढ़िग्रस्त समाज को छोड़ कर आगे बढ़ा है, किन्तु साथ ही सामान्य पाठकों से कुछ दूर हो गया है। उसने कलात्मक कहानियाँ भी लिखी हैं और सस्ते ढंग की कहानियाँ भी लिखी हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि आज की चेतना को और अपने तथा समाज को सही-सही परिप्रेक्ष्य में पहचाने। उसे अपने कथ्य का दायरा भी विस्तृत करना होगा। जिस दिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह अपनी आज की सीमित परिधि से बाहर निकलेगा उसी दिन सन् १९५० के आस-पास किये गए प्रयोग को फिर एक नवीन रूप प्राप्त होगा।

कविता

हिन्दी की द्वितीय (१९३९-४५) महायुद्धोत्तरकालीन काव्य-प्रवृत्ति पिछली काव्य-प्रवृत्तियों का विकसित रूप होते हुए भी अपनी निजी विशेषता रखती है। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक विषमता और राजनीतिक अस्तव्यस्तता के फलस्वरूप एक तो वैसे ही कवियों, लेखकों और कलाकारों की परम्परागत मान्यताएँ हिल उठी थीं, उस पर हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबमों के गिराए जाने के फलस्वरूप मानव-जीवन के मूल्य और नैतिकता के मानदण्ड धराशायी होते दिखाई देने लगे। मनुष्य अपने को 'भस्मासुर' के रूप में समझने लगा, अपने को 'फ्रेंकैन्स-टाइन' का जन्मदाता समझने लगा। फिर, भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद देश-व्यापी व्यक्तिगत यथार्थ और देश के व्यापक हित के बीच उत्पन्न हुए संघर्ष, भयंकर विषमताओं और देश-निर्माण की अनिश्चित योजना, राष्ट्रीय जीवन में उत्पन्न अलसता, क्लान्ति और ग्लानि के वातावरण ने परिस्थिति और भी विषम बना दी। मध्यमवर्गीय कवियों और लेखकों के मन और बुद्धि दोनों कम्पित हो उठे। उन्हें अत्यन्त भीषण मानसिक ज्वार-भाटे का सामना करना पड़ा। अपने चारों ओर की दयनीय दशा के बीच उनका सामाजिक आदर्श ढह गया और उन्होंने अपने चारों ओर एक जड़ वातावरण और अवरुद्ध मार्ग पाया। लड़ाई के जमाने में चोर बाजारी से रुपया कमानेवाले लोग तो जीवन का मजा उठा रहे थे, लेकिन मध्यवर्गीय युवक भूख और अनैतिकता से पीड़ित था। समाज में वह अपने को खोया हुआ पाता था। उसमें घोर असन्तोष उत्पन्न हो गया था। किन्तु उसके पास बुद्धि और संवेदनशील हृदय था। वह आत्मोन्नति का भूखा था। दूषित और विषम वातावरण पाकर वह विद्रोह कर उठा और उस वातावरण के प्रति उसके हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया अपने-अपने संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, मानसिक परिस्थिति आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की हुई। कुछ कवियों ने तो छायावाद-रहस्यवाद, प्रगतिवाद और नवीन प्रवृत्ति का विचित्र मिक्सचर तैयार कर दिया। परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति उपहास, तीखापन, निरीहता, मानसिक 'मोतियाबिन्द', क्रोध, घृणा, आत्मपीड़न, आत्मग्लानि, पीड़ा, झुंझलाहट, अहंभाव, महत्त्वाकांक्षा, आत्मविश्वास, दिवास्वप्न, उच्छृङ्खलता आदि विभिन्न रूपों में हुई। जीवन की ऐसी परिस्थिति ने हिन्दी की जिस काव्य-प्रवृत्ति को जन्म दिया, वह मूलतः एक होते हुए भी प्रयोगवाद, रूपवाद, नकेनवाद (प्रपद्यवाद), नई कविता आदि विभिन्न नामों से अभिहित की जाती है। इन नामों के पीछे दलगत प्रवृत्ति ने काम किया है और इस दलबन्दी के दलदल में हिन्दी का साधारण पाठक फँसे बिना नहीं रहता है, इसलिए वर्तमान काव्य-प्रवृत्ति को इन विभिन्न नामों से न पुकार कर केवल 'अधुनातन काव्य-प्रवृत्ति' कहना अधिक समीचीन होगा। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन वैज्ञानिक प्रगति और मानवता के प्रति संवेदनशीलता के गायक अन्य अनेक कवि भी हैं, जो किसी प्रकार के 'प्रयोग' के झमेले में न पड़कर सीधी-सादी भाषा और शैली में भाव व्यक्त करते हैं। उनमें कोई कुण्ठा नहीं। उसके जीवन में न तो मकड़ी के जाले हैं, न 'छिपकलियाँ' और न 'नाबदान के कीड़े' और न उनका जीवन 'दो उँगलियों में दबी सस्ती सिगरेट के जलते हुए टुकड़े' की तरह है, जो चन्द लमहों में नाली में फेंक दी जायेगी। विषमताओं के बीच रहते हुए भी, नर-संहारक भीषण शक्तियों के बीच रहते हुए भी वे जीवन की ऊर्ध्व गति के प्रति आशा-वान् हैं। दूरक्षेपणास्त्रों और अंतर्ग्रहीय उड़ान के युग में भी वे मानव-जीवन के 'बौने-पन', 'उसकी लघुता' पर ही केन्द्रित न रहकर उसकी महानता के प्रति आस्थावान् हैं। उनका विश्वास है कि वर्तमान 'स्पेस युग' में मानवी संस्कृति और आगे कदम बढ़ाएगी। स्पेस-सम्बन्धी नवीन टेकनिकल और प्राणिशास्त्रीय तथा चिकित्सा-सम्बन्धी खोजों के फलस्वरूप एक ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा, जो न केवल मनुष्य की चिरन्तन जिज्ञासाओं (यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इसका बनाने वाला कौन है, आदि) का समाधान करेगा, वरन् उसकी धार्मिक और दार्शनिक आस्थाओं को कल्याणकर एवं मंगलप्रद रूप प्रदान करेगा। इस विश्वास से आपूरित कवियों की संख्या थोड़ी अवश्य है, यह सन्तोष की बात।

हिन्दी की प्रमुख सामयिक काव्यधारा पर विचार करने से पूर्व मैं इस बात की ओर संकेत कर देना चाहता हूँ कि द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप पश्चिम में एक नई साहित्यिक प्रवृत्ति ने जन्म लिया था जिसे भूखी पीढ़ी या विद्रोही पीढ़ी (बीट्स, हिप्पी, हेपनर्स, अण्डर ग्राउण्ड, फ़ोर्थ डाइमेन्शन या ज़ीरो डाइमेन्शन ग्रुप आदि) या 'ऐंग्री जेनेरेशन' का साहित्य कहा गया और जिसका नामकरण जैक कैरुवाक (उपन्यास 'ऑन द रोड') ने १९४९-५० के लगभग किया। आज की दुनिया को यह बुद्धि-जीवियों की चुनौती थी। इस साहित्य में द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न सम्भ्रम और मानसिक बेचैनी थी और उसने प्राचीन भुलावों, झूठ, आत्म प्रवंचना, मक्कारी और छलावे के रंगीन सपनों को तोड़ना अपना लक्ष्य बनाया। इन पीढ़ी के साहित्यकारों का नंगा हो जाना अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने, जो रूप असली नहीं है, घृणास्पद है उसे उतार फेंकने (कपड़े उतार देना), अपनी असलियत को पह-चानने का प्रतीक था। बुजुर्गों की बनाई हुई दुनिया की मक्कारी, गलत रंगीन ख्वाबों के खोखलेपन के स्थान पर विद्रोही युवकों ने तथाकथित गरिमामय सांस्कृतिक अतीत की धज्जियाँ उड़ाना, नई पीढ़ी को अनिश्चय से मुक्त करना अपना उद्देश्य बनाया। साहित्य में, कला में, यूनिवर्सिटी कैम्पसों में, भीड़ में, शहरों में सभी जगह युवा पीढ़ी ने अपना आक्रोश व्यक्त किया, अतीत को मुर्दा बताकर नई इमारत खड़ी करने का प्रण लिया और यांत्रिक जीवन को आधुनिक सभ्यता का अभिशाप माना—सफ़ेदपोश ज़िन्दगी को हिकारत की निगाह से देखा। कला और जीवन का अपरिहार्य सम्बन्ध न मानते हुए, वह कला को मात्र एक ऐसे अनुभव के रूप में स्वीकार करती है जो व्यक्ति के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर सकती है। संसार में जो कुछ घटित हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहा है (Happening=Hippy) उसे अपने में अनुभूत कर, अर्थात् उसमें भाग लेने या उससे विमुख होने पर ही व्यक्ति का चित्र बनता है और व्यक्ति का अपना यह चित्र बनाना ही वास्तविक कला है। यह पीढ़ी कला को मात्र मनोरंजन करनेवाली न मानकर उसे मन में हलचल पैदा करनेवाली, विद्रोह की जननी मानती है, क्योंकि विद्रोह से परिवर्तन उपस्थित होता है। भले ही कला वीभत्स रूप धारण करे, भले ही वह अदृश्य पक्षों से सम्बन्धित हो, किन्तु वह सार्थक है यदि उससे हमारा अन्तःस्पर्श हो जाता है। इस प्रकार परम्परागत जीवन-क्रम और साहित्यिक आस्थाओं को झूठ और फ़रेब समझ कर उनके प्रति घृणा व्यक्त की गई। यह कवि समाज-विद्रोही पहले था, कवि या लेखक बाद में। अतीत की नंगी, सड़ी गली लाश पर प्रहार कर उसने जो प्रश्न उठाए वे थे—'हम मानव-संहार कब खत्म करेंगे', 'America when will you take off your clothes' आदि! ऐलन गिन्सबर्ग ('हाउल' कविता), लॉरेन्स फ़लिंगेट्टी ('कोज़ी आइलैण्ड ऑव द माइण्ड'), फ़िलिप लेमंटिया, विलियम एस० बरोड़ा ('जन्की', 'क्वीर', 'द नेकेड लंच'), ग्रेगरी कोर्सो ('द हैपी वर्थ डे ऑव डेथ', 'गैसोलीन'), जॉन वाइनर्स, हिजीकाता (जापान), ज़ाँ ज़ाँक लबेल (फ्रांस) एलेग्जेन्डर ट्रोची (लंदन) आदि साहित्यकारों ने इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व किया। इनमें गिन्सबर्ग ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। अमरीका के लॉस एंजिल्स, न्यूयॉर्क, सैन फ्रान्सिस्को और पेरिस, लन्दन और टोकियो आदि नगरों में यह प्रवृत्ति पनपी। इस पीढ़ी के युवकों और साहित्यकारों ने भाँग, चरस, अफ़ीम, मारिजुआना और फ्रॉयड के मनोविज्ञान को अचेतन मन की कुंजी समझा। नशा करने का आशय था: 'दृश्य जगत् को अस्वीकार और अदृश्य जगत्, उसके असली जीवन की निरन्तर खोज'। नशे में मनुष्य इन्द्रियातीत हो जाता है। नशा इसलिये भी आवश्यक समझा गया क्योंकि इससे इन्सान का असली रूप (true self) सामने आता है।

यह तो ठीक है कि यह विद्रोह लक्ष्यहीन नहीं था। इतिहास के नये सन्दर्भ में इन्सान का अपने को समझना, अपने जीवन की स्थिति समझना उनकी माँग थी। किन्तु इन साहित्यकारों ने अश्लीलता, बेहयाई, वीभत्सता, नंगापन, घिनौने दृश्यों के वर्णन, शीघ्र समझने में न आ सकने वाले कला-रूप आदि का आश्रय लेकर संगीत के प्रति शौक दिखाया, बुद्ध के निर्वाण के प्रति आस्था दिखाई, 'सुर्रियलिस्ट' ढंग से सोचा-समझा, यायावरवादी दर्शन अपनाया, आदिम प्रवृत्तियों, मूल वेग, शक्ति, रक्त के उपासक बने, बौद्धिक रुचियाँ व्यक्त कीं, रहस्यमय सिद्धान्त ग्रहण किए, अविवेक-पूर्ण दर्शन में विश्वास किया और, इस प्रकार, एक ऐसी नई सभ्यता का आह्वान किया जहाँ आदमी आदमी बना रह सकता था, जहाँ झूठ और फ़रेब नहीं था, सड़ाँध नहीं थी और जहाँ नैतिक दोगलापन नहीं था। यह एक विचित्र बात थी। चेहरों के नकली नकाब उतारने और एक नई स्वस्थ पीढ़ी को जन्म देने की बात तो समझ में आती है, लेकिन इस शुभ कार्य के लिए जो रास्ता अपनाया गया वह समझ में नहीं आया। साधन और साध्य की पवित्रता में तो विश्वास होना ही चाहिए। यह आन्दोलन अतिपूर्ण और ऐन्द्रिय अधिक था। उसने समाज की परवाह भी न की और उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्थकों ने अपने मन का आक्रोश भद्दी-भद्दी बातों द्वारा व्यक्त किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि जीवन और कला की विकृति उन्हें किस ओर ले जायगी। सभ्यता-पूर्व स्थिति में पहुँचकर कला को उबारना कठिन है। यही कारण है कि अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में और हिन्दी में भी भूखी या विद्रोही पीढ़ी का आन्दोलन उठा और शीघ्र ही समाप्त भी हो गया। हिन्दी के सीमित कवियों और लेखकों में राजकमल चौधरी ने कुछ नाम कमाया, अन्यथा इस आन्दोलन को समाप्त होने में देर नहीं लगी। वैसे भी भारतीय चिन्ताधारा से उसका कहीं मेल नहीं था।

कई नामों में से हिन्दी काव्य की आधुनिक प्रवृत्ति के द्योतक 'प्रपद्यवाद' या 'नकेनवाद' (नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश नामों के प्रथमाक्षर) शब्द भी प्रचलित हैं। इनका प्रयोग बिहार में प्रचलित हुआ। प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद या नकेनवाद में कुछ अन्तर है। नकेनवादी तीनों कवियों ने 'प्रयोग-दशसूत्री' में प्रयोगवाद और प्रयोगशीलता में अन्तर किया है। वे प्रयोग को ही काव्य का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। किन्तु 'दशसूत्री' के अनुसार यह अन्तर होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के बहुत समीप हैं। प्रयोगवाद का सूत्रपात 'तारसप्तक' (१९४३) और 'दूसरा सप्तक' (१९५१) से माना जाता है, यद्यपि उसके स्फुट उदाहरण दो-तीन वर्ष पूर्व भी मिल जाते हैं। पटना के कुछ साहित्यकारों से और 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' से उसे बल प्राप्त हुआ। 'सप्तकों' के प्रकाशन में 'अज्ञेय' का प्रधान हाथ रहा है। 'तारसप्तक' में सात कवि हैं—गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, (रचनाएँ :—'छवि के बन्धन' १९४१, 'अग्निलोक' १९७६, 'उतना वह सूरज है १९७७), प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, (रचनाएँ :—'पृथ्वी कल्प', 'भीतरी नदी की यात्रा' आदि) रामविलास शर्मा और 'अज्ञेय'। 'दूसरा सप्तक' के भी सात कवि हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। 'तीसरा सप्तक' (१९५९) के भी सात कवि हैं—प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदार नाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेवनारायण साही और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। चन्द्रकुँवर बर्त्वाल, सूर्यप्रताप आदि की गणना भी प्रयोगवादी कवियों में की जाती है। इस प्रकार के कई अन्य-संग्रह विभिन्न नामों से अलवर, प्रयाग, पटना, कलकत्ता, कानपुर, दिल्ली आदि स्थानों से निकले हैं, और निकल रहे हैं, जिनसे कविता की नई प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है।

हिन्दी में छायावादी-रहस्यवादी कविता का ह्रास हो गया था, और प्रगतिवादी कविता में रागात्मकता का अभाव और राजनीति की बू थी। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी काव्य नई भावनाएँ, नई शैली और नया रूप-विधान लेकर सामने आया। काव्य-शिल्प की दृष्टि से जिन कविताओं में अनेक नवीन बातों का समावेश हुआ, अनेक नए प्रयोग हुए, उन सभी नवीन कविताओं की प्रवृत्ति को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा प्रदान की गई, अन्यथा 'प्रयोगवाद' शब्द अपने में बेमानी है, क्योंकि 'प्रयोग' कभी 'वाद' नहीं हो सकता और प्रत्येक काव्य-प्रवृत्ति के ह्रास के बाद नवीन प्रयोग होते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही हैं। रीति-परम्परा से युक्त-कविता के बाद जब भारतेन्दु ने नवीन कविता को जन्म दिया, तो प्रारम्भ में वह भी प्रयोग के रूप में थी, और द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के बाद छायावादी कविता भी शुरू में प्रयोग मात्र ही थी। अतः सामान्य अर्थ में तो सभी नवयुगीन विशिष्ट कविताएँ प्रयोगवादी कही जा सकती हैं। कुछ ही पहले 'निराला' भी 'कुकुरमुत्ता' में कुछ नवीन प्रयोग कर चुके थे। किन्तु आजकल 'प्रयोगवाद' का एक विशेष अर्थ प्रचलित हो गया है। 'प्रयोग' के लिए अँगरेजी भाषा में Experiment शब्द है, और 'प्रयोगवाद' के लिए Experimentalism। विशेष अर्थ में 'प्रयोगवादी' कविता को कुछ लोग 'नई कविता' के नाम से भी पुकारते हैं—यद्यपि इन दोनों में भी दलगत भावना से प्रेरित होकर भेद किया जाता है। प्रारम्भ में 'प्रयोगवादी' कविता या 'कविता' को कोई निश्चित रूपरेखा उभर नहीं पाई थी। उस समय तो कवि 'राह की खोज' कर रहा था, वह 'अन्वेषी' था। वह जीवन, और फलतः साहित्य में नये मार्ग को खोज रहा था। कवियों ने नवीन प्रयोगों के बीच से ही हिन्दी कविता का निश्चित रूप फूट पड़ा और उसका नाम भी प्रयोगवादी या फिर 'नई कविता' चल पड़ा। वर्तमान समय में मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक कवियों का ही एक विशेष समुदाय है, जो इस प्रकार की कविता का निर्माण कर रहा है। इन कवियों की जीवन की प्रतिक्रिया विभिन्न रूपों में हुई है। उदाहरणार्थ, 'यह दीप' शीर्षक कविता में 'अज्ञेय' ने मानव के जन-कल्याणमय स्नेहपूर्ण गर्व को व्यक्त करते हुए कहा है :

'....यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासा, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भी भक्ति को दे दो :
यह दीप, अकेला स्नेहभरा
है गर्व भरा
मदमाता, पर
इसको भी
पंक्ति को दे दो,

'अज्ञेय' की १९७४-७६ ई० में लिखी गई कविताओं का संग्रह 'महावृक्ष के नीचे' (१९७७) अभी हाल ही में छपा है जिसमें ४२ छोटी कविताएँ हैं और जिन पर सामयिकता की छाप होते हुए भी 'अज्ञेय' के चिरपरिचित व्यक्तित्व की छाप है। किन्तु एक अन्य कवि का कथन है :

....बरसती दृष्टि के उस छोर तक अविराम
जाड़ों की उजागर गुनगुनी-सी घाम....
रुको..... प्रिय.....

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्रान्ति की इस अरौंदी छाया-तले
भूल जाएँ कुछ क्षणों को हम हृदय के भार,
सभ्यता की परिष्कृति से दूर
आओ, हम बनें इस शान्ति के दो नए साझीदार'

कुछ-कुछ अमरीकी साहित्य के 'फ्रन्टियर हीरो' की भाँति उद्गार होते हुए भी इन पंक्तियों में दृढ़ता, निश्चितता और सर्जनात्मक दृष्टिकोण नहीं है। एक तीसरा कवि जीवन के प्रति अपना 'निस्पन्द' दृष्टिकोण इस प्रकार प्रकट करता है :

(बिजली के) पंखे का वृत्त
मानो जीवन का वृत्त)
टँगा-अड़ा।
छोटे स्क्रू के आधार पर।
छूटा तो गिरा
गिरा तो चकनाचूर
हॉस्पिटल का 'केबिन'
लोहे का पलंग
लचकदार, गद्दीदार।
टेबल पर शीशियाँ
'स्ट्रेप्टोमाइसीन' इन्जेक्शन
पंखे के वृत्त में
उड़ता....उड़ता यह 'मेरा' वृत्त !'

नवीन सामाजिक चेतना और मध्यमवर्गीय कटु अतृप्ति के साथ-साथ बौद्धिकता ने कवियों के संवेदनशील मन को झंकृत किया है और जैसा कि 'अज्ञेय' ने अपनी भूमिका में लिखा—'उनमें मतैक्य नहीं है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य-वस्तु और शैली के छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकृत नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। किन्तु 'अन्वेषी का दृष्टिकोण' उन्हें समानता के सूत्र में बाँध देता है। उन सबमें अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति असन्तोष और नए मार्ग की खोज है। उन्होंने परम्परागत भाषा, शैली और विषय के स्थान पर नई भाषा, शैली और नए विषयों को साहित्य में स्थान दिया है। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के प्रति प्रतिक्रिया के कारण और नवीन, स्पष्ट मार्ग के अभाव के कारण उनके मन में अनेक उलझनें पैदा हो गईं। छायावाद-रहस्यवाद ने व्यक्ति की स्थापना की, और वह भी क्षयग्रस्त व्यक्ति की, उसमें समाज का कोई स्थान नहीं था। प्रगतिवाद में व्यक्ति को बिल्कुल मिटा दिया गया और समाज को प्रधानता दी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गई। आधुनिकतम कविता में व्यक्ति को काव्य-चेतना का केन्द्र बनाया गया—ऐसे व्यक्ति को नहीं, जो अस्वस्थ प्रवृत्तियों का घर है और जो बैठा-बैठा रोता रहता है। कवि एक ऐसा व्यक्ति स्थापित करना चाहता है जो समाज की कुरूपताओं, कलुषताओं, रूढ़ियों और खोखली परम्पराओं के प्रति विद्रोह करता है और स्वस्थ सामाजिक जीवन-दर्शन की खोज और उसके अनुरूप इतिहास-निर्माण की चेष्टा करता है। आज व्यक्ति और समाज के एकीकरण की चेष्टा की जा रही है—उसमें स्वस्थ व्यक्ति का समाजीकरण किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के कारण उत्पन्न भीषण परिस्थितियों के बीच वह व्यक्ति को बचाना चाहता है, किन्तु ऐसे व्यक्ति को जिसमें समाज की सारी प्रगतिशील शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो गई हों। वह सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहना चाहता है। वर्तमान कवि मार्क्सवाद में विश्वास रख सकता है, किन्तु वह कविता को एक राजनीतिक खूंटे से बाँधने के लिए तैयार नहीं। प्रत्येक कवि की दृष्टि में सामाजिक यथार्थ का अलग-अलग रूप हो सकता है। उनकी दृष्टि भविष्य पर लगी हुई है और जीवन की संघर्षजन्य कटुताओं के बीच भी वह मानवोन्मुख है :

'आज दुनिया के करोड़ों आदमी
सह रहे हैं धूप, सरदी, औ' नमी
जिन्दगी का एक भी साधन नहीं
उम्र तपती धूप है, सावन नहीं

●

आदमी का मिट गया सम्मान है
मनुजता का अब न गरिमा-गान है
वह नहीं इन्सान की है सभ्यता,
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता
मूलधन हिंसा, गुलामी सूद है
आदमी बन्दूक की बारूद है

●

फिर धरा-सीता सताई जा रही
फिर असुर संस्कृति जमाई जा रही

●

है गनीमत हम न सड़कों पर गिरे
भूख रोगों से नहीं अब तक मरे
है यही क्या कम कि औसत उम्र से
जिन्दगी के दस बरस ज्यादा हुए।
विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य-शिव का तब हमें विश्वास है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और है विश्वास जन-कल्याण का
रंग, रस का, त्याग का बलिदान का
फिर कँटीली दृष्टि रंजित प्यार दो
आदमी की शक्ति का आधार दो
प्यार तुमसे हो, जगत् से प्यार हो
प्रेरणा यह रङ्गमय संसार हो'

—गिरिजाकुमार माथुर

अवचेतन, अर्द्धअवचेतन, दिवास्वप्नों, प्रतीकों, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक संकेतों के प्रतीकात्मक प्रयोगों द्वारा कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूति प्रकट करता है, और अपनी ओर से टीका के स्थान पर यथावत् चित्र उपस्थित कर देता है। वह अपने मन की विकृतियों और कुण्ठाओं का विश्लेषण करते हुए भी तटस्थ रहता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी उसकी यह भाव-भूमि अभी बहुत कुछ अस्पष्ट है, जिसका कारण दुरूह असफल प्रयोग हैं। छायावादी कवि अपने मन को भली-भाँति समझ न सकने के कारण अस्पष्टता का शिकार बनता था। आज का कवि अपने को समझने के साथ-साथ भविष्य के प्रति आशापूर्ण रहता है। जो स्वस्थ-चित्त कवि हैं, वे व्यापक सत्य की अभिव्यंजना करने की चेष्टा करते हैं, सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक रहते हैं। 'अज्ञेय' ने भी लिखा है—'व्यक्ति का जो अनुभव है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है, जो प्रगतिशीलता को ललकारती है।' वास्तव में आधुनिक कविता का साधारणीकरण होना ही उसकी सफलता होगी, नहीं तो वह वैयक्तिक कुण्ठाबद्ध शैली मात्र रह जाएगी।

जहाँ एक ओर आधुनिक कवियों ने समाज, धर्म, प्रचलित नैतिक मानदण्डों और आचार-विचारों के प्रति विद्रोह किया, वहाँ दूसरी ओर साहित्य की प्रचलित परम्पराओं का भी उन्मूलन कर उसके स्थान पर नवीन शब्दों, छन्दों, उपमानों, प्रतीकों आदि का प्रयोग किया। नवीन भावों के लिए नवीन भाषा भी चाहिए। यही कारण है कि अभी उसमें स्पष्टता-अस्पष्टता का मिश्रण है। वैसे इन कवियों की भाषा सरल और छोटे-छोटे वाक्यों, सुबोध तथा प्रचलित शब्दों, यहाँ तक कि अँगरेजी शब्दों, मुहावरों और कहावतों आदि से पूर्ण होती है। भाषा, भाव और संगीतात्मकता की दृष्टि से कवियों ने ग्राम-गीतों या लोक-गीतों का प्रभाव स्वीकार किया है। कुछ उदाहरण देखिए :—

तुम—,
जिसके बालों में बनावटी 'कर्ल्स' नहीं हैं
जिसकी आँखों में न गहरी चटक शोखी है;
थर्मामीटर के पारे-सी
चुपचाप जिसमें भावनाएँ चढ़ती-उतरती हैं;
अखंड कीर्तन की
थकी हुई अस्पष्ट धुन-सी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसकी जिंदगी है;
समझ में न आनेवाली
अटपटी भाषा के किसी लोकगीत के
मधुर चढ़ाव-उतार-सा
जिसका हर काम है;
अपने सपनों की सुई तले
किसी रेकार्ड-सी
जो स्वयं घूमती है, गाती है;
जिसकी जवानी
खुद जिसके लिये क्लोरोफ़ार्म का
एक मीठा नींद-भरा हल्का झोंका है'....

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

●

'टेर रही प्रिया तुम कहाँ
किसकी यह छाँह और किसके ये गीत रे
बरगद की छाँह और चैता के गीत रे
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ
किसके ये काँटे हैं, किसके ये पात रे
बेरी के काँटे हैं, केले के पात रे
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ
कौन से टिकोरे ये, किसके ये फूल रे
आम के टिकोरे ये, महुए के फूल रे
बिरम गए पिया तुम कहाँ
किसकी ये आँखें हैं, किसकी ये रात रे
बिरहिन की आँखें हैं, मानव की रात रे
बुझता यह दिया, तुम कहाँ
टेर रही प्रिया तुम कहाँ'

—शम्भूनाथ सिंह

इन अवतरणों में परम्परा से अलग नवीन साँचे में ढली भाषा, नवीन प्रतीक और लोक-गीतों का प्रभाव सरलतापूर्वक देखा जा सकता है, क्योंकि आधुनिकतम कवियों ने नये भाव, नई भाषा, नये प्रतीक, नये छन्द आदि दिए हैं। क्योंकि उन्होंने कविता के रूप-विधान की ओर अधिक ध्यान दिया है, इसीलिए कुछ लोगों ने उसे 'रूढ़िवाद' के नाम से पुकारा है। इस प्रकार की कविताओं में अपना सौन्दर्य है, अपनी निजी संवेदनशीलता है—विशेषतः प्रकृति और प्रणय-सम्बन्धी अनुभूतियों की दृष्टि से।

वर्तमान कविता को लेकर आजकल काफ़ी आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है। किन्तु इस सम्बन्ध में झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में, जैसा पहले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi